



शान्तिभिक्षु शास्त्री प्रणीत बुद्धविजयकाव्य का
धार्मिक एवं दार्शनिक अध्ययन
**RELIGIOUS AND PHILOSOPHICAL STUDY OF
BUDDHAVIJAYAKAVYA COMPOSED BY
SHANTI BHIKSHU SHASTRI**

SUMMARY

THESIS

SUBMITTED FOR THE AWARD OF THE DEGREE OF

Doctor of Philosophy

IN

SANSKRIT

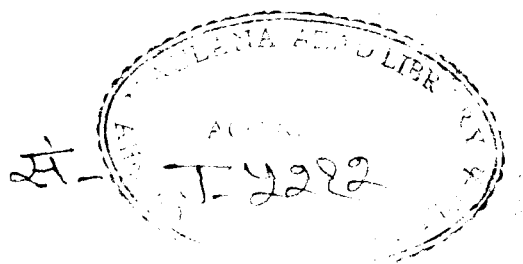
BY

Km. PADMA DEVI

Under the Supervision of
Dr. S. D. Kaushik

DEPARTMENT OF SANSKRIT
ALIGARH MUSLIM UNIVERSITY
ALIGARH (INDIA)

1998



30 DEC 1999

19

बुद्धविजयकाव्य का धार्मिक एवं दार्शनिक अध्ययन

बौद्ध साहित्य का विशाल भण्डार है । इस साहित्य में ग्रन्थ-प्रणयन की परम्परा आज भी अनवरत रूप से चल रही है । संस्कृत के विद्वान् तथागत के जीवन एवं उपदेश को आधार बनाकर काव्यमय रचना कर रहे हैं । इन ग्रन्थों के प्रणयन से जहाँ संस्कृत साहित्य की अभिवृद्धि हुई है, वहीं दूसरी ओर बौद्ध धर्म के सिद्धान्तों एवं मन्तव्यों को विद्वत्समाज के समक्ष उजागर करना भी ग्रन्थकर्ताओं का उद्देश्य रहा है । इसके अतिरिक्त देववाणी संस्कृत में ग्रन्थों का प्रणयन ग्रन्थ-प्रणेताओं की भगवान् तथागत के प्रति अतिशय श्रद्धा को भी प्रकट करता है । बौद्ध सिद्धान्तों एवं मन्तव्यों को आधार बनाकर कुछ महाकाव्यों की रचना आज भी हो रही है । इसी परम्परा में आचार्य शान्ति भिक्षु शास्त्री प्रणीत 'बुद्धविजयकाव्य' भी एक है । यह काव्य महाकाव्य के सभी लक्षणों से उपेत है । प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध में इसी काव्य का 'धार्मिक एवं दार्शनिक अध्ययन' प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है—

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध में आठ अध्याय हैं । 'विषय-प्रवेश' नामक प्रथम अध्याय है जिसमें धर्मचक्रप्रवर्तन की परम्पराओं का उल्लेख करते हुए बौद्ध वाङ्मय की विशेषताएँ बतायी गयी हैं । इसके अतिरिक्त आधुनिक बौद्ध संस्कृत महाकाव्यों की चर्चा कर बुद्धविजयकाव्य को मार का मर्दक, बोधिचित्तोपादक तथा भवतारक बताया गया है ।

'बुद्धविजयकाव्य' का परिचयात्मक अध्ययन ' नामक द्वितीय अध्याय है जिसमें सर्वप्रथम आलोच्य ग्रन्थ की कथावस्तु का संक्षिप्त विवेचन किया गया है । सकल काव्य सौ सर्गों में निबद्ध किया है तथा पूर्वार्द्ध एवं उत्तरार्द्ध नाम से दो भागों में विभक्त है । प्रत्येक भाग में पचास-पचास सर्ग हैं । तदनन्तर काव्यशास्त्रियों द्वारा निर्धारित महाकाव्य के लक्षण पर प्रस्तुत आलोच्य ग्रन्थ को महाकाव्य सिद्ध किया गया है । प्रस्तुत महाकाव्य के प्रणेता आचार्य शान्ति भिक्षु शास्त्री के व्यक्तित्व एवं कृतित्व का वर्णन कर ग्रन्थ-प्रणयन के प्रयोजन का भी विवेचन किया गया है । आचार्य मम्मट द्वारा प्रतिपादित काव्य के लक्षण के आधार पर प्रस्तुत आलोच्य ग्रन्थ के प्रणयन का प्रयोजन स्पष्ट किया है । अध्याय के अन्त में ग्रन्थ के वैशिष्ट्य का प्रतिपादन किया गया है ।

" बुद्धविजयकाव्य ' में वर्णित गौतमबुद्ध की जीवन चर्या " नामक तृतीय अध्याय है । इसके अन्तर्गत तथागत का अलौकिक जन्म, महर्षि असित की भविष्यवाणी, नामकरण महोत्सव, विद्याग्रहण एवं विवाह, अन्तःपुर विहार, निमित्त दर्शन, वन-विहार, महाभिनिष्क्रमण, तपश्चर्या एवं बुद्धत्व प्राप्ति, धर्मोपदेश, धर्मप्रचार एवं महापरिनिर्वाण आदि भिन्न-भिन्न घटनाओं का ग्रन्थानुसार विस्तार के साथ वर्णन किया गया है । कवि ने तथागत के दिव्य एवं मानवीय रूपों का अति मनोहारी एवं प्रभावोत्पादक वर्णन किया है । इसी अध्याय के अन्तर्गत ग्रन्थकर्ता ने यशोधरा के उपेक्षित चरित्र को जिस प्रकार उजागर किया है, वह श्लाघनीय है । इसके अतिरिक्त प्रस्तुत आलोच्य ग्रन्थ में वर्णित जीवन चर्या का बौद्ध ग्रन्थ ललितविस्तर एवं बुद्धचरित से साम्य तथा वैषम्य भी दर्शाया गया है ।

' धार्मिक विश्वास ' नामक चतुर्थ अध्याय है । इसमें चार आर्य-सत्यों की विस्तार से चर्चा की गयी है । भगवान् बुद्ध ने मानव कल्याण के लिए ही इन आर्यसत्त्यों का उपदेश दिया । वे इस संसार में आवाममन का कारण इन आर्यसत्त्यों के ज्ञान के अभाव को स्वीकार करते हैं । ' दीघनिकाय ' में इसी भाव को व्यक्त करते हुये वे कहते हैं कि—

" चतुन्नं भिक्खवे । अरियसच्चानं अननुबोधा अप्पटिवेधा एवमिदं दीघमद्धानं

सन्धावितं संसरितं ममञ्चेव तुम्हाकञ्च । "

तदनन्तर षट् पारमिताओं का वर्णन है । बोधिसत्त्व की साधना स्वरूप इन पारमिताओं का वर्णन प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध में आख्यानो के माध्यम से किया गया है । इसके अतिरिक्त ब्रह्म विहारों का वर्णन भी प्रस्तुत अध्याय के अन्तर्गत किया गया है । मैत्री, करुणा, मुदिता एवं उपेक्षा ये चार चित्त की विशेष अवस्थाएँ हैं । बोधिसत्त्व की इन चित्त भावनाओं को ही ब्रह्म विहार अथवा अप्रमाण नाम से जाना जाता है । ग्रन्थकार आचार्य शान्तिभिक्षु शास्त्री ने इन ब्रह्म विहारों का आश्रय ग्रहण करने वालों को चारधर्मावाले चतुर्मुख ब्रह्मा की संज्ञा प्रदान की है—

" पुण्यो ब्रह्मविहाराणमेतेषामाश्रयो महान् ।

चतुर्धर्ममयो ब्रह्मा चतुर्मुख उदीरितः ।। "

इसके अतिरिक्त त्रिशरण (बुद्धं सरणं गच्छामि, धम्मं सरणं गच्छामि, संघं सरणं गच्छामि) का वर्णन

कर बुद्ध, धर्म एवं संघ को उत्तम शरण माना गया है। तदनन्तर बौद्ध धर्म को कल्याणकारी धर्म स्वीकार किया गया है। स्वयं को पाप से बचाना, पुण्य की ओर अग्रसर होना तथा चित्त को सभी दूषित वृत्तियों से रोकना ही सर्वोत्तम कल्याण है। बौद्ध धर्म में आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार न करते हुये भी पुनर्जन्म के सिद्धान्त को स्वीकार किया गया है। तथागत ने इस पुनर्जन्म का कारण कर्म को स्वीकार किया है क्योंकि प्राणियों को कर्मानुसार ही सुगति अथवा दुर्गति प्राप्त होती है। इसी कर्म एवं पुनर्जन्म के सिद्धान्त की व्याख्या प्रस्तुत अध्याय के अन्त में कर दी गयी है।

'दार्शनिक सिद्धान्त एवं शिक्षाएँ' नामक पञ्चम अध्याय है। इस अध्याय को दो भागों में विभाजित किया गया है। 'दार्शनिक सिद्धान्त' नामक प्रथम भाग के अन्तर्गत बौद्ध धर्म के मूलाधार दार्शनिक सिद्धान्तों का वर्णन किया गया है। इसमें सर्वप्रथम 'कार्य-कारण' सिद्धान्त वाले प्रतीत्य समुत्पाद के सिद्धान्त का वर्णन किया गया है। इसके द्वादश निदानों द्वारा, मानव जीवन के तीनों जन्मों को लेकर भव-चक्र की व्याख्या की गयी है तथा ग्रन्थानुसार इनकी सम्पुष्टि भी कर दी गयी है। तदनन्तर बौद्ध दर्शन की आधारभित्ति 'सर्वम् अनित्यम्' इस सिद्धान्त का वर्णन किया गया है। भगवान् बुद्ध ने अपने उपदेशों में मनुष्यों को सदैव ही अनित्यता का स्मरण कराया है। तथागत ने इस जीवन को पानी के बुलबुले एवं मृगमरीचिका के समान सारहीन तथा कुम्भकार निर्मित मिट्टी के बर्तन के समान अनित्य माना है। बौद्ध धर्म में यद्यपि आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार नहीं किया गया है परन्तु मानसिक वृत्तियों की स्थिति को उसने स्वीकार किया है। पुद्गल अर्थात् जीव, रूप, विज्ञान, वेदना, संज्ञा एवं संस्कार इन पञ्चस्कन्धों का संघात मात्र है। इन पञ्चस्कन्धों की चर्चा भी यहाँ सविस्तार की गयी है। तदनन्तर ग्रन्थानुसार निर्वाण को परिभाषित करते हुये उसके भाव, अभाव और अनिर्वचनीय रूपों का वर्णन किया गया है। यहाँ इसकी सोपाधिशेष तथा अनुपाधिशेष अवस्थाओं का भी उल्लेख है। इसके साथ ही निर्वाणाभिप्सु साधक की चारों अवस्थाओं का ग्रन्थानुसार विशद वर्णन किया गया है। अन्त में मौन के महत्त्व का प्रतिपादन है।

अध्याय का दूसरा भाग 'दार्शनिक शिक्षाएँ' हैं जिसके अन्तर्गत किंसा गौतमी, राजा बिम्बसार की पत्नी क्षेमा तथा पेशस्कार सुता को अनित्यता का उपदेश है। तदनन्तर इन्द्र, कृषि भारद्वाज, नागराज, डाकू, अंगुलिमाल एवं यक्षों के लिए निर्वाण सम्बन्धी उपदेश है। अध्याय के अन्त में तीस भद्रवर्णीय कुमारों को

आत्म-गवेषणा सम्बन्धी उपदेश है ।

" बुद्ध का नैतिक एवं सामाजिक दर्शन " नामक षष्ठ अध्याय है । इसमें तथागत की समस्त नैतिक शिक्षाओं का समावेश है । भगवान् बुद्ध ने जीवन के अभ्युदय के लिये पञ्चशील का उपदेश दिया है । वे हैं—प्राणातिपात-विरति, अदत्तादान-विरति, काम-मिथ्याचार -विरति, मृषावाद-विरति तथा सुरा-मय-विरति । बौद्ध साहित्य में कहीं-कहीं अष्टशीलों एवं दसशीलों का भी वर्णन प्रस्तुत होता है । भगवान् बुद्ध ने यज्ञीय हिंसा के विरोध के साथ-साथ मांस-भक्षण का भी विरोध किया । प्रस्तुत आलोच्य ग्रन्थ में ग्रन्थकार ने मांस-भक्षण करने वालों को अति निन्दनीय माना है तथा उन्हें स्वजन का ही भक्षण करने वाला कहा है—

" मांसस्य भक्षणं तस्मात्स्वजनस्यैव भक्षणम् ।

ततो न भक्षयन्त्यत्र मांसं धर्मपरायणा ।। "

इसके अतिरिक्त अपरिग्रह का वर्णन भी प्रस्तुत अध्याय के अन्तर्गत किया गया है । तथागत ने परिग्रह को ही हिंसा का प्रमुख कारण स्वीकार किया है । ग्रन्थकार ने भी आवश्यकता से अधिक संचय करने वालों की निन्दा की है । भगवान् बुद्ध ने मनुष्यों की मनसा, वाचा, कर्मणा, स्वतन्त्रता पर बल दिया क्योंकि परतन्त्रता सर्वथा दुःखदायी होती है । तथागत के इन उपदेशों को 'स्वतन्त्रता एवं स्वालम्बन' के अन्तर्गत वर्णन किया गया है । इसके अतिरिक्त भगवान् बुद्ध ने समाज में व्याप्त जन्मना जातिवाद की कुरीति की भर्त्सना की है । बौद्ध धर्म में सभी मनुष्य समान हैं, ऊँच-नीच का कोई भेद नहीं है । तथागत के अनुसार उच्च जाति में जन्म लेने से कोई भी प्राणी उच्च नहीं होता अपितु अपने सत्कर्मों द्वारा ही वह महान होता है । बुद्ध ने अपने जातिगत विचारों को स्वयं व्यवहार रूप में अपनाया है । उन्होंने सभी धर्म, सम्प्रदायों, वर्ण एवं जाति के मनुष्यों को संघ में प्रवेश दिया था । तथागत को समानाधिकार की स्थापना में अग्रगण्य स्वीकार किया जाता है । जातिवाद रूपी विष के शमन के लिए बुद्धोपदेश एक अचूक औषध है । अध्याय के अन्त में रोगी परिचर्या एवं सेवाभाव के महत्त्व का प्रतिपादन भी किया गया है ।

"बौद्ध योग साधना " नामक सप्तम अध्याय है । इसके अन्तर्गत सर्वप्रथम 'योग' शब्द की व्युत्पत्ति डॉ. सुरेन्द्रनाथ दास गुप्ता के अनुसार की गई है । पालि ग्रन्थों में 'योग' शब्द 'अभ्यास' एवं 'प्रयत्न' के अर्थ में भी प्रयुक्त हुआ है । सैद्धान्तिक एवं आचारिक मतभेद होते हुए भी सभी दर्शनों में एक सार्वभौम योग

मार्ग की व्याप्ति देखी जा सकती है । योग अध्यात्म विद्या का अन्तरंग साधन है और उसकी परम्परा ही भारतीय आध्यात्मिकता का वास्तविक इतिहास है । कुछ विचारकों ने तथागत को 'प्रथम योगी' स्वीकार किया है । तदनन्तर पालि साहित्य में वर्णित चालीस कम्मदृष्टानों का उल्लेख भी प्रस्तुत अध्याय में किया गया है । इसके अतिरिक्त रूपावचर एवं अरूपावचर भेद वाले आठों ध्यानों का वर्णन भी विस्तार से किया है । इन ध्यानों को परिभाषित करते हुए उनको ग्रन्थ के अनुसार प्रस्तुत किया गया है । अध्याय के अन्त में बौद्ध साधना पथ के तीन आनुक्रमिक चरण शील, समाधि एवं प्रज्ञा का विस्तृत वर्णन किया गया है । इसमें शील को निर्वाण प्राप्ति की आधार भित्ति स्वीकार किया गया है । इन तीनों चरणों का अनुगमन करके ही मानव अपनी सम्पूर्ण तृष्णा का उच्छेद कर निर्वाण लाभी हो जाता है । भगवान् बुद्ध ने उचित ही कहा है—

" सीले पतिट्ठाय नरो सपज्जो, चित्तं पज्जं च भावयं ।

आतापी निपको भिक्खु, सो इमं विजय्ये जटं 'ति ।। "

" बुद्धविजयकाव्य पर महायान का प्रभाव " नामक अष्टम अध्याय है । यद्यपि आलोच्य ग्रन्थ हीनयानी है तथापि वह महायान से प्रभावित है । ग्रन्थकार को महायान के अन्तर्गत 'बोधिसत्त्व के आदर्श' ने बहुत अधिक प्रभावित किया है । यह महायान की सर्वप्रमुख विशेषता है तथा इस आदर्श ने प्राचीनअर्हत् धर्म के आदर्श को हटाकर लोक में एक नवीन प्रेरणात्मक धार्मिक आदर्श की स्थापना की । अर्हत् जहाँ केवल अपने ही क्लेशों से मुक्ति पाना चाहता है, वहीं बोधिसत्त्व अपनी साधना का सारा फल प्राणियों के दुःख दूर करने के लिए अर्पण कर देता है । अर्हत् केवल स्वयं की निर्वाण प्राप्ति के लिए ही प्रयत्न करता है । इसके विपरीत बोधिसत्त्व संसार के सभी प्राणियों की निर्वाण प्राप्ति के पश्चात् ही अपने निर्वाण को प्राप्त करना चाहता है । महाकारुणिक बोधिसत्त्व स्वार्थसाधन को महत्त्व न देकर परहित को सर्वोच्च मानता है । बोधिसत्त्व की दृष्टि अपने और पराये के प्रति समान है , उसे अपने से अधिक चिन्ता दुःखी एवं व्याकुल प्राणियों की है—

" एवं सर्वमिदं कृत्वा यन्मयासादितं शुभम् ।

तेन स्यां सर्वसत्त्वानां सर्वदुःखप्रशान्तिकृत् ।।

इस बोधिसत्त्व पद की प्राप्ति के लिए बोधिचर्या का विधान किया गया है तथा बोधिचर्या के लिए

बोधिचित्त की उत्पत्ति को आवश्यक माना गया है । प्रस्तुत अध्याय के अन्तर्गत बोधिचित्त को परिभाषित करते हुए उसके महत्त्व का प्रतिपादन किया गया है । बोधिचित्त की उत्पत्ति के लिए सप्तविध अनुत्तर पूजा का विधान किया गया है । इसकी विस्तार से चर्चा ग्रन्थानुसार ससन्दर्भ की गयी है । बोधिचित्त उत्पन्न होने पर साधक को बोधिव्रत ग्रहण करना चाहिये । अध्याय के अन्त में बोधिव्रती के गुण एवं बोधिव्रत के महत्त्व का प्रतिपादन है ।

शोध-प्रबन्ध के अन्त में 'उपसंहार ' विवेचित है । इसके अन्तर्गत समस्त प्रबन्ध का निचोड़ प्रस्तुत किया गया है ।

* * *



शान्तिभिक्षु शास्त्री प्रणीत बुद्धविजयकाव्य का
धार्मिक एवं दार्शनिक अध्ययन

RELIGIOUS AND PHILOSOPHICAL STUDY OF
BUDDHAVIJAYAKAVYA COMPOSED BY
SHANTI BHIKSHU SHASTRI

THESIS

SUBMITTED FOR THE AWARD OF THE DEGREE OF

Doctor of Philosophy

IN

SANSKRIT

BY

Km. PADMA DEVI

Under the Supervision of

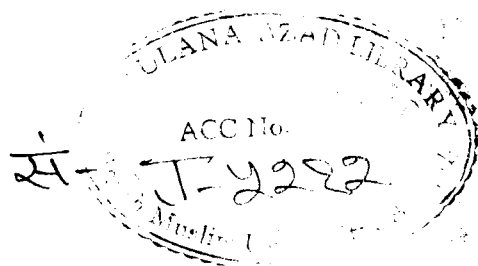
Dr. S. D. Kaushik

DEPARTMENT OF SANSKRIT
ALIGARH MUSLIM UNIVERSITY
ALIGARH (INDIA)

1998



T5212



CHECKED-2002

30 DEC 1999

Dr. S.D. Kaushik
Department of Sanskrit
Aligarh Muslim University
Aligarh.

CERTIFICATE

I feel pleasure to certify that the thesis entitled
' Religious and Philosophical Study of Buddhavijayakavya
Composed by Shanti Bhikshu Shastri ' submitted by
' Km. PADAMA DEVI' is an original work of her own. She has
carried out this work under my supervision. She has fulfilled
all necessary formalities including attendance etc. and being
fully satisfied. I permit herto submit the thesis for the
award of the degree of the Doctor of Philosophy in Sanskrit.

S.D. Kaushik 17/12/98
[Dr. S. D. Kaushik)
Supervisor,

Forwarded
17/12/98
CHAIRMAN
Department of Sanskrit
Aligarh Muslim University
ALIGARH 17/12/98

भूमिका

बौद्ध धर्म विश्व धर्म है । बौद्ध मतावलम्बी विश्व के अधिकांश भागों में फैले हुए है । ऐसे विश्वव्यापी धर्म के विषय में उत्सुकता होना स्वाभाविक ही है । मैंने आचार्य राहुल सांकृत्यायन कृत 'धम्मपद' का हिन्दी-अनुवाद पढ़ा । इस ग्रन्थ में जहाँ बुद्ध ने जन्मना जातिवाद का खण्डन किया है वहीं इसकी प्रत्येक गाथा पर मनन करने से पता चलता है कि मानवता की भलाई के लिए ही बुद्ध ने अपने उपदेश दिये थे । यह ग्रन्थ मानव-मूल्यों की निधि है । इसके अनन्तर 'दीघनिकाय' के 'कूटदन्त सुत्त' का अध्ययन करने से पता चला कि बद्ध यज्ञीय हिंसा और उस पर व्यय की गई धनराशि के विरोधी थे । बुद्ध ने वर्ण-व्यवस्था, यज्ञीय हिंसा, कर्मकाण्ड, जातिवाद तथा तात्कालिक समाज में प्रचलित अन्धविश्वासों का घोर विरोध किया क्योंकि इन कुप्रथाओं से जनकल्याण की भलाई किसी प्रकार सम्भव नहीं है । इन सभी के विरोध के कारण ही बौद्ध धर्म का उदय हुआ । व्यावहारिक धर्म की जन्माकाक्षा को भगवान् बुद्ध ने पहचाना और उसे एक सरल, सुगम, सुबोध, व्यावहारिक, बौद्धिक, उलझनों से रहित, हृदय एवं मस्तिष्क को सन्तुष्ट कर देने वाला एक सार्थक धर्म प्रदान किया । अपनी इन्हीं विशेषताओं के कारण यह धर्म शीघ्र ही विश्व धर्म के रूप में स्थापित हो गया । यह धर्म यद्यपि तिब्बत, नेपाल, चीन, जापान, लंका, वर्मा आदि सुदूर देशों तक फैला परन्तु भारत इस धर्म की जन्मभूमि रहा है ।

ऐसे शान्त एवं विस्तृत बौद्ध धर्म रूपी सागर में डुबकी लगाकर कुछ ज्ञान रूपी मोती चुन लाने की जिज्ञासा शोधार्थिनी के मन-मस्तिष्क में प्रदीप्त हुई । इस जिज्ञासा के शमनार्थ बौद्ध धर्म के पालि एवं संस्कृत भाषा में निबद्ध ग्रन्थों का अध्ययन किया गया । एम.ए. संस्कृत की उपाधि प्राप्त कर लेने पर बौद्ध धर्म का कोई विषय लेकर शोध-कार्य करने का मन बनाया । इसके लिये शोधार्थिनी ने परम श्रद्धेय, संस्कृत भाषा में रीडर, डॉ. सत्यदेव कौशिक से सम्पर्क किया । उन्होंने बौद्ध धर्म पर अनेक विषय सुझाए जिसमें 'आचार्य ज्ञान्ति भिक्षु प्रणीत बुद्धविजयकाव्य का धार्मिक एवं दार्शनिक अध्ययन' भी एक था । तब इस विषय पर पी-एच.डी. उपाधि हेतु शोध कार्य करने का शोधार्थिनी ने निश्चय किया । पञ्जीकरण के अनन्तर आदरणीय डॉ. सत्यदेव कौशिक के अधीनस्थ शोध कार्य प्रारम्भ कर दिया गया ।

आधुनिक महाकाव्य- 'बुद्धविजयकाव्य' में यद्यपि सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक, दार्शनिक, नैतिक आदि

विभिन्न पक्षों का सम्यक् विवेचन है तथापि प्रस्तुत शोध ग्रन्थ का विषय 'बुद्धविजयकाव्य' का धार्मिक एवं दार्शनिक अध्ययन' मुख्यतः अभिप्रेत है। आधुनिक काल में संस्कृत-भाषा में निबद्ध बौद्ध-ग्रन्थों में यह अनुपम एवं प्रभावी है। विद्वान् लेखक द्वारा अति सरल एवं हृदयंगम भाषा में प्रस्तुत ग्रन्थ का प्रणयन किया गया है। इसमें भगवान् बुद्ध के उपदेशों एवं दर्शन शैली को अति मनोरम ढंग से प्रस्तुत किया गया है। जन्म से प्रारम्भ होकर अभिनेष्टक्रमण, बुद्धत्व-प्राप्ति, धर्मचक्रप्रवर्तन, निर्वाण आदि विभिन्न घटनाओं का सौ सर्गों में वर्णन किया गया है। 'बुद्धविजयकाव्य' अभी तक सम्भवतः समीक्षकों के दृष्टिपथ से ओझल ही रहा है। इसका प्रकाशन सन् 1974 ई. में हुआ एवं भारत सरकार द्वारा स्थापित स्वायत्त संस्था 'साहित्य अकादमी' द्वारा सन् 1977 ई. में इसे सम्मानित किया जा चुका है। प्रस्तुत ग्रन्थ को आधार बनाकर इसका धार्मिक एवं दार्शनिक दृष्टि से कोई शोध कार्य अद्यतन नहीं हो पाया है। अतः इस अभाव पूर्ति हेतु 'बुद्धविजयकाव्य का धार्मिक एवं दार्शनिक अध्ययन' प्रस्तुत करने के लिए 'अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय' में 'संस्कृत विभाग' में पालि में रीडर डॉ. सत्यदेव कौशिक के मार्ग-दर्शन में शोध कार्य प्रारम्भ किया गया।

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध में आठ अध्याय हैं। प्रथम अध्याय 'विषय-प्रवेश' है, जिसमें 'धर्मचक्रप्रवर्तन' की परम्पराओं का उल्लेख करते हुये आधुनिक बौद्ध संस्कृत महाकाव्यों की संक्षिप्त चर्चा प्रस्तुत की गयी है।

'बुद्धविजयकाव्य का परिचयात्मक अध्ययन' नामक द्वितीय अध्याय है जिसमें ग्रन्थ के सौ सर्गों का सार संक्षिप्त रूप में प्रस्तुत किया गया है। तदनन्तर ग्रन्थ के महाकाव्यत्व को सिद्ध करते हुए, ग्रन्थकार के व्यक्तित्व एवं कृतित्व का वर्णन है। इसके अतिरिक्त ग्रन्थ-प्रणयन के प्रयोजन को स्पष्ट करते हुये, अध्याय के अन्त में ग्रन्थ की मौलिकता एवं वैशिष्ट्य का भी प्रतिपादन किया गया है।

'बुद्धविजयकाव्य में वर्णित गौतम बुद्ध की जीवन चर्या' नामक तृतीय अध्याय है। इस अध्याय के अन्तर्गत भगवान् बुद्ध के अलौकिक जन्म से लेकर महापरिनिर्वाण तक की जीवन-चर्या का वर्णन है।

'धार्मिक विश्वास' नामक चतुर्थ अध्याय है। इस अध्याय के अन्तर्गत चार आर्य सत्य, षट् पारमिता, चार ब्रह्मविहार, त्रिशरण (बुद्ध, धर्म एवं संघ) का विस्तृत वर्णन किया गया है। तदनन्तर पाप-निवृत्ति, पुण्य-प्रवृत्ति एवं चित्तशुद्धि से उपेत त्रिकल्याण धर्म की भी चर्चा की गयी है। इसके अतिरिक्त कर्म एवं पुर्नजन्म का विविध आख्यानो के माध्यम से वर्णन किया गया है।

'दार्शनिक सिद्धान्त एवं शिक्षाएँ' नामक पञ्चम अध्याय है। यह अध्याय दो भागों में विभक्त है। प्रथम भाग में प्रतीत्यसमुत्पाद, अनित्यता, अनात्मवाद, पञ्चस्कन्ध एवं निर्वाण की ग्रन्थानुसार विशद व्याख्या की गयी है। इसके अतिरिक्त मौनेय पद के महत्त्व का प्रतिपादन भी इसी अध्याय में कर दिया गया है। दूसरे भाग में तथागत की दार्शनिक शिक्षाओं का समावेश किया गया है। इसमें भगवान् तथागत का किसान गौतमी, डाकू अंगुलिमाल, राजा बिम्बसार की पत्नी क्षेमा तथा पेशस्कार सुता को उपदेश है। वहीं इन्द्र, कृषि भारद्वाज, नागराज एवं यक्षों को भी उपदेश का वर्णन है। यहाँ यह सिद्ध किया गया है कि बुद्ध के द्वारा प्रदत्त ये सभी उपदेश निर्वाण-परायण एवं निर्वाणोन्मुख हैं।

'बुद्ध का नैतिक एवं सामाजिक दर्शन' नामक षष्ठम अध्याय है। पञ्चशील, अपरिग्रह, मांस-भक्षण की निन्दा, स्वतन्त्रता एवं स्वावलम्बन, जातिवाद का विरोध तथा रोगी की सेवा सम्बन्धी उपदेशों को प्रस्तुत अध्याय के अन्तर्गत समाविष्ट किया गया है। इसके साथ ही अन्य बौद्ध-ग्रन्थों का सन्दर्भ देते हुए समाज में इन उपदेशों की प्रासंगिकता को स्पष्ट किया गया है।

'बौद्ध योग साधना' नामक सप्तम अध्याय है। इस अध्याय के अन्तर्गत साधना पथ के तीन आनुक्रमिक चरण-शील, समाधि एवं प्रज्ञा का विशद विवेचन किया गया है। इसके अतिरिक्त अष्ट-समापत्ति की भी विशद चर्चा है।

'बुद्धविजयकाव्य पर महायान का प्रभाव' नामक अष्टम अध्याय है। इस अध्याय में ग्रन्थकार ने बुद्ध एवं बोधिसत्व के प्रति श्रद्धा एवं भक्तिभाव को प्रदर्शित किया है। इसके अतिरिक्त बोधिचित्तोत्पाद के लिए आवश्यक सप्त-पूजा विधान की भी विशद चर्चा की गयी है।

अन्त में शोध-प्रबन्ध के निचोड़ के रूप में उपसंहार विवेचित है।

परम पूजनीय डॉ. सत्यदेव कौशिक जी ने अतिव्यस्त होते हुए भी प्रस्तुत शोध कार्य के निरीक्षण एवं मार्गदर्शन में जो सहयोग दिया है, वह निःसन्देह अविस्मरणीय है। एतदर्थ शोधार्थिनी उनकी हृदय से आभारी है।

ग्रन्थ प्रणेता की सुपुत्री 'बोधिश्री शास्त्री' ने 'साहित्य चक्रवर्ती डॉ. ज्ञान्तिभिक्षु शास्त्री' नामक पुस्तिका उपलब्ध करायी। इसके अतिरिक्त उन्होंने साक्षात्कार के रूप में ग्रन्थकर्ता के जीवन के विषय में विस्तृत

जानकारी दी । उसके लिए उनके प्रति कृतज्ञता ज्ञापन करना शोधार्थिनी अपना धर्म समझती है ।

इस शोध-प्रबन्ध के प्रणयन में भूतपूर्व संस्कृत विभागाध्यक्ष आचार्य एस.आर. शर्मा, आचार्य एवं वर्तमान विभागाध्यक्ष डॉ. सत्यप्रकाश शर्मा, डॉ. (श्रीमती) रानी मजूमदार, तथा विभागीय मित्रों के सुझाव एवं सहयोग के लिए शोधार्थिनी उनकी हृदय से आभारी है ।

प्रस्तुत शोध कार्य के लिए सामग्री संकलन हेतु दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली, पंजाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़, इन्दिरा गाँधी राष्ट्रीय कला केन्द्र, नई दिल्ली के पुस्तकालयों में जाना पड़ा । वहाँ कुछ समय के लिए अध्ययन कर सामग्री का संकलन किया गया । स्थानीय राजकीय जिला पुस्तकालय एवं मालवीय पुस्तकालय, अलीगढ़ में जाकर भी शोधार्थिनी ने ग्रन्थों का अध्ययन किया । एतदर्थ सभी पुस्तकालयाध्यक्षों एवं अधिकारियों की शोधार्थिनी अति आभारी है । मौलाना आजाद पुस्तकालय, अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय, अलीगढ़ की प्रभारी श्रीमती विजय गोविल तथा संस्कृत के संगोष्ठी पुस्तकालय की प्रभारी सुश्री नुजहत किदवाई ने शोध सम्बन्धी ग्रन्थों एवं पत्रिकाओं को उपलब्ध कराने में जो सहायता प्रदान की है उसके लिए वे भी धन्यवाद की पात्र हैं ।

इस शोध-प्रबन्ध में पिता श्री रमेश चन्द्र वाष्णीय, अग्रज भ्राता श्री गोपाल वाष्णीय एवं अनुज भगिनी कु. पिंगी वाष्णीय का अतुलनीय सहयोग रहा है । अतः सभी परिवार जनों के प्रति कृतज्ञता ज्ञापन करना शोधार्थिनी अपना धर्म समझती है ।

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध का टंकण-कार्य श्री एच.एम. त्रिपाठी ने किया है । अतः वे भी धन्यवाद के पात्र हैं ।

अल्पज्ञता एवं अवधानतावश प्रस्तुत शोध-प्रबन्धगत त्रुटियों के लिये शोधार्थिनी विद्वत्-वृन्द से क्षमाप्रार्थी है ।

Padmavati
पद्मा देवी

ग्रन्थ-प्रणेता की सुपुत्री के साथ एक साक्षात्कार

शोधार्थिनी द्वारा प्रस्तुत ग्रन्थ-प्रणेता आचार्य शान्ति भिक्षु शास्त्री की सुपुत्री श्रीमती बोधिश्री शास्त्री से उनके विषय में विस्तृत एवं गूढ़ जानकारी प्राप्त करने के लिए एक भेंट की गयी। यह भेंट उनके 'बाल इण्डिया रेडिया, नई दिल्ली स्थित सिंहली भाषा के कार्यालय में की गयी जिसमें श्रीमती बोधिश्री शास्त्री कार्यरत हैं। उनके साथ किए गए साक्षात्कार का वर्णन इस प्रकार है :

शोधार्थिनी :

सर्वप्रथम आप हमें बताएँ कि क्या ग्रन्थ-प्रणेता जन्म से ही बौद्ध थे ?

बोधिश्री शास्त्री :

नहीं, वे जन्मना बौद्ध नहीं थे, जन्मना वे ब्राह्मण थे। बौद्ध ग्रन्थों का अध्ययन करते-करते, वे भगवान् बुद्ध की शिक्षाओं से इतने अधिक प्रभावित हुए कि उन्होंने बौद्ध धर्म ग्रहण कर लिया।

शोधार्थिनी :

वे 'भिक्षु' नहीं थे, तो अपने नाम के साथ 'भिक्षु' शब्द का प्रयोग क्यों करते थे ?

बो :

यद्यपि प्रारम्भ में वे भिक्षु थे परन्तु बाद में उन्होंने गृहस्थाश्रम में प्रवेश कर लिया था। उनके नाम के साथ जो 'भिक्षु' शब्द का प्रयोग है, उसका तात्पर्य है 'भिक्षा मांगना' अर्थात् शान्ति की शिक्षा मांगने वाला।

शो :

आचार्य जी की शिक्षा-दीक्षा कहाँ हुई और उनके गुरु कौन-कौन थे ?

बो : उनके गुरुओं के विषय में तो मुझे कोई ज्ञान नहीं है। उनकी प्रारम्भिक शिक्षा बीबीपुर (उत्तर प्रदेश) में हुई और शास्त्री एवं आचार्य की शिक्षा उन्होंने जयपुर से प्राप्त की।

शो :

उनका विवाह कब हुआ ?

बो :

उनका विवाह नेपाल वासीनी सुजाता शाक्य के साथ 1953 ई. में हुआ।

श्रो0 :

अपनी माताजी की शिक्षा के सम्बन्ध में कुछ बताएँ । वे आचार्य जी को उनके कार्य में कैसे सहयोग करतीं थीं ?

बो0 :

यद्यपि माताजी ने किसी विद्यालय या विश्वविद्यालय में जाकर शिक्षा प्राप्त नहीं की थी तथापि वे गुणी थीं । वे टंकण कला में दक्ष थीं । आचार्य जी के समस्त ग्रन्थों की पाण्डुलिपियों को उन्होंने स्वयं ही टंकित किया था । आचार्य जी के समस्त कार्यों में वे अनवरत रूप से सहयोग किया करती थीं ।

श्रो0 :

वर्तमान में आपकी माताजी की आयु कितनी है तथा वे कहाँ पर हैं ?

बो0 :

माताजी इस समय 79 वर्ष की हैं । एक दुर्घटना में कूल्है की हड्डी टूट जाने के कारण वैसाखी पर चलती हैं तथा वर्तमान में वे सोलन [हिमाचल प्रदेश] में निवास कर रही हैं ।

श्रो0 :

क्या आचार्यजी ने बौद्ध धर्म के प्रभाव के कारण ही आपका नाम बोधि श्री रखा ?

बो0 :

नहीं बौद्ध धर्म के प्रभाव के कारण उन्होंने बोधिश्री नाम नहीं रखा । एक बार वे नागार्जुनी कौण्डा गये थे । वहाँ बोधिश्री और शान्तिश्री नामक दो बहिनों की विद्वता से बहुत प्रभावित हुए थे । इसलिए उन्होंने बोधिश्री नाम रखा था ।

श्रो0 :

'बुद्धविजयकाव्य' के अन्त में आचार्य जी ने आपको धन्यवाद देते हुए आपका नामोल्लेख किया है । क्या आप वास्तव में उन्हें सहयोग करतीं थीं ।

बो0 :

सहृदय पिता होने के कारण ही उन्होंने धन्यवाद दिया है । वस्तुतः ग्रन्थ-प्रणयन में मैंने कोई सहयोग

नहीं दिया है ।

श्रो0 :

आचार्य जी की आपसे क्या अपेक्षाएँ थीं ?

बो0 :

वे मुझे भी अपने समान बौद्ध धर्म दर्शन की विदुषी के रूप में देखना चाहते थे ।

श्रो0 :

आचार्य जी को तिब्बती आदि अनेक भाषाओं का ज्ञान था परन्तु ग्रन्थ-प्रणयन के लिए उन्होंने संस्कृत भाषा का ही प्रयोग क्यों किया ?

बो0 :

यद्यपि उन्हें अनेक भाषाओं का ज्ञान था परन्तु संस्कृत के प्रति उनकी विशेष अभिरुचि थी । वे संस्कृत में प्रवीण थे तथा उनके अधिकांश व्याख्यान संस्कृत में ही हुआ करते थे । अति सरल संस्कृत में निबद्ध, उनके व्याख्यानों को श्रोतागण मन्त्रमुग्ध होकर सुना करते थे । इसलिए इसी भाषा को उन्होंने अपने काव्यों का माध्यम बनाया ।

श्रो0 :

आचार्य जी ने सोलन को ही निवास हेतु क्यों चुना ?

बो0 :

सेवानिवृत्ति के पश्चात् जब वे श्री लंका से भारत आए, तब उनके एक मित्र यज्ञदत्त शर्मा ने उन्हें सोलन में रहने का परामर्श दिया । आचार्य जी को भी यह शान्त एवं सुरम्य स्थल बहुत पसन्द आया और उन्होंने वहीं निवास करने का निश्चय कर लिया ।

श्रो0 :

आचार्य जी कब और कितना अध्ययन करते थे ?

बो0 :

वे अपनी दैनिक क्रियाओं से निवृत्ति के पश्चात् सदैव ही अध्ययनरत रहते थे, कभी भी खाली नहीं

बैठते थे ।

शो0 :

उनकी मृत्यु के बारे में कुछ बताएँ ।

बो0 :

उनकी मृत्यु 15 अक्टूबर, 1991 ई. में दिल्ली स्थित मेरे ही निवास स्थान पर हुई ।

शो0 :

आचार्य जी के व्यक्तित्व की ऐसी कौन सी विशेषता थी जो सभी को अपनी ओर आकर्षित करती थी ?

बो0 :

उनके व्यक्तित्व की सर्वप्रथम विशेषता उनका सरल एवं निष्कपट स्वभाव था । वे सभी के प्रति सहृदय थे तथा उनके प्रश्नों का निष्कपट रूप से उत्तर दिया करते थे ।

.....

ग्रन्थ-संकेत-सूची

1.	अंगु. नि.	:	अंगुत्तर निकाय
2.	अ. को.	:	अमरकोश
3.	इति.	:	इतिवृत्तक
4.	उ.	:	उदान
5.	उ. कौ. प.	:	उपाय कौशल्य परिवर्त
6.	कूट. सु.	:	कूटदन्त सुत्त
7.	क. सा. सं.	:	कवीर सारङ्गी संग्रह
8.	का. द.	:	काव्यादर्श
8.	का. प्र.	:	काव्यप्रकाश
9.	का. लं.	:	काव्यालंकार
10.	का. लं. सू.	:	काव्यालंकार सूत्रवृत्ति
11.	कृ. ग्रा. प.	:	कृषि ग्राम परिवर्त
12.	खु. नि.	:	खुद्दक निकाय
13.	खु. पा.	:	खुद्दक पाठ
14.	ख. व.	:	खन्धक वग्ग
15.	गा.	:	गाथा संख्या
16.	चौ.	:	चौपाई संख्या
17.	चु. व.	:	चुल्ल वग्ग
18.	जा. मा.	:	जातक माला
19.	ज. प.	:	जन्म परिवर्त
20.	ज. प.	:	जन्म परिवर्त
21.	त्रपु. प.	:	त्रपुष-भल्लिक परिवर्त
22.	थेर.	:	थेरगाथा

23.	थेरी	:	थेरीगाथा
24.	दी.नि.	:	दीघनिकाय
25.	दि.सु.	:	दिट्ठसुत्त
26.	ध.प.	:	धम्मपद
27.	नी.श.	:	नीतिशतकम्
28.	ना.सं.	:	नालन्दा संस्करण
29.	पु.यो.	:	पुब्बयोगो
30.	पा.व.	:	पारायणवग्ग
31.	पु.	:	पुष्पिका
32.	प्र.का.	:	प्रथम काण्ड
33.	पृ.	:	पृष्ठ
34.	बु.च.	:	बुद्ध चरित
35.	बौ.द.मी.	:	बौद्ध दर्शन मीमांसा
36.	बु.वि.का.	:	बुद्धविजयकाव्यम्.
37.	बो.च.	:	बोधचर्यावतार
38.	बो.च.	:	बोधचर्यावतार
39.	बो.च.प.	:	बोधचर्यावतार पञ्जिका
40.	बिम्ब.प.	:	बिम्बसार परिवर्त
41.	बा.	:	बालकाण्ड
42.	भा.	:	भाग
43.	म.नि.	:	मज्झिम निकाय
44.	मे.सु.	:	मेत्त सुत्त
45.	मि.वि.द.	:	मिथिला विश्वविद्यालय, दरभंगा

46.	मि. प्र.	:	मिलिन्द प्रश्न
47.	मल.	:	मलवग्ग
48.	महा. प. नि.	:	महापरिनिर्वाण सुत्त
49.	महा.	:	महावग्ग
50.	रघु.	:	रघुवंश
51.	र. सु.	:	रतन सुत्त
52.	राम.	:	रामचरितमानस
53.	ल. प.	:	लक्खणपञ्चो
54.	लंका. सू.	:	लंकावतार सूत्र
55.	ल. वि.	:	ललितविस्तर
56.	वि. पि.	:	विनयपिटक
57.	वा. सं. वि.	:	वाराणसी संस्कृत विश्वविद्यालय
58.	व. सु.	:	वसलसुत्त
59.	वि. म.	:	विशुद्धिमग्ग
60.	सु. नि.	:	सुत्तनिपात
61.	स. पू. सू.	:	सद्धर्मपुण्डरीकसूत्र
62.	सौ. न.	:	सौन्दरनन्द
63.	संयु. नि.	:	संयुक्तनिकाय
64.	स. क.	:	सरस्वती कण्ठाभरण
65.	स. सु.	:	सल्लसुत्त
66.	स्व. व.	:	स्वर्ग वर्ग
67.	स्व. प.	:	स्वप्न परिवर्त
68.	श्लो.	:	श्लोक संख्या
69.	श्रीमद्.	:	श्रीमद्भगवद्गीता
70.	हि. ऑ. इ. फि.	:	हिस्टरी ऑफ इण्डियन फिलॉसफी

विषयानुक्रमिका

भूमिका

ग्रन्थ प्रणेता की सुपुत्री के साथ एक साक्षात्कार

प्रथम अध्याय :

विषय प्रवेश

पृष्ठ संख्या

1-5

द्वितीय अध्याय :

बुद्धविजयकाव्य का परिचयात्मक अध्ययन

(क) बुद्धविजयकाव्य की संक्षिप्त कथावस्तु	6-23
(ख) ग्रन्थ का महाकाव्यत्व	23-28
(ग) लेखक का व्यक्तित्व एवं कृतित्व	28-33
(घ) ग्रन्थ प्रणयन का प्रयोजन	34-38
(ङ.) ग्रन्थ की मौलिकता एवं वैशिष्ट्य	38-41

तृतीय अध्याय :

बुद्धविजयकाव्य में वर्णित गौतम बुद्ध की जीवन चर्या

(क) अलौकिक जन्म	42-45
(ख) महर्षि असित की भविष्यवाणी	45-47
(ग) नामकरणादि महोत्सव	47-49
(घ) विद्याग्रहण एवं विवाह	49-50
(ङ.) अन्तःपुर विहार	51-53
(च) राज्यकाल अनुभव	53-54
(छ) निमित्त दर्शन	55-58
(ज) वनविहार	58-59
(झ) महाभिनिष्क्रमण	60-60

(ज) तपश्चर्या एवं बुद्धत्व प्राप्ति	61-66
(ट) धर्मोपदेश एवं धर्मप्रचार	66-71
(ठ) महापरिनिर्वाण	72-73

चतुर्थ अध्याय :

धार्मिक विश्वास

(क) चार आर्य सत्य	74-84
(ख) बोधिसत्त्व की साधना-षट् पारमितायें	85-94
(ग) ब्रह्मविहार	95-103
(घ) त्रिशरण - बुद्ध, धर्म एवं संघ	103-112
(ङ) त्रिकल्याण धर्म-पाप निवृत्ति, पुण्य प्रवृत्ति एवं चित्त शुद्धि	112-117
(च) कर्मवाद एवं पुनर्जन्मवाद	117-121

पञ्चम अध्याय :

दार्शनिक सिद्धान्त एवं शिक्षाएँ

(अ) दार्शनिक सिद्धान्त

(क) प्रतीत्यसमुत्पाद	122-129
(ख) अनित्यता	129-132
(ग) अनात्मवाद एवं पञ्चस्कन्ध	132-140
(घ) निर्वाण	141-152
(ङ) मोक्ष पद की अवधारणा	152-155

(ब) दार्शनिक शिक्षाएँ

(क) अनित्यता की शिक्षा	156-160
(ख) निर्वाण सम्बन्धी शिक्षा	161-166
(ग) आत्म-गवेषणा की शिक्षा	169-169

षष्ठ अध्याय :

बुद्ध का नैतिक एवं सामाजिक दर्शन

(क) पञ्चशील	170-180
(ख) अपरिग्रह	181-182
(ग) मांस - भक्षण का विरोध	182-185
(घ) स्वातन्त्र्य एवं स्वावलम्बन	185-188
(ङ.) जातिवाद खण्डन	188-190
(च) रोगी परिचर्या एवं सेवाभाव	191-198

सप्तम अध्याय

बौद्ध योग साधना	199-214
-----------------	---------

अष्टम अध्याय

<u>बुद्धविजयकाव्य पर महायान का प्रभाव</u>	215-232
---	---------

उपसंहार	233-236
---------	---------

प्रथम अध्याय

विषय-प्रवेश

भगवान् बुद्ध ने 45 वर्षों तक चारिका करते हुए अपने उपदेश जनसामान्य को दिए । परम्परानुसार भगवान् तथागत ने अपने प्रवचन जनसामान्य की बोलचाल की भाषा में दिए थे, जो आज पालि भाषा कहलाती है तथा उसके वैयाकरणों ने उसे मागधी कहा है । यह सर्वविदित है कि संस्कृत विद्वानों एवं शिष्टजनों की भाषा है । कालान्तर में बौद्ध एवं जैन मतावलम्बियों ने भी अपने धर्म ग्रन्थों का प्रणयन संस्कृत भाषा में करना प्रारम्भ कर दिया । बौद्धों में संस्कृत के प्रवेश हो जाने पर बुद्धवचन के रूप में प्रमाण माने जानेवाले ग्रन्थों में गाथाएँ संकर संस्कृत में निबद्ध थीं परन्तु गद्य प्रायः शुद्ध संस्कृत में ही रहा । कालान्तर में बौद्ध आचार्य शुद्ध संस्कृत में अपने ग्रन्थों का प्रणयन करने लगे जिन पर पाणिनीय सम्प्रदाय का प्रभाव था ।

बौद्ध वाङ्मय सभी प्रकार की संकीर्णताओं से रहित है । इसमें कहीं भी जातिगत ऊँच-नीच को स्थान नहीं दिया गया है । वर्णभेद या रंग भेद की इसमें पदे-पदे भर्त्सना है । इसमें सकल संसार को एक अखण्ड राष्ट्र बनाने की प्रेरणा है । आवाह एवं विवाह में यह परम्परागत रूढ़ियों का समर्थक नहीं है । यह सभी प्रकार से शान्ति का समर्थक है । मनुष्य के अन्दर जो कुछ हीन, जो कुछ क्षुद्र, जो कुछ नीच है, उसे ही इस वाङ्मय में मार या शैतान कहकर प्रताड़ित किया गया है तथा पूर्णतया मार को जीतने का आदर्श ही इस वाङ्मय का आदर्श है ।

सुभाषित की दृष्टि से, लोकशान्ति एवं लोकहित की दृष्टि से बौद्ध वाङ्मय का स्वाध्याय होना अति आवश्यक है । ऐतिहासिक दृष्टि से भी इसका विशेष महत्त्व है । सम्पूर्ण बौद्ध वाङ्मय के अन्तर्गत संस्कृत वाङ्मय की अपनी विशेषता है । उसमें कुछ ऐसे तत्त्व हैं जिनका ज्ञान हम पालि के अध्ययन से नहीं कर सकते । भारत की उत्तरी सीमाओं को पारकर मध्य-एशिया, चीन, जापान तथा कोरिया में जो बौद्ध वाङ्मय था, वह संस्कृत का बौद्ध वाङ्मय था । पालि वाङ्मय दार्शनिक दृष्टि से दरिद्र है । जातकों में आख्यानों के व्याज से बोधिसत्त्व साधना की झलक मात्र पायी जाती है । महायान, मन्त्रयान एवं सहज साधना का ज्ञान बिना संस्कृत बौद्ध वाङ्मय के नहीं हो सकता ।

बौद्ध परम्पराएँ तीन धर्मचक्र-प्रवर्तनों को मानती हैं । प्रथम धर्मचक्र-प्रवर्तन की देशना भगवान् बुद्ध ने

सारनाथ में पञ्चवर्गीय भिक्षुओं के लिए दी । इसमें उन्होंने श्रावकयान तथा प्रत्येक बुद्धयान का उपदेश दिया । यह देशना हीनयानी थी । द्वितीय धर्मचक्रप्रवर्तन की देशना भगवान् ने राजगृह के निकट गृध्रकूट पर्वत पर भिक्षु-भिक्षुणियों, बोधिस्तवों, देवपुत्रों, ब्रह्मा, नागराज, किन्नरराज, गन्धर्व और गरुण आदि की विशाल सभा के लिए दी । इसमें उन्होंने बोधिस्तवयान का उपदेश दिया । इसे ही महायानी देशना के नाम से जाना जाता है । महायान को ही एकमात्र बुद्धयान कहा गया है । इस लोक में एक ही यान है, द्वितीय एवं तृतीय अन्य कोई यान नहीं है । भगवान् तथागत द्वारा जो नाना यानत्व की देशना की गयी है, वह तो उपाय मात्र है । भगवान् लोकनाथ तथागत बौद्ध ज्ञान के प्रकाशनार्थ लोक में उत्पन्न होते हैं, वे अन्य कोई कार्य नहीं करते । केवल एक यही कार्य करते हैं । भगवान् हीनयान द्वारा प्राणियों को विनीत नहीं करते । वे 'सद्धर्मपुण्डरीक' में इसी बात को दृढ़ता के साथ इस प्रकार कहते हैं—

" एकं हि यानं द्वितियं न विद्यते तृतीयं हि नैवास्ति कदाचिलोके ।

अन्यत्रुपायां पुरुषोत्तमानां यद्याननानात्वुपदर्शयन्ति ।।

बौद्धस्य ज्ञानस्य प्रकाशनार्थं लोके समुत्पद्यति लोकनाथः ।

एकं हि कार्यं द्वितियं न विद्यते न हीनयानेन नयन्ति बुद्धाः ।।"

द्वितीय धर्मचक्रप्रवर्तन की देशना भगवान् बुद्ध ने दक्षिण में धान्यकटक पर्वत पर दी, यही तान्त्रिक देशना थी । यह तन्त्रयान ही मन्त्रयान, वज्रयान, श्रीकाल चक्रयान एवं सहजयान आदि नामों से जाना गया । तन्त्र साहित्य पर बौद्ध संस्कृत के अनेक ग्रन्थ हैं । तन्त्र साधनाएँ कालान्तर में बौद्ध धर्म में प्रविष्ट हो गयीं थीं । इन साधनाओं ने बौद्ध रंग में रंगने का यत्न तो किया , किन्तु पूर्णतया बौद्ध धर्म में प्रविष्ट नहीं हो पायीं । सहजयान की अवस्था भी तन्त्र साधना जैसी ही है । इस शताब्दी में सहजयानी सिद्धों की वाणियों का भाषा, धर्म एवं दर्शन की दृष्टि से कुछ अध्ययन हुआ है । सिद्धों की वाणियाँ अपभ्रंश में हैं किन्तु उन पर संस्कृत टीकाएँ उपलब्ध हैं । अनेक टीकाएँ तिब्बती अनुवादों में सुरक्षित हैं । इन वाणियों का तुलनात्मक अध्ययन कर रहस्यवादी प्रवृत्तियों को उजागर किया जा सकता है ।

इन तीनों धर्मचक्रप्रवर्तनों में से प्रथम धर्मचक्रप्रवर्तन की भाषा पालि तथा अन्य दोनों की भाषा संस्कृत थी । ऊपर कहा गया है कि मनुष्य के अन्दर जो कुछ हीन है, क्षुद्र है एवं नीच है, वही मार

अथवा शैतान है । मनुष्य के अन्दर स्थित मार कहीं कलुषता को न फैलाने लगे, इसलिए इस वाङ्मय के अध्येता के लिए यह संकेत है कि जो वाङ्मय अर्थवत् हो अर्थात् प्रयोजन-साधक हो, जो धर्म भावना के पदों से युक्त हो, जो त्रिलोक के मलों को प्रक्षालन करने में समर्थ हो, जिसमें शान्ति की अनुशांसा दिखायी गयी हो, वही आर्ष वाङ्मय है, बुद्धोपदेश है, इसके विपरीत जो वाङ्मय है, वह अनार्ष है अर्थात् बुद्धोपदेश या बुद्धवचन नहीं है -

" यदर्थवद् धर्मपदोपसंहित त्रिधातु संक्लेशनिर्बर्हणं वचः ।

अवेच्च येच्छान्त्यनुशंसदर्शकं तदुक्तमार्षं विपरीतमन्यथा ।। " ¹

इस प्रकार महायान और सन्त्रयान के अनेकों ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं और अभी भी तिब्बती, चीनी आदि भाषाओं के अनुवादके रूप में सुरक्षित हैं । बौद्ध संस्कृत साहित्य के इन ग्रन्थों को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है-

1. विशुद्ध संस्कृत के ग्रन्थ ।
2. संकर संस्कृत के ग्रन्थ ।

यह ग्रन्थ प्रणयन की परम्परा अविच्छिन्न रूप से चल रही है । आज भी विद्वान् तथागत के जीवन एवं उपदेशों को आधार बनाकर काव्यमय रचना कर रहे हैं । इन ग्रन्थों के प्रणयन से जहाँ संस्कृत साहित्य की अभिवृद्धि हुई है, वहीं दूसरी ओर बौद्ध धर्म के सिद्धान्तों एवं मन्तव्यों को विद्वत्समाज के समक्ष उजागर करना भी ग्रन्थ प्रणेताओं का उद्देश्य रहा है । इसी परम्परा में बौद्ध संस्कृत साहित्य के आधुनिक ग्रन्थों में सम्प्रति तीन महाकाव्य प्रकाशित हुए हैं जिनकी चर्चा यहाँ इष्ट है :

3. आचार्य सत्यव्रत शास्त्री विरचित बोधिसत्त्वचरितम् :

इसे मेहरचन्द लक्ष्मणदास ने दिल्ली से 1960 ई. में प्रकाशित किया है । इसमें चौदह सर्ग हैं । भगवान् शाक्यमुनि बुद्ध ने एक जन्म में ही बुद्धत्व की प्राप्ति नहीं की अपितु बोधिसत्त्व के रूप में उन्हें कई बार जन्म लेना पड़ा । भगवान् ने जिन-जिन योनियों में जन्म लिया, उनमें उन्होंने अपने सहयोगियों, मित्रों तथा

¹ बो.च.प., पृ. 432

पुण्य कर्म करने वालों की रक्षा की और उन्हें जीवनदान दिया । कवि ने कुछ जातकों का चयन कर उनकी कथावस्तु के आधार पर प्रस्तुत महाकाव्य की रचना की है । इसमें बोधिसत्त्व के उदात्त चरित्र के साथ-साथ उसकी करुणा भी परिलक्षित होती है ।

पण्डित आर्गेटि परीक्षित शर्मा विरचित यशोधरा महाकाव्यम् :

इस महाकाव्य का प्रकाशन शारदा गौरव ग्रन्थमाला पूना से 1976 में हुआ । इसमें 1069 श्लोक हैं, जो बीस सर्गों में निबद्ध हैं । भगवान् बुद्ध की अभिनिष्क्रमण की कथा को आधार बनाकर कवि ने इस महाकाव्य का प्रणयन किया है । सिद्धार्थ गौतम के महाभिनिष्क्रमण से यशोधरा वियोग से इतनी पीड़ित हो जाती है कि उसका परिताप पराकाष्ठा की सीमा को स्पर्श करने लगता है । इसलिए वह गौतम के हृदय को पत्थर का मान बैठती है । प्रस्तुत महाकाव्य में यशोधरा के परिताप का ही वर्णन नहीं है अपितु उनके अभिनिष्क्रमण से सन्तप्त सभी नगरवासियों का सन्ताप मर्मस्पर्शी है । ऐसा प्रतीत होता है कि प्रस्तुत महाकाव्य के प्रणयन की पृष्ठभूमि, कवि को राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त के ग्रन्थ 'साकेत' से मिली होगी । कवि श्री मैथिलीशरण गुप्त के इस महाकाव्य में उपेक्षित लक्ष्मण पत्नी उर्मिला की दशा, सिद्धार्थ गौतम से वियुक्त यशोधरा के समान ही है ।

3. आचार्य शान्तिभिक्षु शास्त्री विरचित बुद्धविजयकाव्यम् :

आलोच्य ग्रन्थ का प्रकाशन लेखक ने 1970 ई. में स्वयं किया है । यह ग्रन्थ सुजाता शास्त्री, राजनिवास, राजगृहरोड, सोलन, शिमला हिल्स (हिमाचल प्रदेश) के पास उपलब्ध है । इसमें 5100 श्लोक हैं, जो 100 सर्गों में निबद्ध हैं । भगवान् बुद्ध ने 45 वर्षों तक अहर्निश चारिका करते हुए, जो उपदेश अपने शिष्यों, राजाओं एवं जन सामान्य को दिए, उन्हीं का सुन्दर संकलन प्रस्तुत महाकाव्य में किया गया है । आलोच्य ग्रन्थ में अहिंसा की प्रशंसा, मद्य-पान के दोष और परिवार एवं दाम्पत्य जीवन को सुखमय बनाने के उपायों के चर्चा की गयी है । ये वर्णन जहाँ बुद्ध के उपदेशों के अनुकूल हैं, वहीं ग्रन्थ-प्रणेता आचार्य शान्ति भिक्षु शास्त्री की मौलिक प्रतिभा के परिचायक भी हैं । आलोच्य ग्रन्थ का 'बुद्धविजयकाव्यम्' नामकरण उचित ही है क्योंकि सिद्धार्थ गौतम द्वारा मार पर विजय प्राप्त कर ली गयी थी । यदि सिद्धार्थ गौतम द्वारा मार को पराजित न किया जाता तो सम्बोधि की प्राप्ति उनके लिए शक्य नहीं थी । ग्रन्थ-प्रणेता ने स्वयं आलोच्य

ग्रन्थ को मार का मर्दन करने वाला, बोधिचित्त उत्पादक तथा भव से तारने वाला बताया है -

" इदं मे बुद्धविजयं काव्यं मारावमर्दनम् ।

बोधिचित्तसमुद्भावकारकं भवतारकम् ॥ " ¹

¹ बु. वि. का. पु, 5

* * *

द्वितीय अध्याय

बुद्धविजयकाव्य का परिचयात्मक अध्ययन

ग्रन्थकार बौद्ध धर्म दर्शन के पारावार के तलस्पर्शी विद्वान हैं । ग्रन्थ प्रणेता ने प्रस्तुत आलोच्य ग्रन्थ का प्रणयन श्री लंका के विद्यालंकार विश्वविद्यालय से सेवा-निवृत्ति के पश्चात् किया । उन्होंने अनेक ग्रन्थों का सम्पादन, अनुवाद तथा स्वतन्त्र रूप से शोध कार्य भी किया । सेवा निवृत्ति की अवस्था परिपक्वस्था है, इसलिए इस महाकाव्य को उनके अध्ययन के अनुभव का सार कहें तो कोई आतिशयोक्ति नहीं होगी । उनका कथन है कि मैंने भगवान् बुद्ध के यत्र-तत्र विकीर्ण चरित्र को एकत्रित करके श्लोकों के रूप में प्रस्तुत महाकाव्य की रचना की है—

" नात्रं नव्यं ततः किञ्चित् प्रकीर्णं किं तु सर्वतः ।

समाहृत्य निबध्नामि श्लोकैः सच्चरितं महत् ॥ " ¹

उक्त श्लोक में कवि का यह कथन है इसमें नवीन कुछ नहीं है, यह कवि के उदात्त चरित्र को उजागर करता है तथा उनकी निरहंकारता का सूचक है ।

(क) बुद्धविजयकाव्य की संक्षिप्त कथावस्तु :

प्रस्तुत आलोच्य ग्रन्थ सौ सर्गों में निबद्ध है । इसे पूर्वार्द्ध तथा उत्तरार्द्ध दो भागों में विभक्त किया गया है तथा प्रत्येक में पचास-पचास सर्ग हैं । आलोच्य ग्रन्थ का संक्षिप्त सार इस प्रकार है ।

बुद्धवन्दना नामक प्रथम सर्ग — के प्रारम्भ में कवि ने त्रिकालिक बुद्धों की वन्दना की है । उन्होंने इन बुद्धों को प्रणाम करते हुये तथागत से साक्षात्कार की अभिलाषा व्यक्त की है ।

बौद्धता वन्दना नामक द्वितीय सर्ग में पञ्चशील सिद्धान्त का अनुकरण करते हुये बौद्ध संघ के अनुयायी बनकर चलने वाले बुद्धों की वन्दना की है ।

बोधिचित्तवन्दना नामक तृतीय सर्ग में बोधिचित्त की भूरि-भूरि प्रशंसा की है । उनका कथन है कि बोधिचित्त से शून्य प्राणी पुच्छविहीन बन्दर के समान है । वही सभी दुःखों से मुक्त है, वन्दनीय है ।

" बोधिचित्तं जयत्यत्र यन्मानुष्येण लभ्यते ।

मनुष्या यद् विना पुच्छविकला एव वानरा ॥

कल्याणमित्र नामक चतुर्थ सर्ग में कवि धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष के उपदेशक, सुमति, सदाचारी, निष्कपटी, अहिंसक बोधिचित्त युक्त कल्याणमित्रों की वन्दना करता है। यही नहीं वह उनकी संगति में रहना चाहता है। यहाँ उन्होंने कुपुरुषों की निन्दा की है तथा बुद्ध के चरित्र का वर्णन करने के लिये कल्याणमित्रों की संगति को आवश्यक बताया है।

कथायुक्तिनामक पंचम सर्ग में कवि भगवान् बुद्ध, बोधिचित्त की वन्दना के अनन्तर भगवान् तथागत के अलौकिक चरित्र का वर्णन करने हेतु योजना बना रहा है।

बोधिव्रतग्रहणनामक षष्ठ सर्ग में कवि बोधिव्रत का वर्णन करता है जिससे बोधिस्त्वता व बुद्धता की प्राप्ति होती है। तदनन्तर कवि बोधिव्रतधारी भगवान् बुद्ध के पूर्वजन्मों का वर्णन करता है। कवि स्वयं भी बोधिव्रत ग्रहण कर तथागत के चरित्र का वर्णन करना चाहता है।

दानपारमितानामक सप्तम सर्ग में कवि ने षट् पारमिताओं में प्रथम दान पारमिता का वर्णन किया है। उनका कथन है कि किस प्रकार दानी बोधिस्त्व अपना धन, पुत्र-पुत्री ही नहीं अपितु अपने शरीरावयवों को भी दान कर देते हैं। इसी संदर्भ में कवि ने जगन्नाथ बोधिस्त्व व राजा शिवि की दानवीरता के आख्यान का वर्णन किया है।

शीलपारमिता नामक अष्टम सर्ग में कवि वर्णन करता है कि शीलव्रत में रत, बोधिव्रत परायण प्राणी में दानचित्त उत्पन्न होने पर वे मद्य-मांसादि से विरत, मृषावाद, विरुद्ध धर्म आदि से विरत हो जाते हैं। वह पूर्वजन्मों में संसरण करते हुये भगवान् बुद्ध के आख्यानों के द्वारा अपनी शील पारमिता को स्पष्ट करता है।

क्षान्ति पारमिता नामक नवम सर्ग में क्षान्ति पारमिता को स्पष्ट करना कवि का ध्येय है। आगे उनका कथन है कि बोधिव्रती को क्षमावान होना चाहिये। यहाँ पर क्षमा को परिभाषित करते हुये वे कहते हैं कि जप, तप, दान, शील, एकान्तवासी, विशुद्ध चित्त वाले व्यक्ति के धर्म की कसौटी क्षमा ही है। अक्षमा सभी विवादों, युद्धों और पापों का कारण है। कवि भगवान् बुद्ध के पूर्वजन्म के आख्यान द्वारा क्षमा-पारमिता के विषय में कहता है कि किस प्रकार क्षान्तिवादी बनकर स्वयं भगवान् बुद्ध ने अपने ऊपर प्रहार करने वाले राजा को क्षमा कर दिया था।

वीर्य पारमिता नामक दशम सर्ग के प्रारम्भ में कवि ने बोधिव्रती के लिए दान, शील एवं क्षमाशील होने के साथ-साथ वीर्य पारमिता का पालन करना आवश्यक बतलाया है। उनका कथन है कि धन और भार्या के प्रयोजन से उत्साह करने वाले व्यक्ति अनेक हैं किन्तु अहिंसा में रत, धर्मपरायण, उत्साही, धर्मवीर तो संसार में विरले ही हैं। तदनन्तर कवि भगवान् के पूर्वजन्म के आख्यान को उद्धृत करते हैं। इस आख्यान से विदित होता है कि राजा के उत्साहपूर्ण कार्यों से हिंसा, पशुबलि और पापाचार जैसी दुष्प्रवृत्तियाँ समाप्त हो गयीं। परिणामतः न्यायालय सूने हो गये, गुप्तचरों का कार्य लुप्तप्राय हो गया। राजा ने दुर्भिक्ष रूपी विपत्ति का वीरता के साथ निराकरण कर दिया और उत्साह से प्रजा की दरिद्रता को दूर कर दिया। इस प्रकार प्रजा सुखी एवं समृद्ध हो गयी।

ध्यानपारमिता नामक एकादश सर्ग में बताया गया है कि ध्यान पारमिता का अभ्यास करने वाला बोधिसत्त्व शमथ की अवस्था को प्राप्त करता है। समाधिस्थ चित्त के द्वारा वस्तु की यथार्थता ज्ञात होती है एवं वैराग्य उत्पन्न होता है। इसे भगवान् बुद्ध के आख्यानों द्वारा स्पष्ट किया गया है।

प्रज्ञा पारमिता नामक द्वादश सर्ग में वर्णन है कि दान, शील, क्षमा, उत्साह एवं ध्यान से शुद्ध अन्तःकरण वाले व्यक्ति में ही प्रज्ञा उत्पन्न होती है। प्रज्ञा को परिभाषित करते हुये कवि कहता है कि निर्दोष प्रत्यक्ष और अनुमान के द्वारा जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह ज्ञान परीक्षाओं की कसौटी पर खरा उतरने वाला एवं सत्यफल प्रदान करने वाला है। वही प्रज्ञा है। भगवान् बुद्ध ने पूर्वजन्म में महाबोधि ब्राह्मण बनकर, इसी प्रज्ञा द्वारा राजा की सहायता की थी। यही प्रज्ञा पारमिता है।

बुद्धपूजा नामक त्रयोदश सर्ग में सभी मांगलिक सामग्री सुपारी, कैसर, चन्दन इत्यादि से भूत, भविष्य, वर्तमान के सभी बुद्धों की पूजा एवं बोधिवृत्ति के द्वारा मानसी पूजा की गयी है। इसके अतिरिक्त संघ के प्रति अपनी भक्ति भी प्रकट की है।

जन्मललित नामक चतुर्दश सर्ग में भगवान् बुद्ध के जन्म का वर्णन है, जिन्होंने कपिलवस्तु नगर के लुम्बिनी वन में राजा शुद्धोधन एवं रानी मायादेवी के पुत्र के रूप में जन्म लेकर इस जगत् को अनुगृहीत किया है।

असित व्याकरण नामक पंचदश सर्ग में असित मुनि के द्वारा बालक गौतम को देखकर उनके मैत्रेय बुद्ध होने की भविष्यवाणी का वर्णन है।

नामकरण नामक षोडश सर्ग में तथागत का अर्थानुसारी नाम सिद्धार्थ तथा रुद्धिवश नाम गौतम रखे जाने का वर्णन है तथा देवमन्दिर प्रवेश, चूडाकर्म संस्कार तथा हलकर्षण उत्सव के अवसर पर बालबुद्ध के द्वारा किये गये ध्यान का चित्रण है ।

विद्याग्रहण नामक सप्तदश सर्ग में गौतम के द्वारा वेद-पाठ, लेखन, स्वास्थ्य-विद्या, विज्ञान, दण्डनीति, शस्त्रविद्यादि सभी में दक्षता प्राप्ति का वर्णन है । तदनन्तर अपने पराक्रम द्वारा यशोधरा देवी को प्राप्त करने का उल्लेख है ।

अन्तःपुर विहार नामक अष्टादश सर्ग में सिद्धार्थ गौतम के अन्तःपुर एवं प्रासादों का वर्णन मिलता है । तदनन्तर राजा शुद्धोधन द्वारा गौतम को युवराज पद पर अभिषिक्त किया गया तथा युवराज पद पर प्रतिष्ठित होते हुये उन्होंने पृथ्वी का पालन किया ।

राज्यकालानुभव नामक एकोनविंश सर्ग में युवराज गौतम क्षत्रियों की युद्धजीवी एवं असहनीय होने के कारण उनकी निन्दा करते हैं । यही नहीं वे स्वयं को भी क्षत्रिय समूह से भयभीत मानते हैं । दूसरी ओर कृषक एवं गोपलकों की भूरि-भूरि प्रशंसा भी करते हैं । अन्त में गृहनिवास से विमुख, गुणवाद परक, अपूर्व बोधिचित्त का उदय गौतम में हुआ ।

निमित्त दर्शन नामक विंशसर्ग में वैराग्य के निमित्त वृद्ध, रोगी एवं मृतक के दर्शन द्वारा गौतम में वैराग्य चित्त उत्पन्न होता है ।

वन विहार नामक इक्कीसवें सर्ग में गौतम में वैराग्य उत्पन्न हो जाने के कारण वे पिता से गृहस्थ जीवन को छोड़कर प्रव्रजित होने की अनुमति मांगते हैं ।

अभिनिष्क्रमण नामक बाइसवें सर्ग में गौतम गृह त्यागकर आषाढ़ पूर्णिमा को प्रव्रज्या ग्रहण कर लेते हैं ।

अनुप्रियाविहार नामक तेइसवें सर्ग में राजा शुद्धोधन द्वारा सिद्धार्थ को वापस घर लाने का प्रयत्न किया गया है जो कि व्यर्थ रहा है ।

राजगृहवस्तु नामक चौबीसवें सर्ग में भिक्षाटन करते हुये प्रव्रजित गौतम को मगध के राजा बिम्बसार द्वारा अपने आधे राज्य को समर्पित करना व सिद्धार्थ द्वारा उसको अस्वीकार कर देने का वर्णन है ।

तपोवन दर्शन नामक पञ्चवीसर्वे सर्ग में यत्र-तत्र भ्रमण करते हुये सिद्धार्थ द्वारा एक तपोवन में प्रवेश किये जाने का वर्णन है । जहाँ उन्होंने विविध प्रकार की समाधि एवं काय-क्रियाकलापों वाले तपस्वियों को देखा । तदनन्तर सिद्धार्थ गौतम ने सम्बोधि को प्राप्त करने के लिये तपस्या को अनुपयोगी मानते हुये उस तपोवन को छोड़ दिया ।

अराडोपदेश नामक छब्बीसर्वे सर्ग में महर्षि अराड के पास जाकर गौतम ने उनसे उपदेश ग्रहण किया । तब महर्षि ने उन्हें मुक्ति के लिये प्रकृति एवं पुरुष के कार्यों का वर्णन कर कैवल्य प्राप्त करने का उपाय निर्दिष्ट किया ।

ध्यानमार्गाधिक्य नामक सत्ताइसर्वे सर्ग में गौतम ने अराड मुनि के उपदेशानुसार बुद्धि के द्वारा कैवल्य प्राप्त कर लिया परन्तु मोक्ष प्राप्त न होने के कारण उन्हें सन्तोष न हुआ । तदनन्तर वे उड़क मुनि के पास पहुँचे परन्तु उनका भी अराड मुनि वाला सिद्धान्त था । अतः मोक्ष प्राप्त करने हेतु वे उस तपोवन को त्यागकर गयाशीर्ष पर्वत की ओर प्रस्थान कर गये ।

ऊरुविल्वाम्न नामक अठाइसर्वे सर्ग में पदचारिका करते हुये गौतम मुनि उरुविल्व नामक स्थान पर पहुँचे जो कि नैरंजना नामक नदी से आवृत्त था । यहाँ कवि ने उरुविल्व का अत्यन्त हृदयहारी वर्णन किया है ।

पञ्चवर्गीय समागम नामक उनतीसर्वे सर्ग में कौण्डिन्यादि पञ्चवर्गीय विप्रों के उन-उन स्थान पर जाने का वर्णन है जहाँ-जहाँ होते हुये गौतम बुद्ध उरुविल्व पहुँचे थे ।

सुजातोपस्थान नामक तीसर्वे सर्ग में गौतम बुद्ध तथा उन पञ्चवर्गीय मुनियों की सेवा में लगी हुई नन्दिक नामक ब्राह्मण की दसवीं पुत्री सुजाता को दिये गये आशीर्वाद एवं स्वस्ति वचनों का वर्णन है ।

उपश्चर्या नामक इक्कीसर्वे सर्ग में गौतम बुद्ध के द्वारा निराहार रहकर बोधि के लिये किये गये तप का तथा उनकी शारीरिक स्थिति का वर्णन है ।

मार प्रलोभन नामक बत्तीसर्वे सर्ग में मार द्वारा प्रलोभन का वर्णन है परन्तु गौतम बुद्ध मार के प्रलोभन से विचलित नहीं हुये । तदनन्तर कृश शरीर को जीवित रखने के लिये वे पुनः आहार ग्रहण करने लगे । इस पर उन पञ्चवर्गीय विप्रों ने उन्हें छोड़ काशी को प्रस्थान कर दिया ।

स्वप्नदर्शन नामक तैत्तिरीय सर्ग में गौतम बुद्ध ने अपनी तपश्चर्या के छह वर्ष पश्चात् वैशाखपूर्णिमा की रात्रि में एक अद्भुत संकेतों वाला स्वप्न देखा । तब उन्होंने उस स्वप्न के फल को मन में इस प्रकार सोचा— "मैं सकल जगत के विविध वर्णों वाले तथा विविध जाति-उपजातियों वाले नर-नारियों को शरण दूँगा इन सभी को मैं भेदभाव तथा जातिभाव से विहीनकर दूँगा ।" तदनन्तर उन्होंने स्वप्न में स्वयं को मलयगिरि पर्वत पर विचरण करते देखा । तभी उन्होंने विचार करते हुये सकल जगत को मल के लेप से मलिन देखा। तब स्वप्नसिद्धि के लिये बुद्ध सभी कार्यों को त्यागकर अजपाल नामक बरगद के नीचे समाधिस्थ हो गये ।

सुजातापायसांगीकार नामक चौत्तीसवें सर्ग में नन्दिक की पुत्री सुजाता द्वारा बोधिस्तत्त्व गौतम को उत्तम विधि से तैयार की गयी खीर को अर्पित करने का वर्णन है । तदनन्तर खीर को खाने से पूर्व, स्नान की इच्छा वाले उनकी पवित्र नैरज्जना नदी में आदर के साथ स्नान कराया तथा फूलों एवं नवीन पल्लवों से बोधिस्तत्त्व की पूजा भी की । इसके अतिरिक्त अन्य अलौकिक घटनाओं का भी वर्णन इस सर्ग में किया गया है ।

बोधिवृक्षमूलोपसर्पण नामक पैंतीसवें सर्ग में बोधिवृक्ष के नीचे बोधिप्राप्ति पर्यन्त बोधिस्तत्त्व के समाधिस्थ होने का वर्णन है । इस पर नागराज ने उनकी स्तुति एवं सपरिवार पूजा की जिसका मनोरम वर्णन इस सर्ग में प्राप्त होता है ।

भारपराजय नामक छत्तीसवें सर्ग में मार के द्वारा बुद्ध को उनकी तपस्या से विचलित करने का वर्णन है । अन्त में मार के सभी प्रयत्न विफल हो जाते हैं और वह पराजित होकर वापिस लौट जाता है ।

बोधिरात्रिवृत्तान्त नामक सैंतीसवें सर्ग में बोधिवृक्ष के नीचे ध्यानावस्था में बुद्ध को रात्रि में यह संसार अनित्य है एवं दुःखद है जिसका कारण तृष्णा है, इस सत्य का ज्ञान हुआ ।

सप्ताहसप्तकोदन्त नामक अड़तीसवें सर्ग में भगवान् बुद्ध ने सात सप्ताह पर्यन्त बोधिवृक्ष, अजपाल, निचुल वृक्ष, लसोढ़े के वृक्ष के नीचे घोर तप किया, उसका सुन्दर वर्णन है ।

अश्वपुष्पभल्लिकदान नामक उनतालीसवें सर्ग में भगवान् बुद्ध को ज्ञान प्राप्ति के अनन्तर हिंसा एवं तृष्णा रहित धर्म का उपदेश देने के लिये स्वयं ब्रह्मा के द्वारा अभियाचना का वर्णन है ।

ऋषिपत्तनचारिका नामक चालीसवें सर्ग में ज्ञान के प्रचार के लिये भगवान् बुद्ध सर्वप्रथम पञ्चवर्गीय भिक्षुओं

को धर्मोपदेश देने के लिये काशी गये ।

चतुः सत्य देशना नामक इकतालीसवें सर्ग में भगवान् बुद्ध के द्वारा उन पञ्चवर्गीय भिक्षुओं को चार आर्यसत्त्यों का उपदेश देने का वर्णन है । इसमें आष्टांगिक मार्ग भी समाहित है । यही बौद्ध धर्म का मध्यम मार्ग है ।

यक्षजिज्ञासा नामक बयालीसवें सर्ग में इस नवीन धर्म के विषय में सुनकर सात एवं हैमवत् यक्षों ने भगवान् बुद्ध से अपने मन की जिज्ञासा शमनार्थ कुछ दार्शनिक प्रश्नों को उपस्थापित किया । प्रश्नोत्तरों से सन्तुष्ट होकर यक्षों ने भगवान् बुद्ध के इस नवीन बौद्ध धर्म का प्रचार करने का आश्वासन दिया ।

षडहापदान नामक तैंतालीसवें सर्ग में भगवान् बुद्ध ने पञ्चवर्गीय भिक्षुओं को पञ्चस्कन्धों का उपदेश दिया । अन्त में असित मुनि के भागिनेय नालक मुनि को मौनेय पद की विशद व्याख्या बुद्ध द्वारा प्रस्तुत की गयी है ।

यशोददीक्षा नामक चौतालीसवें सर्ग में काशी के वन में रहते हुये भगवान् बुद्ध ने एक श्रेष्ठी पुत्र यश को बौद्ध धर्म में दीक्षित किया । तदनन्तर किसी भी भेद भाव के विना अन्य व्यक्तियों द्वारा दीक्षा ग्रहण किये जाने पर काशी में उन्होंने एक संघ की स्थापना की ।

एकपत्र समागम नामक पैंतालीसवें सर्ग में भगवान् बुद्ध ने तृष्णा और कामभाव का त्याग करने का उपदेश दिया है । इसके अतिरिक्त बौद्धधर्म की प्राणभूत अहिंसा पर अत्यधिक बल दिया है ।

वर्षावर्णन नामक छियालीसवें सर्ग में ग्रीष्मकाल के अनन्तर प्रारम्भ होने वाली वर्षाऋतु का विभिन्न उपमाओं के माध्यम से मनोरम वर्णन किया है । इस वर्णन में नाना प्रकार के फलों की उत्पत्ति के साथ-साथ पक्षियों एवं मनुष्यों की मनःस्थिति का भी चित्रण किया गया है ।

भगवद्दिनचर्या नामक सैंतालीसवें सर्ग में भगवान् बुद्ध की दिनचर्या एवं उनके धर्मोपदेश का वर्णन किया गया है ।

त्रिकल्याण धर्म नामक अड़तालीसवें सर्ग में भगवान् तथागत ने क्रमशः पाप-विरति, पुण्य प्रवृत्ति एवं चित्त शुद्धि इस त्रिकल्याण धर्म का उपदेश दिया है । बौद्ध साहित्य में इसे बुद्धों का शासन माना गया है ।

कल्याणचित्तवर्धन नामक उनचासवें सर्ग में साधक की चार अवस्थाओं और ध्यानों के विषय में वर्णन किया गया है । सर्ग के अन्त में कहा गया है कि पाप से विरत रहने वाला ही ब्राह्मण है । साधु, श्रमण, संत

और यति भी उसे ही माना गया है जो पाप से विमुक्त है ।

शरद वर्णन नामक पचासवें सर्ग में कवि ने शरदऋतु का अत्यन्त मनोरम वर्णन किया है । ऋतु वर्णन में उपमा, उत्प्रेक्षा, अनुप्रास और दृष्टान्त अलंकार की छटा दर्शनीय है ।

भद्रवर्गीयदीक्षा नामक इक्यावनवें सर्ग में गौतम बुद्ध ने संघ को देश की सभी दिशाओं में जाकर बौद्ध धर्म का प्रचार करने के लिये प्रेरित किया । यहाँ पर स्वयं भी तीस युवकों के समूह को आत्मगवेषणार्थ धर्म का सारगर्भित उपदेश दिया ।

जटिलकाश्यपदीक्षा नामक बावनवें सर्ग में चारिका करते हुये भगवान् बुद्ध ने गया के उरुविल्ला स्थान पर काश्यप की यज्ञशाला में विश्राम किया । प्रातः नाग के शान्त होने पर उन्होंने अपने तेज का अनुमान लगा लिया । उन्हें आशंका हुई कि लोग उन्हें अधिक आदर सत्कार देने लगेंगे अतः वे ऋद्धि से अन्तर्ध्यान हो गये । पुनः दूसरे दिन प्रकट होने पर उन्होंने काश्यप को यज्ञ प्रक्रिया के द्वारा अर्हत्त्व की प्राप्ति असम्भव है, ऐसा उपदेश दिया । तदनन्तर काश्यप व उनके शिष्य बौद्ध धर्म में दीक्षित हो गये ।

बिम्बसारानुपरिग्रह नामक तिरेपनवें सर्ग में बुद्ध ने बिम्बसार के आग्रह पर उनके राजभवन में पधारकर उन्हें सद्धर्म का उपदेश दिया ।

अग्र श्रावक दीक्षा नामक चौवनवें सर्ग में राजा बिम्बसार द्वारा प्रदत्त वेणुवन में निवास करते हुये भगवान् द्वारा अनेक शिष्यों को बौद्ध धर्म में दीक्षित करने का वर्णन है ।

महाकाश्यपपरिग्रह नामक पचपनवें सर्ग में पिप्पलि काश्यप वैराग्यपरायण ब्राह्मण भगवान् के द्वारा दीक्षित हो गया । भगवान् ने अपने जीर्ण चीवर उतारकर काश्यप को दे दिया । अब काश्यप के पास तीन चीवरों के अतिरिक्त कोई भी वस्तु अवशिष्ट नहीं रह गयी । उनके पास धर्म रूपी धन ही अवशिष्ट रह गया । वीतरागी काश्यप ने सकल तृष्णा का परित्याग कर सात दिन में अचल एवं अमृत पद निर्वाण को प्राप्त कर लिया ।

महाकात्यायन दीक्षा नामक छप्पनवें सर्ग में बुद्ध ने अपने शिष्यों को भिन्न-भिन्न दिशाओं में धर्म-प्रचारार्थ भेजा । उन्होंने कात्यायन को उज्जैन नरेश के निमंत्रण पर मालवा भेजा जहाँ उन्होंने सकल नगरवासियों को कल्याणकारी बौद्ध धर्म की दीक्षा दी ।

बसन्तवर्णन नामक सत्तावन सर्ग में राजा शुद्धोधन द्वारा प्रेषित कालोदायी नामक मन्त्री ने मगध जाकर सभी परिवारजनों को दर्शन देने की प्रार्थना भगवान् बुद्ध से की है। यहाँ कवि ने कालोदायी के मुख से बसन्तऋतु का अत्यन्त मनोरम वर्णन किया है।

राजकुल समागम नामक अट्ठावन सर्ग में तथागत अपनी जन्मस्थली कपिलवस्तु जाकर अपने परिवार जनों से मिलते हैं तथा संघ सहित राजभवन में प्रवेश करते हैं। बौद्धविहार में तथागत का जैसा आचरण था राजभवन में रहते हुये भी यशोधरा ने उनका अनुकरण किया है इसका वर्णन कवि ने किया है।

नन्दानुपरिग्रह नामक उनसठवें सर्ग में बुद्ध अपनी सरल उपदेश विधि से अपने भाई नन्द को प्रव्रज्या ग्रहण कराते हैं। उनके उपदेश को सुनकर नन्द अर्हत् पद को प्राप्त कर लेते हैं।

राहुलदीक्षा नामक साठवें सर्ग में बुद्ध ने अपने पुत्र राहुल को बौद्ध धर्म की दीक्षा दी है। राहुल की दीक्षा से विचलित हुये राजा शुद्धोधन को भगवान् ने सुन्दर वचनों द्वारा सन्तुष्ट कर दिया।

उपाल्यनुग्रह नामक इकसठवें सर्ग में बुद्ध ने निम्न जाति में जन्म लेने वाले उपालि नामक नापित को प्रव्रजित कर उसे संघ में उचित स्थान दिया।

त्रिरत्न महिमा नामक बासठवें सर्ग में बुद्ध ने लिच्छवि तथा अन्य लोगों को त्रिरत्न का स्त्रोत रूप उपदेश दिया है। अन्त में उत्तम चित्त के उदय पर पुण्य उत्पन्न होने की चर्चा है।

सत्याववाद नामक तिरैसठवें सर्ग में भगवान् बुद्ध राहुल को असत्य की तुच्छता एवं उससे विरति का उपदेश देते हैं।

अनाथपिंडदावदान नामक चौसठवें सर्ग में अनाथपिंडद पद वाले सुदत्त नामक सेठ को कल्याणकारी बौद्ध धर्म के मूल सिद्धान्तों का तथागत ने उपदेश दिया।

बिम्बसारावदान नामक पैंसठवें सर्ग में गिरिव्रज के राजा बिम्बसार ने अपने मित्र तथा पड़ोसी राजा पौष्करसाति और तिष्य इत्यादि को बौद्ध धर्म का पत्र के माध्यम से परिचय देते हुये उसके प्रचार एवं प्रसार का वर्णन किया, जिससे प्रभावित होकर उन्होंने भी इस धर्म में प्रव्रज्या ग्रहण की।

भिक्षुपीसंघप्रतिष्ठापन नामक छियासठवें सर्ग में राजा शुद्धोधन के निर्वाण प्राप्ति के अनन्तर प्रजावती द्वारा अन्य

शाक्य स्त्रियों के साथ भगवान् बुद्ध की आज्ञा से भिक्षुणी संघ की प्रतिष्ठापना का वर्णन है ।

कोसलराजदीक्षा नामक सड़सठवें सर्ग में तथागत द्वारा कोसलराज प्रसेनजित् को बौद्ध धर्म की दीक्षा का वर्णन है ।

अश्रुश्रविकापदान नामक अड़सठवें सर्ग में वर्णन है कि जिस प्रकार भगवान् बुद्ध के कोलित एवं उपतिष्य दोनों अश्रुश्रवक थे । उसी प्रकार मद्रदेश के राजा शाकल की पुत्री क्षेमा तथा श्रेष्ठी पुत्री उत्पलवर्णा अश्रु-श्रविकायें हुयीं । इस प्रकार बुद्ध संघ की महिमा चारों ओर सर्वहित के लिये फैलने लगी ।

प्रतिहार्य प्रदर्शन नामक उनहत्तरवें सर्ग में तैत्थिकों के विरोध में स्वयं भगवान् द्वारा प्रदर्शित सांसारिक चमत्कारों का वर्णन है ।

नागरूप प्रविचय नामक सत्तरवें सर्ग के प्रारम्भ में ग्रन्थकर्ता ने नागरूप का विस्तार से उल्लेख किया है । तदनन्तर लेखक का कथन है कि चित्त में जो चैतसिक धर्म हैं वे चित्त को कलुषित करते हैं । इसके अतिरिक्त चैतसिक धर्मों को विस्तार के साथ परिभाषित किया गया है ।

सांकाश्यावतरण नामक इकहत्तरवें सर्ग में उल्लेख है कि भगवान् बुद्ध स्वर्ग में अपनी माता को बौद्ध धर्म की शिक्षा देने गये तब अनेक ऋषियों ने उनसे पृथ्वी पर पुनःपदार्पण करने की प्रार्थना की । उनकी इस प्रार्थना पर बुद्ध सांकाश्यनगर के द्वार पर स्वर्ग से रत्नजटित सीढ़ियों से उतरे तथा संघ को उपदेश दिया ।

मैत्रेयव्याकरण नामक वहत्तरवें सर्ग में बुद्ध की भविष्यवाणी है कि जब शंख नामक चक्रवर्ती राजा का राज्य होगा तब मैत्रेय भावी बुद्ध होंगे ।

बोधिकुमारोपदेश नामक तिहत्तरवें सर्ग में राजा उदयन के पुत्र बोधिकुमार ने भगवान् बुद्ध को अपने भविष्य के विषय में जानने के लिये आमन्त्रित किया । उसकी प्रार्थना पर निःसन्तान बोधिकुमार को भविष्यवाणी के विषय में बताते हुये उन्हें उनके पापकर्मों का स्मरण कराया । तदनन्तर उन्हें धर्मोपदेश दिया ।

सूनापरान्तावतार नामक चौहत्तरवें सर्ग में सूनापरान्त देश के व्यापारी सार्थवाह पूर्ण को बुद्ध द्वारा प्रव्रजित करने का वर्णन है । तदनन्तर बुद्ध द्वारा उस देश को जाकर वहाँ के सभी नागरिकों को धर्मोपदेश देने का वर्णन है ।

मह्यंमण, नागद्वीपागमन, कल्याणागमन नामक पिचत्तरवें से सत्तर सर्ग तक ग्रन्थ प्रणेता ने तथागत के कल्याणकारी चरित्र का वर्णन किया है । सर्वप्रथम पिचत्तरवें सर्ग में वर्णन है कि यक्षों को संकट से बचाने के लिये बुद्ध का पदार्पण लंका में हुआ । बोधि से नवमें मास में बुद्ध के श्रीलंका में पधारते ही इन्द्र द्वारा तूफान उत्पन्न कर चतुर्विध अन्धकारमय वातावरण उत्पन्न कर दिया गया । तभी व्यग्र हुये उन यक्षों ने बुद्ध से अपनी रक्षा की अभियाचना की और वे बुद्ध की विभिन्न प्रकार से स्तुति, वन्दना एवं अर्चना करने लगे । तदनन्तर उन्होंने बुद्ध से अभियाचना की कि हमें आज्ञा दीजिये हमारे द्वारा क्या करने योग्य कार्य है । इस पर बुद्ध ने यक्षों को आज्ञा दी कि तुम सभी गिरिद्वीप पर चले जाओ, जिससे यह देश जनसामान्य के बसने योग्य हो जाये । तदनन्तर भगवान् तथागत ने उन्हें प्राणी हिंसा से विरति एवं मांस भक्षण न करने का आदेश भी दिया । उन्होंने कहा कि प्राणी हिंसा एवं मांस भक्षण यह सभी पापकृत्य है । यदि प्राणी मांस भक्षण नहीं करेगा, तो कसाई किसी के लिये पशुवध नहीं करेगा । यहाँ बुद्ध का यक्षों को यही उपदेश है कि मांसाहारियों की अपेक्षा शाकाहारी व्यक्तियों का चित्त निर्मल होता है और वे अपेक्षातर बलिष्ठ भी होते हैं । यही नहीं शाकाहारी अन्न के भक्षण से आरोग्य लाभ होता है ऐसा वैद्यों का अभिकथन है । यदि संक्षेप में कहा जाये तो अहिंसा ही मेरे धर्म का सार है—

"अहिंसा मम धर्मस्य सारभूता समासतः ।

अगं प्रधानं तस्यात्र अन्नमांसस्य विवर्जनम् ।।"

तदनन्तर सुमनदेव ने बुद्ध से पूजा करने योग्य वस्तु की अभियाचना की । बुद्ध ने अपने कुछ केश सुमनदेव को दिये । उन्होंने इन केशों को महाशिलाओं पर बनाये गये स्तूपों में रख दिया । इस प्रकार भगवान् बुद्ध के प्रथम आगमन से श्रीलंका निःसन्देह धर्मविषयक संदेह से मुक्त हो गया ।

छिहत्तरवें सर्ग में बोधि से पाँचवे वर्ष के अनन्तर भगवान् बुद्ध का क्षुद्रोदर नाग तथा महोदर नाग के युद्ध के अवसर पर लंका में द्वितीय आगमन का उल्लेख है । इन दोनों नागों का मामा-भान्जे का सम्बन्ध था । इन दोनों का रत्नजटित पलंग पर अधिकार हेतु कलह ने युद्ध का रूप धारण कर लिया था । बुद्ध के दर्शन करते ही दोनों नागों का कलह रूपी युद्ध शान्त हो गया । तथागत ने उन्हें तृष्णा के त्यागने का उपदेश

दिया और अपने कथन की सम्पुष्टि में कहा कि सभी युद्धों का कारण तृष्णा ही है । तृष्णा का त्याग न करने वाले धनी व्यक्ति रत्नजटित पलंग पर भी निद्रा सुख को प्राप्त नहीं करता, जबकि सन्तोषी प्रवृत्ति वाले मुनि पत्रासन पर भी निद्रा-सुख के लाभी होते हैं । तदनन्तर आचार्य प्रवर शान्तिभिक्षु शास्त्री का अभिकथन है कि आज सभी प्राणियों को जीविका प्राप्त होनी चाहिये क्योंकि जीविका के अभाव में ही मनुष्य पापकृत्यों में संलग्न होता है । इस प्रकार भगवान् तथागत ने अपने धर्म की सारभूता अहिंसा तथा प्रजा द्वारा दोनों नागों में एकता की स्थापना कर दी ।

सत्तरवें सर्ग में बोधि से आठवें वर्ष के बाद मण्यक्षकनाग के निमन्त्रण पर तथागत तीसरी बार लंका स्थित कल्याणी नामक स्थान पर पधारे । वहाँ पर उन्होंने प्राणियों को महाकरुणा का उपदेश दिया । यहाँ बुद्ध का अभिमत है कि करुणा के बिना लोक की स्थिति ही संशय को जन्म देनेवाली है—

"बुद्धैः प्रवर्तिते धर्मे कारुण्य वस्तु सारवत् ।

बिना करुणया लोक स्थितिः संशयिता ननु ॥"

उन्होंने कहा कि अन्न और ज्ञान सब सुखों के हेतु हैं । इसलिये अन्नदान तथा ज्ञानदान द्वारा करुणा का विस्तार करना चाहिये । मण्यक्षक नाग को महाकरुणा का उपदेश देकर वे 'सुमनदेव' के निवास स्थान समन्तकूट पर्वत पर पहुँचे । वहाँ पर कवि द्वारा समन्तकूट पर्वत का काल्पनिक एवं मनोहारी वर्णन किया गया है ।

कौशाम्बीप्रसादन नामक अठहत्तरवें सर्ग में वर्णन है कि हिमालय में निवास करने वाले अनेक मुनियों तथा घोषित आदि वैश्यों ने तथागत को वर्षावास के लिये कौशाम्बी आने का निमन्त्रण दिया । भगवान् उनका निमन्त्रण स्वीकार कर चारिका करते हुये कुरुदेश पहुँचे । वहाँ माकन्दी नामक ब्राह्मण ने तथागत से अपनी पुत्री का विवाह करने की अभिलाषा प्रकट की परन्तु तथागत ने अस्वीकार कर दिया । इससे वह कन्या तथागत से द्वेष रखने लगी । शीघ्र ही उसका विवाह कौशाम्बी नरेश उदयन से हो गया । चारिका करते हुये जब तथागत कौशाम्बी पहुँचे तो घोषित आदि वैश्यों ने उनका स्वागत किया परन्तु माकन्दी ने उनका तिरस्कार किया । तदनन्तर रानी सामवती की सेविका कुब्ज्या उत्तरा तथागत के उपदेशों को राजमहल में आकर सुनाने

लगी जिससे राजा उदयन भगवान् बुद्ध का आदर-सत्कार करने लगे । इससे क्रोधित होकर माकन्दी ने रानी सामवती के घर में आग लगा दी । राजा ने सम्पूर्ण वृत्तान्त जानकर माकन्दी को भी नष्ट कर दिया । अन्त में तथागत द्वारा राजा की बूढ़ी हथिनी भद्रवती का उद्धार करने का वर्णन है ।

भिन्नसंघान नामक उनासीवें सर्ग में वर्णन है कि बोधि प्राप्ति से दसवें वर्ष पश्चात् बुद्ध के संघ में फूट पड़ गयी जिससे दुःखी होकर, वे कौशाम्बी छोड़कर, कोसल देश के पारिलेयक नामक नगर में जाकर निवास करने लगे । तदनन्तर आनन्दमुनि उन्हें श्रावस्ती ले गये ।

चतुः शिष्य संग्रह नामक अस्सीवें सर्ग में कृषक, ब्राह्मण, असाधु भिक्षु, श्रेष्ठी पुत्र सुदत्त तथा सिंह सेनापति चार नये शिष्यों को धर्म शिक्षा देने का वर्णन है ।

सुप्रबुद्धवैरकथा नामक इक्यासीवें सर्ग में वर्णन है कि भगवान् बुद्ध के मामा सुप्रबुद्ध उनकी प्रसिद्धि के कारण उनके द्वेष रखते थे । तदनन्तर उस पापी सुप्रबुद्ध को पृथ्वी द्वारा फटकर निगलने का वर्णन है ।

आरवी विहार नामक ब्यासीवें सर्ग में श्रावस्ती से आरवी जाकर बुद्ध ने वहाँ एकता का उपदेश दिया और बौद्ध धर्म की शिक्षा दी ।

पेशस्कारसुतापदान नामक तिरासीवें सर्ग में बुद्ध ने आरवी से चलिकाचल जाकर एक बुनकर की पुत्री को अपने धर्म का उपदेश दिया है । इस सर्ग में तथागत तथा बुनकर की पुत्री के मध्य वचन-प्रतिवचनों द्वारा जगत् की अनित्यता का बोध होता है । तदनन्तर बुनकर की पुत्री की मृत्यु पर बुनकर द्वारा किये गये विलाप तथा तथागत की शरण में जाने का वर्णन है ।

आनन्दापदान नामक चौरासीवें सर्ग में बोधि प्राप्ति के बीसवें वर्षावास के पश्चात् तथागत के छप्पन वर्ष के हो जाने पर श्रावस्ती आगमन का उल्लेख है । वहाँ भगवान् ने अपनी वृद्धावस्था के कारण संघ के समक्ष सेवा-सुश्रूषा करने वाले की मांग की । तब शारिपुत्र तथा अन्य अनेक शिष्य तथागत से उनके सेवक बनने की आज्ञा माँगते हैं, लेकिन तथागत सभी की प्रार्थनाको अस्वीकार कर देते हैं । तदनन्तर आनन्द तथागत की वन्दना करते हैं कि यदि भगवन् मुझे आठ वर दें, तो मैं आपका सेवक बनना स्वीकारता हूँ । इस पर तथागत आनन्द को आठ वर देकर उन्हें अपना सेवक बना लेते हैं जो कि बौद्धविनय के मूलाधार हैं ।

तदनन्तर इस सर्ग में उल्लेख है कि राजा प्रसेनजित् श्रावस्ती में बुद्ध के आगमन को कोसलदेश के लिये मोक्षदायक मानते हैं और अपने को अहोभाग्य मानते हैं ।

विशाखावदान नामक पिचयासीवें सर्ग में वर्णन है कि धनञ्जय की पुत्री विशाखा का विवाह मृगारि श्रेष्ठी के पुत्र पुण्यवर्धन गुप्त से होता है । विवाहोत्सव के अवसर पर विशाखा निग्रन्थों को देखकर अपने श्वसुर को पुराणभोजी कहती है, जिससे अपमानित होकर मृगारि श्रेष्ठी विशाखा को गृहत्याग की आज्ञा देता है । विशाखा अपने श्वसुर से कहती है कि - " मैं जिस कुल में उत्पन्न हुई हूँ वहाँ सभी बुद्ध भक्त हैं तथा आप पुण्य के उपार्जन से विमुख हैं । इसलिये मैंने आपको पुराणभोजी कहा है ।" विशाखा के वचनों से मृगारि का अज्ञान दूर हो गया और उसने विशाखा को माता जैसे पद पर प्रतिष्ठित कर दिया ।

अंगुलिमालदमन नामक छियासीवें सर्ग में डाकू अंगुलिमाल को तथागत द्वारा 'नित्यं स्थितो अस्मि ' के सरल एवं प्रभावी उपदेश तथा अहिंसा के द्वारा बौद्ध धर्म में प्रव्रजित करने का वर्णन है । तदनन्तर उल्लेख है कि राजा प्रसेनजित् बुद्ध के दर्शनार्थ सैनिक वेश में गये तो बुद्ध ने कहा- " मैंने वह भयंकर डाकू संघ में प्रव्रजित कर दिया है ।" इस पर राजा को आश्चर्य एवं अत्यन्त प्रसन्नता हुई ।

जीवकसुभद्रापदान नामक सत्तासीवें सर्ग में राजा बिम्बसार के राजवैद्य जीवक के वैदुष्य एवं चतुर्दिक यश का वर्णन है । तदनन्तर उल्लेख है कि अनाथपिण्ड की पुत्री का विवाह उग्रपुरी के श्रेष्ठी के पुत्र के साथ हुआ जो जैन धर्म का अनुयायी था । मंगल के लिये आगत दिग्गम्बरों को देखकर सुभद्रा ने अपनी आँखें बन्द कर लीं क्योंकि उसने उन्हें अपूजनीय माना । यहाँ पर सुभद्रा का कथन है कि- "बौद्ध श्रमण शान्त चित्त, शुभ कर्म करने वाले, ब्रह्मचर्य का पालन करने वाले, प्रत्येक परिस्थिति में सन्तुष्ट रहने वाले, सुख-दुःख में अविचल गति वाले तथा प्रशंसा एवं निन्दा में समान रहने वाले होते हैं । इस प्रकार अपनी सास को पूजनीय बौद्ध श्रमणों की विशेषता का विस्तार से वर्णन है । तदनन्तर सुभद्रा द्वारा निमन्त्रित तथागत द्वारा सम्पूर्ण उग्रपुरी को उपदेश देने का वर्णन है ।

बोधिरूपण नामक अठासीवें सर्ग में आनन्द भगवान् बुद्ध से उनकी पूजा की विधि पूछते हैं । वे पूछते हैं कि 'तथागत यदि श्रावस्ती में न हों तो आगन्तुक दर्शनार्थी उनकी किस प्रकार पूजा करें ।' आनन्द की इस

प्रार्थना पर तथागत कहते हैं कि, " सभी प्राणियों का हित करना, कल्याण वित्त उत्पन्न करना, षट् पारमिताओं का अभ्यास करना, जाति सम्बन्धी भेद-भाव न करना, पञ्चशील का पालन करना, किसी से द्वेष न करना तथा त्रिरत्न की शरण में जाना "- मेरी सर्वोत्तम पूजा है । तदनन्तर प्रतिमान रूप में गया में स्थित बोधिवृक्ष की पूजा की चर्चा है ।

धनपतिब्राह्मणोपकार नामक नवासीर्वे सर्ग में श्रावस्ती के एक धनपति ब्राह्मण का वर्णन मिलता है । उस ब्राह्मण के चार पुत्र थे जिनमें उसने अपना सम्पूर्ण धन विभाजित कर दिया । विभाजन में प्राप्त धन को लेकर पुत्रवधुओं ने श्वसुर को अपने घर से निकाल दिया । अपमानित वह ब्राह्मण जैत्रवन में स्थित तथागत के समीप पहुँचा और अपनी व्यथा का वर्णन भगवान् के समक्ष किया । तब तथागत ने उसे पाँच गाथायें दी जिनका वह चौराहे और बाजारों में पाठ करने लगा । इन गाथाओं को सुनकर पुत्र अपमानित हुये तथा अपने पिता से क्षमायाचना की । तदनन्तर ब्राह्मण के चारों पुत्र भी अपने पिता के समान भगवान् बुद्ध की शरण में चले गये ।

ब्राह्मण धर्मदिग्दर्शन नामक नव्वे सर्ग में वर्णन है कि 'गौतमी' का पुत्र मृत्यु को प्राप्त हो जाता है, जिससे वह अत्यन्त उद्विग्न हो विलाप करने लगती है । लोगों ने उसे भगवान् बुद्ध के पास अपने पुत्र के उपचारार्थ जाने को कहा । भगवान् के पास जाकर उसने अपने पुत्र को जीवनदान देने के लिये औषधी मांगी । इस पर भगवान् ने उससे जिस घर में आज तक कोई न मरा हो वहाँ से सरसों के दाने लाने के लिये कहा । गौतमी इतस्ततः घूमती रही, किन्तु उसे सरसों के दाने नहीं मिले । बुद्ध के इस वचन के द्वारा उसे जगत् की अनित्यता का बोध हो गया । तदनन्तर कोसलदेश के ब्राह्मण तथागत से पूर्वयुग के ब्राह्मणों के आचरण के सम्बन्ध में प्रश्न करते हैं । इस पर तथागत ने पूर्वयुग के ब्राह्मणों के सदाचार की भूरि-भूरि प्रशंसा की ।

रोगिपरिचर्या नामक इक्यानवे सर्ग में जैत्रवन में विहार करते हुये तथागत अपने अन्य सहयोगी भिक्षुओं द्वारा अपेक्षित रोगी भिक्षु को देखते हैं तथा उसकी सेवा करते हैं । तदनन्तर सभी भिक्षुओं को एकत्रित कर तथागत उन्हें रोगग्रस्त होने पर परस्पर सेवा करने की शिक्षा देते हैं । वे भिक्षुओं को सम्बोधित करते हुये

कहते हैं कि रोगी की सेवा सबसे बड़ी सेवा है तथा वह बुद्ध की सेवा के ही समान है—

"अत्र सर्वासु सेवासु रोगिसेवा महत्तमा ।

रोगिसेवां प्रकुर्वाणा बुद्ध सायुज्य भागिनः ॥"

साकेतभूषण नामक बयानवे सर्ग में चरिका करते हुये तथागत साकेत नगर में प्रविष्ट होते हैं । वहाँ एक ब्राह्मण—ब्राह्मणी उनका पुत्र कहकर स्वागत करते हैं तथा तथागत को संघ अपने घर भोजन करवाते हैं । तथागत को पुत्रवत् स्नेह के कारण वे ब्राह्मण - ब्राह्मणी तथागत-माता, तथागत-पिता के रूप में प्रसिद्ध हो जाते हैं । संघ द्वारा इस स्नेह का कारण पूछे जाने पर तथागत कहते हैं कि 'वे पूर्वजन्म में उनके माता-पिता थे ।' तदनन्तर वे संघ को बौद्ध-धर्म का सारगर्भित उपदेश देते हैं ।

बहुजन-प्रहर्ष नामक तिरानवें सर्ग में वर्णन है कि मैत्रायणी पुत्र पूर्ण आदि अधिसंख्यक व्यक्तियों को तथागत ने अपने उपदेश के द्वारा निर्वाण लाभ बना दिया । तदनन्तर कुशीनगर में भल्लबन्धुरोच, श्रावस्ती में जानुश्रोणि ब्राह्मण, आश्वलायन, प्रौष्ठपाद तथा कोसलदेश के वशिष्ठ को ब्रह्मविहारों का उपदेश देकर कृतकृत्य कर दिया । इसके अतिरिक्त भारद्वाज, अम्बष्ठ, चक्रि, कूटदन्त, शोणदण्ड, श्रृंगार श्रेष्ठी, राष्ट्रपाल, द्रोण, राजकुमार अभय, नन्दमाता, उत्तरा, सत्यक, ब्रह्मायुष्म, मैथिल ब्राह्मणों, बक, ब्राह्मण शिशु, पटाचारा, छत्रपाणि, चित्र, गृहपति, रानी मल्लिका तथा कुण्डलकेशी इत्यादि कितने ही व्यक्तियों को तथागत ने चरिका कर उपदेश दिये । इस उपदेश के प्रभाव से वे सभी तथागत धर्म में प्रव्रजित हो गये । तदनन्तर सुप्रिया, सुभूति, सुप्रवासा, शैवल, भद्राकपिलायनी, कुमार काश्यप, राजा पायसी, राघव ब्राह्मण, महाकल्पिन्, सूचिलोमशयक्ष, पञ्चशिख का भगवान् बुद्ध की शरण में जाने का वर्णन है । अन्त में भगवान् की इन्द्र द्वारा स्तुति किये जाने का वर्णन है ।

अवर्णाख्यान नामक चौरानवें सर्ग में उल्लेख है कि तथागत का यश चतुर्दिक फैलता हुआ देखकर अन्य तैर्थिक तथागत से ईर्ष्या करते थे । उन्होंने तथागत पर दोषारोपण करने के लिये सुन्दरी तथा मोहिनी नामक स्त्रियों का सहारा लिया । तदनन्तर तथागत पर मिथ्यादोषारोपण करने वाले उन लोगों के पृथ्वी में समा जाने का वर्णन है ।

देवदत्तापकार नामक पिचयानवें सर्ग में देवदत्त भगवान् बुद्ध की हत्या करने का प्रयास करता है । वह मृधुकूट पर्वत से भगवान् पर शिला से प्रहार करता है, जिससे भगवान् बच जाते हैं । तदनन्तर देवदत्त उन्हें मदमस्त नालगिरि नामक हाथी से कुचलवाने का प्रयास करता है तथा भगवान् बुद्ध ने हाथीको सम्बोधित करते हुये कहा है- " हे मजेन्द्र होश मे आओ ।" इस प्रकार वह हाथी भगवान् बुद्ध के समक्ष नतमस्तक हो जाता है ।

अजातशत्रु प्रश्न नामक छियानवें सर्ग में पिता बिम्बसार की हत्या से विचलित हुये अजातशत्रु द्वारा प्रायश्चित्त का वर्णन है । इसके लिये वह भगवान् बुद्ध की शरण में जाता है तथा उनके समक्ष पापदेशना करता है । सर्ग के अन्त में तथागत द्वारा श्रामण्य फल का वर्णन किया गया है ।

विदूडभापकार नामक सत्तानवें सर्ग में राजा प्रसेनजित् के शाक्यकन्या वासवक्षत्रिया से विवाह तथा विदूडभ नामक पुत्रोत्पत्ति का वर्णन है । तदनन्तर वर्णन है कि विदूडभ का अपनी नानी के घर अत्यधिक अपमान हुआ उन्हें दासी पुत्र कहकर सम्बोधित किया गया । इस अपमान से क्रोधित हो उसने शाक्यों का विनाश करने की प्रतिज्ञा की । वह अपनी सेना लेकर शाक्यराजाओं से युद्ध के लिये सीमा पर गया परन्तु तथागत को वहाँ देखकर उनके सामने नतमस्तक हो गया । इस प्रकार तीन बार उस विदूडभ के प्रयास विफल हो गये । चौथी बार बुद्ध को सीमा पर नदेखकर शाक्यों का संहार कर अचिरवती नदी पर विश्राम करने लगा । अन्त में विदूडभ के पापों के कारण नदी द्वारा उसे अपनी जलधारा में बहाने का उल्लेख है ।

धर्मात्कर्ष नामक अठानवें सर्ग में तथागत द्वारा बोधि प्राप्ति से लेकर उनासी वर्ष की आयु पर्यन्त भगवान् तथागत की लीलाओं का सार प्रस्तुत किया गया है । अन्त में ग्रन्थ प्रणेता आचार्य प्रवर शान्तिभिक्षु शास्त्री का अभिकथन है कि मार-विजयी, पाप त्यागी, पुण्यसंचयी लोग जगत के रक्षक होते हैं । ऐसे संसार के प्रभुओं की मैं शरण जाता हूँ :

" विहाय पापं प्रविधाय पुण्यकं

विशोध्य चित्तं मदनं जयन्ति ये ।

त एव रक्षन्ति हिताशया जगत्

जगत्प्रभून् ताज् शरणं ब्रजाम्यहम् ।।"

चरमचारिका नामक नित्यानर्वे सर्म में तथागत के महापरिनिर्वाण का वर्णन प्राप्त होता है । उनासी वर्ष की आयु में तथागत चारिका करते हुये वेणुमती ग्राम पहुँचे वहाँ पर मार ने तथागत के समीप जाकर उनसे अभियाचना की कि, " आपके सभी समकालीन राजा तथा श्रावक आदि निर्वाण को प्राप्त हो चुके हैं । अतः आप भी निर्वाण को प्राप्त करें ।" इस पर दुष्टमति मार के द्वारा की गयी अभियाचना को केवल इसी बार तथागत ने उचित माना तथा स्वयं के निर्वाण के लिये हृदय में विचार करने लगे, जिससे पृथ्वी भी प्रकम्पित होने लगी । तदनन्तर चारिका करते हुये भगवान् बुद्ध पावा-पुरी पहुँचे । वहाँ उन्होंने चुन्द का सत्कार ग्रहण किया । उस भोजन से उत्पन्न पीड़ा से पीड़ित तथागत कुशीनगर पहुँचे । वहाँ सालवृक्षों के बीच शय्या पर पड़े हुये बुद्ध ने अपना अन्तिम उपदेश दिया । अन्त में तथागत के अन्तिम संस्कार तथा धातु विभाजन का वर्णन है । तथागत के इन अवशेषों पर विभिन्न राजाओं द्वारा अनेक स्तूपों का निर्माण किया गया ।

प्रवृत्ताध्ववर्णन नामक सौर्वे सर्म में लेखक शान्तिभिक्षु शास्त्री द्वारा आधुनिक युग स्थिति का अत्यन्त व्यवहारिक चित्रण किया गया है । आचार्य प्रवर लिखते हैं कि आज मनुष्य हिंसक, दुःशील, परिग्रही, स्वार्थ लिप्सु, क्रूर एवं करुणाविहीन हो गया है । अन्त में आचार्य प्रवर सभी प्राणियों को धर्मानुसार आचरण करने के लिये प्रेरित करते हैं तथा संघ की प्रतिष्ठापना पर बल देते हैं ।

अन्त में आचार्य प्रवर ने ग्रन्थ की पुष्पिका के रूप में आलोच्य ग्रन्थ का परिचय दिया है । 13श्लोक पुष्पिका के रूप में निबद्ध है, जिसमें ग्रन्थ के प्रयोजन, ग्रन्थ की समाप्ति एवं स्वयं ग्रन्थकर्ता तथा उसके परिवार आदि का संक्षिप्त वर्णन मिलता है ।

(ख) ग्रन्थ का महाकाव्यत्व :

भगवान् बुद्ध ने पालि त्रिपिटक में अपने जीवनवृत्त का स्वानुभूत वर्णन किया है । कालान्तर में ललितविस्तर आदि वैपुल्यसूत्रों में भी भगवान् बुद्ध के जीवनवृत्त का अलौकिक वर्णन प्राप्त होता है । आचार्य अश्वघोष ने भी 'बुद्धचरित एवं सौन्दरानन्द' काव्य के माध्यम से बौद्ध धर्म का प्रचार किया है । बुद्धचरित में भी जन्म से लेकर सम्बोधि प्राप्ति तक का वर्णन ग्रन्थकर्ता ने किया है । इसी परम्परा को आगे बढ़ाते हुये आचार्य प्रवर डॉ. शान्तिभिक्षु शास्त्री ने 'बुद्धविजयकाव्य' नामक महाकाव्य का प्रणयन किया है ।

प्रस्तुत महाकाव्य में प्रकृति चित्रण भी सर्वथा व्याप्त है । बोधि प्राप्ति के समय वन में स्थित तथागत की वृक्षों, पुष्पों, पत्रों एवं पक्षियों द्वारा अनेक प्रकार से सेवा का वर्णन है ।

"पवनाकंपितस्तस्य पुरतो ननृतुर्लताः ।

फुल्लपुष्पस्मितैश्चारुचलत्पल्लवपाणिभिः ।।¹

केवल अचेतन एव जड़ पदार्थों द्वारा ही नहीं अपितु पशु-पक्षियों द्वारा भी तथागत की विभिन्न प्रकार से सेवा की गयी । कोकिल के मधुर गान ने उन्हें आनन्दित किया तथा वानर एवं हाथी द्वारा उनकी सेवा की गयी । ग्रंथ में वैशाली, श्रावस्ती, तक्षशिला, मगध आदि देशों तथा नैरजंता, अचिरवती, सरयू आदि नदियों का वर्णन प्राप्त होता है । जहाँ गृध्रकूट पर्वत एवं समन्तकूट पर्वत का वर्णन है वहीं चन्द्रोदय तथा सूर्योदय का यथास्थान वर्णन है ।

ग्रन्थ प्रणेता ने सिद्धार्थ के अन्तःपुरविहार तथा वनविहार का वर्णन करते हुये उनकी उपवन क्रीड़ाओं का अत्यन्त विलासपूर्ण वर्णन किया है । जलविहार करती हुयी स्त्रियाँ सिद्धार्थ को किस प्रकार आनन्दित किया करती थीं उसका वर्णन कवि के शब्दों में दृष्टव्य है—

"पयोभिः प्रीणयन्त्यस्ता उच्छलद्भिः कराहतैः ।

प्रहृष्टा अभवन् कान्तं पीडयित्वा पयोधरैः ।।²

आलोच्य ग्रन्थ में सिद्धार्थ-यशोधरा परिणय , राजा उदयन-माकन्दी परिणय, श्रेष्ठी का पुत्र पुण्यवर्धन-विशाखा परिणय, उग्र श्रेष्ठी पुत्र तथा अनाथपिंडव पुत्री सुभद्रा के परिणयों का मनोहारी वर्णन है । वहीं दूसरी ओर राहुल की पुत्र के रूप में उत्पत्ति का, विदूडभ की पुत्र के रूप में उत्पत्ति इत्यादि का भी वर्णन किया गया है ।

¹ बु. वि. का. : 34/36

² वही, 21/10

काव्य में षडऋतुओं का अत्यन्त स्वाभाविक एवं मनोहारी वर्णन किया है । वर्षाऋतु का वर्णन करते हुये कवि लिखता है कि जिस प्रकार भगवान् बुद्ध करुणा रूपी जल बरसा रहे थे उन्हें देखकर मेघों ने भी उनका अनुकरण किया—

“चित्तक्षेत्रे नृणां रुक्षेऽभिबर्षन्तं कृपापयः ।

बुद्धं वीक्ष्य बभूवोत्को द्यौः पयोमुक् स्थले -स्थले ॥”¹

शरद ऋतु के वर्णन में आचार्य प्रवर शान्तिभिक्षु शास्त्री ने अनेक उपमाओं के द्वारा प्राणियों एवं पशु-पक्षियों की मनःस्थिति एवं उनकी प्रसन्नता को दर्शाया है । उन्होंने शरत्काल में उत्पन्न ईखों की मधुरता की तुलना दिव्यलोक में उत्पन्न होने वाले अमृत से की है -

“माधुर्यस्य समुत्कर्षो यो रसस्यामृते दिवि ।

स एव धनतां याति शरदीक्षुगणे भुवि ॥”²

तदनन्तर बसन्त ऋतु के अनुपम दर्शनीय दृश्यों का वर्णन आचार्य श्रेष्ठ ने आलोच्य ग्रंथ में किया है । आम के बौर से आच्छादित आम्र की शोभा का कैसा मनोहारी वर्णन है—

“पल्लवैर्हरितश्यामा नयानान्ददायकाः ।

रसाला उज्ज्वला भान्ति मंजरीभिः समावृताः ॥

मंजरीचूर्णसंछन्नं सहकार महीतलम् ।

चतुष्कस्थलवद् भाति रविरश्मिभिरर्चितम् ॥”³

महाकाव्यत्व की सिद्धि के लिये अन्य अंगभूत कथायें जैसे—नागों का आपसी युद्ध, राजा बिम्बसार द्वारा अपने मित्र तिष्य तथा पौष्करसाति को दूत प्रेषण आदि का भी समावेश किया गया है ।

¹ बु. वि. का. 46/1

² वही, 50/33

³ वही, 57/18, 20

प्रत्येक सर्ग में एक ही छन्द अनुष्टुप का प्रयोग हुआ है। सर्ग न तो अति सूक्ष्म है, न अति विस्तृत। प्रत्येक सर्ग में इक्यावन श्लोक हैं। आलोच्य ग्रंथ में वैदिक ऋषियों, अनेक यज्ञों तथा मन्त्रों का वर्णन है। इसके अतिरिक्त उन्होंने अपने समकालीन आराड कालाम, उड्गक, पूर्णकाश्यप, मस्करी गोशाल, अजित केशकम्बली, प्रकृथ कात्यायन, वैयष्टि पुत्र संजय आदिविवारकों का उल्लेख भी किया है।

भारतीय चिन्तन में पुरुषार्थ चतुष्टय-धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष को जीवन का लक्ष्य माना गया है। बौद्ध धर्म अर्थ एवं काम की अपेक्षा धर्म एवं मोक्ष को अधिक महत्वपूर्ण मानता है। यह धर्म जीवन का परमलक्ष्य निर्वाण अर्थात् मोक्ष को मानता है। इसलिये इस ग्रन्थ का फल बुद्धत्व की प्राप्ति है।

इस प्रकार प्रस्तुत आलोच्य ग्रन्थ को महाकाव्य स्वीकार किया जा सकता है। महाकाव्य के प्रणेता आचार्य प्रवर स्वयं इसे महाकाव्य के लक्षणों से उपेत मानते हैं। ग्रन्थ के अन्त में पुष्पिका में उसका कथन है—

"इदं हि काव्यं सरसं गुणान्वितं,

शुभ प्रभावं सुगताश्रयान्वितम् ।

समर्थ शब्दार्थ परायणं नवं,

महानुभावः प्रपठन्तु सादरम् ॥"¹

(ग) लेखक का व्यक्तित्व एवं कृतित्व :

साहित्य चक्रवर्ती आचार्य शान्तिभिक्षु शास्त्री जी का जन्म उत्तर प्रदेश में लखनऊ नगर से अट्ठाईस किलो. दूर स्थित बीबीपुर नामक ग्राम में 27 दिसम्बर 1912 ई. में हुआ। इनके पिता पण्डित अयोध्या प्रसाद त्रिपाठी तथा माता रुक्मिणी देवी थीं। सन् 1938 ई. में शास्त्रीजी को स्वर्ण पदक के साथ साहित्याचार्य की पदवी जयपुर में प्राप्त हुयी। सन् 1938 एवं 1939 ई. में आचार्य शान्तिभिक्षु शास्त्री जी ने जयपुर राज्य-प्रजा-मण्डल के आन्दोलन में भाग लिया और छः मास का करावास जयपुर के मोहनपुरा कैम्प में बिताया।

¹ बु. वि. का. , पु.-11

बौद्ध विद्या के स्वाध्याय में शास्त्री जी ने विशेष परिश्रम किया तथा अध्यापन कार्य में जीवन बिताया । विद्यालंकार विद्यायतन श्रीलंका में 1946 से 1947 तक प्रवक्ता के रूप में तथा विश्वभारती शान्तिनिकेतन में 1948 से 1956 तक रहे । शान्तिनिकेतन में 11 जनवरी, 1953 को आचार्य शान्तिभिक्षुशास्त्री जी ने सुजाता शमय जी से विवाह किया तथा 2 सितम्बर 1954 में पुत्री बोधिश्री का जन्म हुआ ।

शास्त्री जी ने सपरिवार तीन वर्ष तक जर्मनी में प्रवास किया । वे सन् 1956 से 1959 के अन्तराल में कार्लमार्क्स यूनिवर्सिटी लाइपज़िग (Leipzig) में अध्यापन कार्य करते रहे । उन्होंने यहीं से सन् 1959 में पी-एच. डी. की उपाधि भर्तृहरि पर लिखे शोध-प्रबन्ध पर प्राप्त की । जर्मनी प्रवास के पश्चात् भिक्षु जी ने श्रीलंका के विद्यालंकार विश्वविद्यालय के संस्कृत-विभाग में प्रोफेसर तथा विभागाध्यक्ष के रूप में तेरह वर्ष सन् 1959 से 1972 तक बिताये । यहाँ से सेवानिवृत्ति के पश्चात् वे हिमाचल प्रदेश आये और 'सोलन' नगर में 'शान्तिसदन' नामक निवास का निर्माण कराया । सन् 1978 में तीन मास तक वे दिल्ली विश्वविद्यालय के विजिटिंग प्रोफेसर रहे । सन् 1977 में साहित्य अकादमी द्वारा उन्हें उनके ग्रन्थ 'बुद्धविजयकाव्यम्' पर पुरस्कार प्रदान किया गया जिसे उन्होंने सन् 1978 में हैदराबाद में हुये उत्सव पर प्रो. उमाशंकर जोशी जी से ग्रहण किया । सन् 1979 में केलानिया विश्वविद्यालय श्रीलंका द्वारा उन्हें डी.लिट्. की उपाधि से सम्मानित किया गया जिसका संस्कृत नाम साहित्य चक्रवर्ती है ।

आचार्य शान्तिभिक्षुशास्त्री जी की अनेक कृतियाँ प्रकाशित हो चुकी हैं एवं अनेक अप्रकाशित हैं ।

शास्त्री जी की लेखनी श्रमोन्मुखी है तथा उनका जीवन स्वाध्याय तथा प्रवचन का जीवन था । उनका देहावसान 15 अक्टूबर, 1991 ई. में दिल्ली में हुआ था ।

प्रकाशित ग्रन्थ :

आचार्य शान्तिभिक्षु शास्त्री जी के प्रकाशित ग्रन्थ इस प्रकार हैं—

(1) **महायान :**

यह एक हिन्दी प्रबन्ध है तथा शान्तिनिकेतन से सन् 1948 में प्रकाशित हुआ । इस प्रकाशित ग्रन्थ में महायान के समग्र सिद्धान्तों का सरल भाषा में विवेचन लेखक के द्वारा किया गया है । अन्त में उपलब्ध बौद्ध साहित्य के ग्रन्थों की सूची भी निर्दिष्ट है ।

(2) बोधचित्तोपादसूत्र शास्त्रम् :

यह ग्रन्थ मूल में लुप्त है तथा चीनी भाषा से संस्कृत में शास्त्री जी द्वारा प्रत्यनूदित है । यह शान्तिनिकेतन से सन् 1949 में प्रकाशित हुआ ।

(3) अभिघर्माभूतम् :

यह आचार्य घोषक का ग्रन्थ है, जो मूल में लुप्त है । शास्त्री जी द्वारा चीनी भाषा से संस्कृत में प्रत्यनूदित है तथा शान्तिनिकेतन द्वारा सन् 1953 में प्रकाशित हुआ ।

(4) ज्ञानप्रस्थानम् :

यह आचार्य कात्यायनी पुत्र का ग्रन्थ है जो कि मूल में लुप्त है । शास्त्री जी द्वारा चीनीभाषा से संस्कृत में प्रत्यनूदित है तथा शान्तिनिकेतन द्वारा सन् 1955 में प्रकाशित हुआ ।

(5) चर्यागीति कोष :

यह संस्कृत छाया, संस्कृत तथा अंग्रेजी भूमिका एवं टिप्पणियों सहित बौद्ध सिद्धों की अपभ्रंश भाषा में लिखित चर्यागीतियों का प्राचीन संकलन है । यह शान्तिनिकेतन द्वारा सन् 1955 में प्रकाशित हुआ ।

(6) बोधचर्यावतार :

आचार्य शान्तिदेव के पद्यमय ग्रन्थ का हिन्दी अनुवाद है जिसमें विस्तृत भूमिका के साथ-साथ बोधिचित्तानुशंसा, पापदेशना, बोधिचित्तपरिग्रह, बोधिचित्ताप्रमाद, संप्रजन्य-रक्षण, क्षान्ति-पारमिता, वीर्य-पारमिता, ध्यान-पारमिता, प्रज्ञा-पारमिता, बोधि परिणामना, ये दस परिच्छेद हैं । यह बुद्धविहार, रिसालदार पार्क, लखनऊ से सन् 1955 में प्रकाशित हुआ, द्वितीय मुद्रण 1983 में हुआ ।

(7) आवसमुच्चय alias वाक्यपदीय ब्रह्मकाण्डोद्भूतहरि :

यह लेखक का डाक्टरेट के लिये स्वीकृत शोध-प्रबन्ध है । लाइपज़िग (Leipzig) 1963 ।

(8) धर्मरामावदानम् :

यह संस्कृत भाषा में लिखित लघु जीवन काव्य है । यह श्रीलंका से सन् 1963 में प्रकाशित हुआ ।

(9) महायान चर्चा :

यह एक लघु संस्कृत - प्रबन्ध है तथा श्री लंका से सन् 1966 में प्रकाशित हुआ ।

(10) विक्रमार्चिचवैभवम् :

यह संस्कृत भाषा में प्रणीत लघु जीवन काव्य है तथा श्री लंका से सन् 1968 में प्रकाशित हुआ ।

(11) पञ्चस्कन्धप्रकरणम् :

यह आचार्य वसुबन्धु का अभिधर्म-ग्रन्थ है जो भोट भाषा से संस्कृत में प्रत्यनूदित, आंग्लभाषानुवाद, भूमिका एवं शब्दकोष सहित है । यह श्री लंका से सन् 1969 में प्रकाशित हुआ ।

(12) बौद्ध सिद्धान्त विमर्श :

इसमें हिन्दी में बौद्ध धर्म पर छः व्याख्यान हैं । यह ग्रन्थ दिल्ली विश्वविद्यालय से प्रकाशित हुआ है ।

(13) बुद्धविजयकाव्यम् :

यह संस्कृत भाषा में लिखित पाँच सहस्र श्लोकों का महाकाव्य है जिसमें भगवान् बुद्ध के जीवन, धर्म एवं दर्शन का विस्तृत वर्णन किया गया है । प्रस्तुत महाकाव्य सौ सर्गों में निबद्ध है तथा उन्नीस पर्वों में विभाजित है । यह 'सोलन' से सन् 1974 में प्रकाशित हुआ तथा सन् 1977 में साहित्य अकादमी द्वारा पुरस्कार से सम्मानित किया गया ।

(14) ललितविस्तर :

यह ग्रन्थ ललितविस्तर का हिन्दी अनुवाद है तथा सत्ताईस परिवर्तों में विभाजित है । इसमें तथागत के जन्म से लेकर बुद्धत्व प्राप्ति तक का वर्णन है । यह ग्रन्थ उत्तर प्रदेश, हिन्दी ग्रन्थ संस्थान, लखनऊ द्वारा सन् 1984 में प्रकाशित हुआ ।

अप्रकाशित ग्रन्थ :

आचार्य ज्ञान्तिभिक्षु शास्त्री जी के अप्रकाशित ग्रन्थ इस प्रकार हैं :

(1) बोधिचर्याभिनन्दन पद्यम् :(2) बुद्धोदयकाव्यम् :

यह हिन्दी अनुवाद सहित एक गीति काव्य है ।

(3) जीवनशतकम् :

प्रस्तुत ग्रन्थ आचार्य शान्तिभिक्षु शास्त्री जी की पद्यमयी जीवनी है ।

(4) पाणिनीयशिक्षाप्रवचनम् :

यह पाणिनी के वर्णोच्चारण शास्त्र की व्याख्या है ।

(5) सौन्दरानन्द :

अश्वघोष के सौन्दरानन्द पर लिखी गयी संस्कृत टीका है ।

(6) सौन्दरानन्द :

यह हिन्दी अनुवाद है ।

(7) अलंकार-शास्त्रम् :

संस्कृत में विश्वविद्यालय के अध्येता-के लिये अलंकार शास्त्रीय सकल तत्त्वों का निरूपण करने का अत्यन्त सरल संस्कृत में लिखित ग्रंथ है ।

(8) वाङ्.मयावतार :

व्याकरण, छन्द, अलंकार, रस एवं ध्वनि के तत्त्वों पर छात्रों के लिये अति उपयोगी ग्रन्थ ।

(9) मैट्रियलस फॉर ए क्रिटिकल एडीशन ऑफ दि ललितविस्तर :

ए कम्पैरेटिव एकाउन्ट ऑफ आक्सक्योर रिडींग्स एण्ड देयर लिब्ररन एक्यूवेलेन्ट्स ।'

(10) अशोकाभ्युदयकाव्यम् :

प्रस्तुत ग्रन्थ पाँच सहस्र श्लोकों में लिखा गया है । यह महाराजा अशोक की जीवनी तथा धर्मविजय सिद्धान्त का निरूपणकारण पद्यमय संस्कृत ग्रन्थ है । इसमें सौ सर्ग हैं ।

(11) सुभाषितकामधेनुः -

मूल संस्कृत सुभाषित तथा उसका हिन्दी अनुवाद है । प्रस्तुत ग्रन्थ को निष्पादित किया जा रहा है ।

(12) भगवच्चर्याकाव्यम् :

निराकार भगवान् तथा साकार भगवान् का दलबल- इस प्रतीक के आधार पर तुलनात्मक रूप में

धर्म-तत्त्वों का निरूपण । प्रस्तुत ग्रन्थ को भी निष्पादित करने की योजना है ।

(13) सुगतावदान :

घनाक्षरी पद्यबन्ध में भगवान बुद्ध का चरित्र हिन्दी भाषा में ।

इसके अतिरिक्त आचार्य शान्तिभिक्षु शास्त्री ने विविध शोध-पत्रिकाओं में शोध प्रकाशित किये हैं, जिनमें कुछ का विवरण इस प्रकार है :

<u>लेख का शीर्षक</u>	<u>पत्रिका का नाम तथा प्रकाशक</u>	<u>प्रकाशन वर्ष</u>
1- महाकारुणिक तथागत :	नया समाज	जून, 1956
2- बौद्धदर्शनस्य तार्किक आधारः	'अंजलि' ओ.एच. डे. ए. विजसेकरा अभिनन्दन ग्रन्थ ।	1970
3- काव्य में लोक बन्धुता : बौद्ध प्रयत्न	प्रोसिडिंग ऑफ इन्टरनेशनल बुद्धिस्ट कान्फ्रेंस जापानी मंदिर बोध गया (बिहार) ।	1980
4- क्षमा और सर्वात्मसमता के द्वारा हम सब एक हैं ।	प्रोसिडिंग्स ऑफ इन्टरनेशनल बुद्धिस्ट कान्फ्रेंस, जापानी मंदिर बोध गया (बिहार) ।	1980
5- बौद्धों की तिब्बती भाषा में अनुवाद क्षमता	लद्दारखुप्रभा, केन्द्रीय बौद्ध संस्थान, चोगलभ्रसर, लेह, लद्दारख ।	1986
6- दि लॉ ऑफ कर्म इन बुद्धिज्म	बोधिरश्मि, फर्स्ट इन्टरनेशनल कान्फ्रेंस बुद्धिज्म एण्ड नेशनल कल्चर्स, नई दिल्ली ।	1984

इसके अतिरिक्त आचार्य शान्ति भिक्षु शास्त्री ने देश एवं विदेशों में भी बौद्ध धर्म के अध्ययन-अध्यापन का कार्य किया तथा उनके अनेक लेख विदेशी पत्र-पत्रिकाओं में भी प्रकाशित होते रहे हैं, जिनका सम्प्रति विवरण प्रस्तुत करना सम्भव नहीं है ।

(घ) ग्रन्थ प्रणयन का प्रयोजन :

प्राचीन ग्रन्थकार परम्परागत रीति के अनुसार ग्रन्थ के प्रारम्भ में मंगलाचरण के अनन्तर अपने ग्रन्थ निर्माण के प्रयोजनों का भी निर्देश करते रहते थे । संस्कृत के प्रख्यात काव्यशास्त्रियों में से भामह, रुद्रट, वामन, भोज, कुन्तक, मम्मट, हेमचन्द्र और विश्वनाथ ने इस रीति का ही पालन किया है । आचार्य भरत ने काव्य को धर्म, यश और आयु का साधक, हितकारक, बुद्धिवर्धक तथा लोकोपदेशक माना है । वहाँ आचार्य भामह ने धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष रूपी चारों पुरुषार्थों तथा समस्त कलाओं में निपुणता को , प्रीति तथा कीर्ति को उत्तम काव्यरचना का उद्देश्य माना है :

" धर्मार्थकाममोक्षेषु वैचक्षण्यं कलासु च ।

करोति कीर्तिं प्रीतिं च साधुकाव्यनिबन्धनम् ।।"¹

इसके उपरान्त प्रायः सभी परवर्ती आचार्यों के सम्मुख काव्य-प्रयोजनों के विषय में भामह का ही आदर्श रहा है । उन्हीं के अनुकरण में एक ओर रुद्रट एवं कुन्तक ने स्वसम्मत काव्यप्रयोजनों में चतुर्वर्ग को भी स्थान दिया । आचार्य विश्वनाथ ने चतुर्वर्ग की प्राप्ति और अग्निपुराणकार ने मोक्ष को छोड़कर शेष त्रिवर्ग को ही काव्यप्रयोजन माना । दूसरी ओर वामन तथा भोज ने कीर्ति एवं प्रीति को काव्यप्रयोजनों के रूप में स्वीकार कर लिया । वामन के अनुसार :

" काव्यं सद् दृष्टादृष्टार्थं प्रीतिकीर्तिहेतुत्वात् । "²

भोज ने भी वामन का अनुकरण करते हुये कीर्ति एवं प्रीति की प्राप्ति को ही काव्य प्रयोजन के रूप में स्वीकार किया है :

" निर्दोषं गुणवत्काव्यमलंकारैरलंकृतम् ।

रसान्वितं कविः कुर्वन् कीर्तिं प्रीतिं च विन्दति ।। "³

आचार्य मम्मट ने भरत से कुन्तक पर्यन्त प्रस्तुत काव्यप्रयोजनों की एक सूची तैयार कर दी जिसका

¹ का.लं. : 1/2

² का.लं.सू. : 1/1/5

³ स.कं. : 1/2

उल्लेख काव्यप्रयोजनों के रूप में उन्होंने इस प्रकार किया है—

" काव्यं यशसे अर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये ।

सद्यः परिनिर्वर्तये कान्तासम्मितयोपदेश युजे ॥" ¹

काव्यप्रकाशकार ने प्रयोजन का महत्त्व प्रतिपादित करते हुये काव्य के छः प्रयोजन स्वीकार किये हैं । उनके अनुसार प्रयोजन विशेष को लक्ष्य किये बिना काव्य निर्माण नहीं हो सकता क्योंकि, ' प्रयोजनमनुदिश्य मन्दोऽपि न प्रवर्तते । ' प्रस्तुत आलोच्य ग्रन्थ के प्रणेता आचार्य शान्तिभिक्षु शास्त्री ने प्राचीन ग्रन्थकारों की परम्परागत पद्धति का अनुसरण नहीं किया है । उन्होंने ग्रन्थ की पुष्पिका में जहाँ अपने जीवन, परिवार एवं अपनी शिक्षा आदि का विवेचन किया है वहीं काव्य-प्रयोजनों की संक्षिप्त चर्चा प्रस्तुत की है । आचार्य मम्मट द्वारा निर्दिष्ट काव्यप्रयोजनों के परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत आलोच्य ग्रन्थ का परीक्षण करना यहाँ उचित होगा ।

काव्य के छः प्रयोजनों में यशप्राप्ति को महाकाव्यकार सर्वप्रथम स्वीकार करते हैं क्योंकि पञ्चस्कन्धात्मक यह शरीर मिथ्या एवं नश्वर है । केवल यश ही चिरस्थायी है । यश रूपी शरीर से ही प्राणी अमरत्व को प्राप्त हो जाता है । इस कथन की सम्पुष्टि आचार्य भर्तृहरि की निम्न उक्ति से भी हो जाती है—

" जयन्ति ते सुकृतिनो रससिद्धा कवीश्वराः ।

नास्ति येषां यश काये जरामरणजं भयम् ॥" ²

आज भले ही कालिदास, अश्वघोष, आदि महाकवि हमारे समक्ष उपस्थित नहीं हैं फिर भी उन्होंने विश्व में यश से परम प्रसिद्धि प्राप्त कर यश रूपी शरीर से अमरत्व को प्राप्त कर लिया है । यश की महिमा का वर्णन करते हुये कविकुलगुरु कालिदास का यह कथन अति सार्थक है :

" किमप्यहिंस्यस्तव चेन्मतोऽहं यशः शरीरेभव मे दयालुः ।

एकान्तविध्वंसिषु मद्दिधानां पिण्डेष्वनास्था खलु भौतिकेषु ॥" ³

¹ का.प्र. : 1/2

² नीति. : श्लो.- 24

³ रघु. : 2/57

ग्रन्थ की पुष्पिका में आचार्य प्रवर ने मुख्य प्रयोजन यश की प्राप्ति ही माना है । उनकी यह अभीष्ट इच्छा है कि यह काव्य लोगों के मध्य में पहुँचकर यश-प्राप्ति का कारण बने :

" भवतु कवियशो मे शान्तिभिक्षो सदैव ।

प्रचरतु जनमध्ये काव्यमेतन्नवीनम् ।। "1

यहाँ कवि धनार्थ काव्यरचना करने वालों की निन्दा करता है । उनका कथन है कि आज धन का ही महत्त्व है जबकि शिल्प, विद्या आदि को आज के भौतिक युग में आदर की दृष्टि से नहीं देखा जाता—

" विद्यते धनमेकं हि महत्त्वस्य निदानकम् ।

शिल्पविद्यासदाचारान् सत्करोति न कश्चन् ।। "2

तदनन्तर उनका मन्तव्य है कि आज स्वार्थलिप्सु ये मानते हैं कि बौद्ध धर्म के अध्ययन से यदि धन की प्राप्ति नहीं होती तो उसके अध्ययन से क्या लाभ है ? उनके मत में जिससे धनवाप्ति हो वही विद्या है, वही कला है —

" नावाप्यते धनं बुद्धवचनाध्ययनेन किम् ।

धनं यतो भवेल्लोके सा विद्या सा कला मता ।। "3

आज के मानव की प्रवृत्ति है कि वह समाज में प्रशंसा का पात्र हो । संस्कृत के अनेकानेक काव्यकलाकार काव्य के यशोलाभ रूप उद्देश्य का निर्देश करते हैं । अनेक ग्रन्थकार विद्या को अर्थकरी मानते हैं परन्तु महाकाव्यकार का प्रमुख प्रयोजन यश की प्राप्ति है । ग्रन्थ प्रणेता ने आज के इस भौतिकवादी युग में धन की महत्ता को स्वीकार नहीं किया है किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि उन्होंने अन्य काव्य प्रयोजनों को कोई महत्त्व नहीं दिया । वे प्रस्तुत आलोच्य ग्रन्थ द्वारा प्राणियों को व्यवहार ज्ञान देने में पूर्णतः सफल रहे हैं । प्रस्तुत ग्रन्थ में वर्णित किसान गौतमी का कथानक तथा उसको दी गयी शिक्षा— "लोकस्य सकलस्यैव

1 बु.वि.का. : पु. 12

2 वही, 100/19

3 वही, 100/22

धर्मोऽयं या ह्यनित्यता । " ¹ प्राणियों को जगत् की नश्वरता का ज्ञान कराती है । इसके अतिरिक्त स्वबान्धव, मित्र, सेवक, स्वामी , प्रतिवेशी एवं पति-पत्नी के प्रति उचित व्यवहार की शिक्षा भी मिलती है ।

व्यवहारज्ञान के पश्चात् प्राणियों की अमंगलों से रक्षा करना भी काव्य प्रयोजन है ऐसा ग्रन्थकार ने स्वीकार किया है । सभी प्राणियों को कल्याणकारी मार्ग की ओर अग्रसर करना ही प्रस्तुत महाकाव्य का उद्देश्य है । प्राणी हिंसा न करना, सदैव सत्यभाषण, चौर्यादि कर्म से विरति इत्यादि सभी अमंगल एवं अनर्थकारी बातों का त्याग करने की शिक्षा महाकाव्य में सर्वत्र दी गयी है । उनके अनुसार उत्तम मंगल हैं- मूर्खों के संसर्ग का त्याग, विद्वानों की उपासना, संसार में पूजनीय प्राणियों को पूजना, पुण्यों का संचय करना, बोधिचित्त का संकल्प करना, बहुश्रुतता, सुन्दर शिल्प, विनय, उचित शिक्षण, माता-पिता की सेवा, स्त्री-पुत्र परिग्रह, अनाकुल भाव से विहित कर्म, दानक्रिया, चित्तक्रिया, धर्मचर्या, लोकसंग्रह, निष्पाप कर्म, सभी पापों से विरति, मद्यमांस का परित्याग, सदैव धर्म-कर्म में उत्साह, करुणा से चित्त की मृदुता, सन्तोष, कृतज्ञता, समय-समय पर धर्मश्रवण, क्षमा, आज्ञापालन, सत्य, श्रमणों की उपासना, समय-समय पर धर्म की संकथा, तपस्या, ब्रह्मचर्य, चार सत्त्यों का सम्यक् दर्शन, निर्वाण का अवबोध । इसके अतिरिक्त सांसारिक धर्मों से चित्त के विचलित न होने को भी उत्तम मंगल की संज्ञा दी गयी है-

" स्पृष्टस्य लोकधर्माणां चेतसो ह्येविकंपन् ।

योगक्षेमानुकूल्यं च मंगलं ह्यतदुत्तमम् ।। " ²

काव्य के प्रयोजन में ' सद्यः परिनिवर्तये ' का अर्थ परमानन्द की प्राप्ति है । सकल बौद्ध साहित्य में भगवान् तथागत के उपदेश इस परमानन्द अर्थात् निर्वाण को जीवन का परमलक्ष्य मानते हैं । ³ महाकाव्यकार

¹ बु. वि. का. : 90/16

² वही, 64/48

³ (क) निब्बानं परमं सुखं - ध. प. गा. , 203

(ख) अधिगच्छे पदं सन्तं संखारूपसमं सुखं- ध. प. गा. : 368

(ग) निब्बानं सुखं परं नास्ति - ध. प. गा. , 448

शान्तिभिक्षु शास्त्री ने भी निर्वाण को ही योगक्षेम के रूप में स्वीकार किया है । उनका कथन है कि वितृष्ण प्राणी ही योगक्षेमी होता है -

" योगक्षेमं हि निर्वाणं तद् वितृष्णस्य जायते ।

तृष्णावियोगतो योगक्षेमी भवति योगतः ।। "1

इसी भाव को व्यक्त करते हुये सुत्तनिपात में तथागत ने कहा है कि तृष्णा विरहित को ही निर्वाण की प्राप्ति होती है-

" तण्हायप्पिहानेन निब्बानं ति बुच्चति ।"2

इस प्रकार निर्वाण रूपी परमानन्द को प्रदान करना ही इस काव्य का प्रयोजन है ।

मम्मट प्रदत्त प्रयोजनों में अन्तिम 'कान्तासम्मितयोपदेशयुजे ' का तात्पर्य है कि जैसे कान्ता अपने प्रिय को उपदेश देकर सन्मार्ग पर चलने के लिये प्रेरित करती है उसी प्रकार आलोच्य ग्रन्थकार ने भी काव्य को अत्यधिक सरल एवं सरस भाषा में निबद्ध किया है । तथागत के उपदेशों को कथानकों के माध्यम से जन-जन तक पहुँचाया है । उनके उपदेशों द्वारा अंगुलिमाल जैसे डाकू का हृदय परिवर्तन हो गया । तथागत की सरल शिक्षायेँ जनमानस को प्रभावित कर उन्हें ज्ञानप्राप्ति की ओर अग्रसर होने की प्रेरणा देती थीं ।

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि मम्मट प्रदत्त काव्य के छः प्रयोजनों में धन को छोड़कर अन्यपाँच प्रयोजनों को महाकाव्यकार ने अपने महाकाव्य में स्थान दिया है ।

(ड.) ग्रन्थ की मौलिकता एवं वैशिष्ट्य :

आचार्य शान्तिभिक्षु शास्त्री ने आधुनिक युग में 'बुद्धविजयकाव्य ' जैसे महाकाव्य की रचना कर बौद्ध साहित्य में महाकाव्य परम्परा को आगे बढ़ाया है । कवि द्वारा इस ग्रन्थ प्रणयन का उद्देश्य केवल बौद्ध धर्म का प्रचार एवं प्रसार करना ही नहीं है अपितु कवि की अपनी मौलिकता एवं वैशिष्ट्य भी है । कवि ने अपना सम्पूर्ण जीवन बौद्ध धर्म के अध्ययन एवं अध्यापन में समर्पित कर दिया । कवि ने श्रीलंका में

1 बु.वि.का. : 45/22

2 सु.नि.-पा.व.गा. : 5, पृ. 286

विद्यालंकार विद्यायतन में संस्कृत के आचार्य पद को अलंकृत किया । सेवानिवृत्त होने पर वे सोलन ॥ हिमाचल प्रदेश ॥ के जिले में एक अति सुरम्य आवास में रहने लगे । इसी बीच उन्होंने संस्कृत के अध्ययन को और आगे बढ़ाते हुये दो प्रौढ़ संस्कृत बौद्ध महाकाव्यों की रचना की— 'बुद्धविजयकाव्यम्' तथा अशोकाभ्युदय महाकाव्यम् (अप्रकाशित) ।¹ महाकवि ने आधुनिक संस्कृत में ग्रन्थ रचना कर संस्कृत साहित्य की अभिवृद्धि भी की है । वहीं बौद्ध सिद्धान्तों को मौलिक रूप में विद्वानों के समक्ष प्रस्तुत किया है । आचार्य प्रवर ने अपने ग्रन्थ की विषयवस्तु यद्यपि त्रिपिटक से ग्रहण की है तथापि उसमें उनकी मौलिकता स्पष्ट रूप से झलकती है । जिस प्रकार महाकवि कालिदास ने अपने ग्रन्थ 'अभिज्ञान-शाकुन्तलम्' की विषय-वस्तु 'महाभारत एवं पद्म पुराण' से ग्रहण की है, परन्तु उनकी मौलिकता को किसी भी प्रकार से नकारा नहीं जा सकता । उसी प्रकार आचार्य प्रवर ने भी इस ग्रन्थ में अपनी अद्भुत प्रतिभा का परिचय दिया है तथा सम्पूर्ण बुद्ध चरित्र को अपनी सरल संस्कृत में काव्य के रूप में निबद्ध किया है । आलोच्य ग्रन्थ में अनेक विशेषताएँ देखने को मिलती हैं जो ग्रन्थ की मौलिकता को प्रमाणित करती हैं —

" कवि ने प्रस्तुत ग्रन्थ में तथागत के तीन बार लंका जाने का वर्णन किया है, ऐसा वर्णन सम्पूर्ण त्रिपिटक में कहीं प्राप्त नहीं होता । तथागत के तीन बार लंका आगमन का वर्णन कर कवि ने जिस मौलिकता का परिचय दिया है वह उनके वैदुष्य का परिचायक है ।¹

इसी प्रकार कवि ने तथागत के लिये 'जगन्नाथ'² तथा 'जगतिपति'³ जैसे शब्दों का प्रयोग किया है, जिनका प्रयोग बौद्ध ग्रन्थों में दुर्लभ है । कवि ने प्रस्तुत आलोच्य ग्रन्थ में जहाँ तथागत का लंका से भारत लौटने का वर्णन किया है वहाँ उन्होंने ' भगवन् अपनी कर्मभूमि लौट गये ' इस प्रकार कहा है । कवि ने प्रस्तुत भाव की अभिव्यक्ति अधोलिखित श्लोक में व्यक्त करते हुए की है—

" विहाय लंकां जिनकृत्यपूर्तये ।

स्वकर्मभूमिं भगवानुपाययौ । "4

¹ बु.वि.का. : 75,76, 77 सर्ग

² वही, 75/2

³ वही, 77/43

⁴ वही, 75/51

कवि ने भारत के लिए 'कर्मभूमि' शब्द का प्रयोग कर अपनी उदात्त भावना को दर्शाया है । कवि 'कर्मभूमि' के स्थान पर 'जन्मभूमि' शब्द का प्रयोग भी कर सकते थे क्योंकि भारत तथागत की 'जन्मभूमि' भी है, 'कर्मभूमि' शब्द का प्रयोग करना उनका अपना वैशिष्ट्य है ।¹

प्रस्तुत आलोच्य ग्रन्थ में कवि ने 'भरतभूमि' शब्द का प्रयोग भी किया है तथा दुष्यन्त एवं शकुन्तला के आख्यान का वर्णन किया है ² इस प्रकार के वर्णन से जहाँ कवि का हिन्दू शास्त्रों के अध्ययन का पता चलता है वहीं प्रस्तुत बौद्ध महाकाव्य में इस प्रकार का उल्लेख कर उन्होंने धार्मिक समरसता का भी परिचय दिया है । इससे कवि की दूरदर्शिता तथा भारतीयता प्रकट होती है ।

आलोच्य ग्रन्थ भारतीय संस्कृति का भी परिचायक है । कवि ने 'मह्यंगणाभिधानः' नामक सर्ग में तथागत के लंका से प्रत्यागमन के अवसर पर तथागत की नागों द्वारा स्तुति कराकर उनसे कहलवाते हैं कि यदि आप जाना ही चाहते हैं तो जाएँ किन्तु पुनः दर्शन के लिए जायें '-

" सदा ते करुणा भूयादस्मासु करुणाकर ।

यातुमिच्छसि चेद् याहि दर्शनाय पुनः प्रभो ॥"³

उक्त श्लोक में कवि ने विदाई के समय भारतीय परम्परा का पालन किया । भारतीय परम्परा में अतिथि देवतुल्य होता है तथा अतिथि को विदा करते हुए हम उससे पुनः आगमन के लिए अनुरोध करते हैं । 'याहि दर्शनाय पुनःप्रभो ' से भी यही झलक मिलती है इस प्रकार कवि ने अपनी भारतीय संस्कृति को विस्मृत नहीं किया है ।

सम्पूर्ण महाकाव्य अत्यन्त सरल संस्कृत में रचित है जिससे सामान्य ज्ञान रखने वाला पाठक भी बुद्धकी शिक्षाओं को हृदयंगम कर लेता है । जटिल दार्शनिक सिद्धान्तों को भी इतनी सरल संस्कृत में निबद्ध किया गया है कि श्लोक एक बार की आवृत्ति से ही स्मृत हो जाता है ।

¹ बु.वि.का. 75/51

² वही, 77/47

³ वही, 75/50

" धर्मप्रविचये नामरूपी स्त्वो विविच्यते ।

धर्मपुद्गलनैरात्म्यनयेन विविधात्मना ।। "1

इसके अतिरिक्त किंसा गौतमी को दिया गया बुद्ध का उपेदश जहाँ उसे दार्शनिक क्षणभंगवाद का ज्ञान करा देता है वहीं ग्रन्थ प्रणेता की सरल संस्कृत के माध्यम से सामान्य पाठक को भी क्षणभंगवाद का ज्ञान करा देता है । उदाहरण के लिए—

" नैवेकस्य कुलस्यात्र ग्रामस्य निगमस्य वा ।

लोकस्य सकलस्यैव धर्मोऽयं या ह्यनित्यता ।। "2

प्रस्तुत आलोच्य ग्रन्थ में कवि ने बौद्ध धर्म एवं दर्शन के सिद्धान्तों के साथ-साथ आधुनिक समाज की दयनीय स्थिति का भी व्यवहारिक वर्णन किया है । कवि की दृष्टि युवाओं में व्याप्त बेरोजगारी जैसी सामाजिक समस्या के प्रति भी उजागर हुई है । उनका अपना अभिमत है कि सभी को जीविका प्राप्त होनी चाहिए तभी समाज का कल्याण सम्भव है —

" जीवन्त्यश्रया भूरिजना दुःखेन पीडिताः ।

आजीविकामसंप्राप्ता राजरक्षां च सर्वतः ।। "3

इस प्रकार कवि ने आधुनिक युग की सभी ज्वलन्त समस्याओं की ओर दृष्टिपात करते हुए उसका वर्णन अपने महाकाव्य में किया है ।

¹ बु.वि.का. : 70/1

² वही, 90/16

³ वही, 100/31

तृतीय अध्याय

बुद्धविजयकाव्यम् में वर्णित भगवान् बुद्ध की जीवनचर्या

सभी भगवान् तथागत के नाम एवं यश से सुपरिचित हैं । करोड़ों की संख्या में आज भी लोग भगवान् बुद्ध के धर्म के अनुयायी हैं । बौद्ध धर्म के प्रवर्तक भगवान् बुद्ध का जन्म आज से लगभग 2500 वर्ष पूर्व हुआ था । बौद्ध धर्म ग्रन्थों में तथागत के जीवन चरित्र का वैविध्यपूर्ण वर्णन प्राप्त होता है, जिसे तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है — मानवीय, दिव्य तथा दिव्य मानवभावातीत रूप में । बुद्धचरित, निदानकथा, महावस्तु, ललितविस्तर तथा महायान सूत्रों में भगवान् तथागत के इन रूपों को जानने के लिये पर्याप्त सामग्री उपलब्ध होती है । हीनयान में तथागत के मानवीय रूप का तथा महायान सूत्रों में उनके दिव्यमानवभावातीत रूप की प्रतिष्ठा की गयी है । भगवान् बुद्ध का मानवीय रूप सर्वविदित है । गृहत्याग, कठोर-तपस्या, ध्यान-समाधि का अभ्यास, भिक्षाटन, संघ की स्थापना आदि घटनायें उनके मानवीय रूप को प्रस्तुत करती हैं तो भी उनमें कुछ ऐसी असाधारण विशेषताएँ थीं, जो उन्हें अन्य महापुरुषों की अपेक्षा उच्च पद पर प्रतिष्ठित करती हैं, यथा ब्रह्मविहारों की खोज, सूक्ष्म एवं निर्भय प्रज्ञा, सरल एवं प्रभावी शिक्षाएँ तथा स्वानुभव के आधार पर जीवन-गाथा एवं साधना का वर्णन । सम्पूर्ण बौद्ध साहित्य में भगवान् बुद्ध के नाम की महिमा का जयघोष मिलता है । किसी भी धर्मप्रवर्तक ने बुद्ध के समान अपना विश्वव्यापी स्थान नहीं बनाया । तथागत को एक असाधारण पुरुष माना गया है, अमरकोश में तथागत के पर्यायवाची शब्द उन्हें असाधारण व्यक्तित्वधारी सिद्ध करते हैं ।¹ बौद्ध ग्रन्थ यद्यपि तथागत की जीवनचर्या के वैविध्यपूर्ण वर्णनों से भरे पड़े हैं तथापि तथागत के जीवन में बारह घटनाओं के घटित होने की मान्यता को सभी एकमत होकर स्वीकारते हैं । वे हैं—

1- तुषित भवन में बोधिस्तव का निवास ।

2- तुषित भवन से अवतरण ।

¹ अ.को.-प्र.का.-स्व.व.-गा./13-15, पृ. 9

- 3- महामाया देवी के गर्भ में प्रवेश ।
- 4- लुम्बिनी में बोधिसत्त्व का जन्म ।
- 5- नैपुण्य प्रदर्शन तथा यशोधरा के साथ विवाह ।
- 6- अन्तःपुरविहार तथा चतुःनिमित्त दर्शन ।
- 7- अभिनिष्क्रमण ।
- 8- तपश्चर्या ।
- 9- मारविजय ।
- 10- बोधिप्राप्ति ।
- 11- धर्मचक्रप्रवर्तन ।
- 12- महापरिनिर्वाण ।

आचार्य शान्ति भिक्षु शास्त्री ने भगवान् बुद्ध की विस्तृत लीला का संक्षिप्त वर्णन प्रस्तुत आलोच्य ग्रंथ में किया है । उनकी मान्यता है कि भगवान् बुद्ध की जीवनगाथा की यह ललितचर्चा मेरे जैसे धनहीन व्यक्तियों के लिये बुद्धपूजा है । तदनन्तर कवि अपनी कृति में वर्णित सिद्धार्थ गौतम के चरित्र को पुण्यवान् लोगों से सुनने का आग्रह करते हैं—

"मायादेवीसुतस्येदमवदानं मनोरमम् ।

मम श्लोकयतः सर्वं सादरं शृणुतानघाः ।।"¹

(क) तथागत का अलौकिक जन्म :

भगवान् बुद्ध के जन्म का अलौकिक वर्णन प्रस्तुत ग्रन्थ में किया है । 'आचार्य अश्वघोष' विरचित 'बुद्धचरित' तथा 'महायान सूत्र' 'ललित विस्तर' से कहीं-कहीं उनका साम्य तथा कहीं वैषम्य प्रतीत होता है ।

¹ बु. वि. का. : 14/14

कवि के अनुसार बोधिस्तत्त्व पुत्र के रूप में मायादेवी के गर्भ में अवतरित हुये । आषाढ़ पूर्णिमा के दिन स्वप्न में रानी ने स्वयं को लोकपालों के द्वारा हिमालय पर्वत पर ले जाता हुआ देखा । वहाँ अनवतप्त सरोवर पर वह रानी देवांगनाओं से चारों ओर से घिरी हुयी खड़ी थीं । वहीं लोकपालों की अर्धांगनाओं ने उन्हें सुन्दर एवं पवित्र परिधान से सुसज्जित कर दिया और चन्दन आदि सुगन्धित लेपों का अवलेपन किया । इसी स्वप्न में रानी ने छः दातों वाले, सफेद रंग के अलौकिक हस्ती शावक को अपनी कोख में प्रविष्ट होते हुये देखा—

"आत्मनश्च शयानाया दक्षिणं कुक्षिमादरात् ।

षड्विषाणं सितं दिव्यं विशन्तं गजपोतकम् ॥"¹

वह हाथी रानी के समीप पहुँचा और क्रौंचनाद कर उनकी शय्या की तीन प्रदक्षिणाएँ कीं । इस प्रकार का स्वप्न देखकर मायादेवी की निद्रा भंग हो गयी । देवी से स्वप्न का वृत्तान्त जानकर राजा ने ब्राह्मणों से स्वप्न के फल के विषय में जिज्ञासा की । राजा की जिज्ञासा का शमन करते हुये ब्राह्मणों ने उन्हें पुत्र रत्न की प्राप्ति का आशीर्वाद दिया तथा भविष्यवाणी करते हुये कहा—

" भविता चक्रवर्तीति यद्यगारे निवत्स्यति ।

बुद्धो वा भविता लोके त्यक्तसर्वपरिग्रहः ॥"²

तदनन्तर रानी अपने मायके जाते हुये लुम्बिनी वन में विहार करने लगी । तभी विहार करते हुये सालवृक्ष के नीचे शाक्यनन्दन बोधिस्तत्त्व का जन्म हुआ । उन बोधिस्तत्त्व का जन्म होते ही अनेक जनों ने उनका अभिनन्दन किया । यही नहीं क्रमशः ब्रह्मा तथा लोकपालों ने भी उनका अभिनन्दन किया । तदनन्तर उस बालक शाक्यनन्दन ने सात कदम चलकर इस प्रकार की भविष्यवाणी की—

" अग्रे ज्येष्ठो ह्यहं श्रेष्ठश्चरमोऽयं भवो मम ॥"³

¹ बु.वि.का. : 14/22

² वही, 14/26

³ वही, 14/35

तदनन्तर कविवर शान्तिभिक्षु शास्त्री का कथन है कि जन्म होने पर सभी बन्धु-बान्धव ने उनकी पूजा की, उन भगवान बुद्ध का जन्म होने पर सभी दुःखों का अन्त हो गया तथा पृथ्वी एवं आकाश बाधा रहित हो गये । मार को छोड़कर सभी हर्षित हो गये । कवि तो भगवान बुद्ध को युग प्रवर्तक मानकर उनकी स्तुति करते हैं । उनका अभिकथन है कि बुद्ध तथा उनके सदृश्य स्वभाव के कभी-कभी उत्पन्न होते हैं—

"कदाचिदेव जायन्ते बुद्धास् तत्समधातवः ।

युगप्रवर्तकानेतान्मि बद्ध्वा निजांजलिम् ।।"¹

ललितविस्तर में भी तथागत के जन्म सम्बन्धी कथानक का इसी प्रकार वर्णन मिलता है कि तथागत का जन्म माता की कोख से अलौकिक रूप में हुआ परन्तु बुद्धचरित में वर्णन है कि बुद्ध का जन्म पार्श्व से हुआ ।² बुद्धचरित में यह भी वर्णन है कि सिद्धार्थ के जन्म के अवसर पर कुओं का स्वयं निर्माण हो गया³ तथा सर्पों ने भी उनके ऊपर मन्दार पुष्पों की वर्षा की ।⁴

(ख) महर्षि असित की भविष्यवाणी :

'असित व्याकरण' शीर्षक से आलोच्य ग्रंथ में कवि ने शिशु बुद्ध के विषय में भावी घटनाओं का वर्णन किया है । महर्षि असित राजा शुद्धोदन के पिता सिंहहनु के कुलपुरोहित थे । राजा सिंहहनु के मरणोपरान्त असित मुनि तपोवन में निवास करने लगे थे । उनकी रक्षा का भार शाक्यकुल पर ही था । शाक्यमुनि गौतमबुद्ध के उत्पन्न होने पर असित मुनि ने उनके दर्शनार्थ राजभवन में पदार्पण किया । महर्षि असित के

¹ बु. वि. का. : 14/46

² बु. च. : 1/10

³ वही, 1/19

⁴ वही, 1/23

राजभवन के पदार्पण करने पर राजा शुद्धोदन ने उनका उचित सत्कार किया और स्वयं भूमि पर बैठते हुए उनके आगमन का प्रयोजन पूछा । तब महर्षि असित ने उनके पुत्र के दर्शनार्थ अपने आगमन का प्रयोजन बताया । तदनन्तर राजा द्वारा लाये हुए शिशु को महर्षि ने अपने हाथों में लेकर शिशुभूत बुद्ध को प्रणाम किया । तब बुद्धके शरीर को सभी व्यञ्जन एवं अनुव्यञ्जनों से युक्त देखकर महर्षि ने राजा से हर्षित होते हुये कहा कि संसार को तारने वाले बुद्ध ने तुम्हारे घर में जन्म लिया है—

"महापोतोपमं धर्मं गमयित्वा जनानयम् ।

तारकस्ते गृहे जातो बुद्धो धर्मप्रवर्तनः ।" ¹

तदनन्तर महर्षि पुनः राजा से कहते हैं कि ये शिशु भिन्न-भिन्न कुल एवं वर्गभेद वाले लोगों में एकता स्थापित करेगा, जो एकता चक्रवर्ती राजा भी न कर पायेगा । आगे कवि ने शिशु बुद्ध को लोकनाथ की संज्ञा देते हुये अहिंसा के द्वारा शासन करने वाला बताया है—

"लोकानर्हिसन् यः पाति लोकनाथो न चेतरेः ।

अहिंसयाऽयं शास्तात्र लोकनाथो भविष्यति ।।" ²

महर्षि असित इस प्रकार की भविष्यवाणी कर बीच-बीच में शिशु को देखकर रोने लगे, इस पर राजा शुद्धोदन ने उनके रूदन का कारण पूछा । राजा को इसका कारण बताते हुये महर्षि असित बोले कि— " इस शिशु के बुद्ध होने पर मेरा जीवन अवशिष्ट नहीं रहेगा ।" तदनन्तर महर्षि असित राजा को सान्त्वना देकर शाक्यों के द्वारा विदा कर दिये गये । शाक्यकुल से विदा होने पर उन्होंने अपने भागिनेय नालक को प्रव्रजित होने एवं शिशु बुद्ध को बोधि प्राप्ति के पश्चात् उनका आश्रय ग्रहण करने का आदेश दिया । इस प्रकार बुद्ध के नाम से नालक ने सर्वप्रथम प्रव्रज्या ग्रहण कर ली । इसी सर्वप्रथम प्रव्रजित

¹ बु.वि.का. : 15/36

² वही, 15/41

नालक को कविवर प्रथम संत की संज्ञा देते हुए प्रणाम करते हैं—

"बुद्धस्य नाम्ना प्रव्रज्यां प्रथमं गृह्णते मम ।

बौद्धभावोपपन्नाय तस्मा आदिसते नमः ॥"¹

प्रस्तुत ग्रंथ में वर्णित इस कथानक के अतिरिक्त ललितविस्तर में यह भी वर्णन है कि जन्म के अवसर पर स्वयं महेश्वर बारह हजार देवपुत्रों के साथ राजा शुद्धोदन के राजभवन में आये तथा उन्होंने बोधिसत्त्व की बुद्धता की निश्चित प्राप्ति का अभिकथन किया ।² ललितविस्तर में असित मुनि के भागिनेय का नाम नरदत्त प्राप्त होता है ³ जबकि प्रस्तुत ग्रंथ एवं बुद्धचरित में नालक नाम प्राप्त होता है । अन्य सभी वर्णनों में इस ग्रंथ की ललितविस्तर एवं बुद्धचरित से समानता प्रतीत होती है ।

(ग) नामकरण आदि महोत्सव :

प्रस्तुत आलोच्य ग्रन्थ में कवि ने नामकरणादि महोत्सवों का अलौकिक एवं मनोहारी वर्णन किया है । शिशु के षष्ठी महोत्सव के अवसर पर राजा शुद्धोदन ने देवज्ञों को आमन्त्रित किया । वे हैं—राम, ध्वज, लक्ष्मण, मन्त्री, कौण्डिन्य, भोज, सुयाम तथा सुदत्त । इनमें से प्रथम तीन विकल्प मतानुयायी तथा अंतिम पाँच अविकल्प मत वाले थे । राजा ने इन ब्राह्मणों को आदरपूर्वक भोजनादि से तृप्त कर शिशु के भविष्य के विषय में जानने की जिज्ञासा प्रकट की । तब विकल्प मतानुयायी ब्राह्मणों ने राजा से शिशु के चक्रवर्ती राजा अथवा बुद्ध होने की भविष्यवाणी की—

"भविता चक्रवर्त्येष यद्यगारे निवत्स्यति ।

बुद्धो वा भविता लोके प्रव्रजिष्यति चेदयम् ।"⁴

¹ बु. वि. का. : 15/50

² ल. वि. —मि. वि. द. —ज. प. , पृ. 79

³ वही, पृ. 76

⁴ बु. वि. का. : 16/7

किन्तु, अविकल्प बुद्धि वाले ब्राह्मणों ने केवल बुद्ध होने की भविष्यवाणी की-

"भविता बुद्ध एवायं कश्चिदत्र न संशयः ।।"

तदनन्तर उन ब्राह्मणों ने अर्थ के अनुसार शिशु बुद्ध का नाम सिद्धार्थ तथा रुद्धिवश नाम गौतम रखा । इसके साथ ही साथ राजा को प्रत्युत्तर स्वरूप प्रव्रज्या के निमित्तों को भी बताया । तदनन्तर सातवें दिन माता मायादेवी परलोक को सिधार गयीं । तब विमाता प्रजावती गौतमी द्वारा सिद्धार्थ का पालन-पोषण किया जाने लगा । सिद्धार्थ के एक मास के होने पर, प्रथम देवालय दर्शन हेतु घर से बाहर ले जाने पर महोत्सव मनाये जाने का वर्णन है । सिद्धार्थ शिशु के देवमन्दिर में प्रवेश करते ही, प्रतिमाश्रित देवताओं ने अपने स्थान से उठकर उन्हें प्रणाम किया । इसी भाव को आचार्य प्रवर शान्ति भिक्षु शास्त्री ने अति मनोहारी रूप में वर्णित किया है-

"प्रविष्टमात्रे सिद्धार्थे देवतानिलयं क्षणात् ।

प्रेममुत्तस्तमुत्थाय देवताः प्रतिमाश्रयाः ।।"¹

सिद्धार्थ के एक वर्ष के हो जाने पर उनका चूडाकर्म संस्कार किया गया । तदनन्तर राजा शुद्धोदन द्वारा अपने परिवारजनों के साथ हल कर्षण महोत्सव मनाये जाने का वर्णन कवि ने किया है । इस अवसर पर शिशु का जामुन के वृक्ष के नीचे ध्यानस्थ मुद्रा का अद्भुत एवं अलौकिक वर्णन है । इसी आश्चर्य को धायमातादि स्त्रियों ने राजा से निवेदन किया । अन्त में अल्पावस्था में ही ध्यान करते हुये कुमार को देखकर राजा उनकी वन्दना करते हुये उन्हें बाल रूपी अबालक की संज्ञा देते हैं-

"वन्दिस्त्वं यदा जातो वंदनीयतमो भुवि ।

पुनरप्यद्य वन्दे त्वामबालं बालरूपिणम् ।।"²

¹ बु.वि.का. : 16/32

² वही, 16/48

'तथागत बाल्यकाल में ही ध्यानी थे' इस कथानक का वर्णन प्रस्तुत ग्रंथ के साथ-साथ ललितविस्तर में भी किया गया है ¹ परन्तु बुद्धचरित में इसका वर्णन प्राप्त नहीं होता । बुद्ध के जन्मोत्सव पर कौण्डिन्यादि अष्टविप्रों का आगमन तथा उनकी भविष्यवाणी का प्रस्तुत ग्रंथ में वर्णन कवि की मौलिकता का परिचायक है ।

(घ) विद्याग्रहण एवं विवाह :

कवि ने प्रारम्भ में विद्याग्रहण शीर्षक से सिद्धार्थ गौतम द्वारा सभी विद्याओं के अध्ययन करने का वर्णन किया है । वहीं पर उन्होंने हंस के प्राणों की रक्षा करने तथा परस्पर देवदत्त एवं सिद्धार्थ का हंस के प्रति अधिकार की चर्चा की है । अन्त में गोपा अर्थात् यज्ञोधरा का शाक्यसिंह गौतमबुद्ध के साथ विवाह का मनोहारी वर्णन किया है ।

सर्वप्रथम पाँच वर्ष की आयु में गौतम को विद्याग्रहण के लिए शीर्षस्थ आचार्य विश्वामित्र को सौंप दिया । आचार्य विश्वामित्र के मार्ग-दर्शन में उन्होंने सभी वेद, दण्डनीति, व्याकरण, भूगोल, स्वास्थ्य विद्या, कृषि एवं वाणिज्य तथा न्यायशास्त्र आदि में दक्षता प्राप्त कर ली । इसके अतिरिक्त उन्होंने शस्त्र विद्या को भी सीख लिया किन्तु हिंसामयी शस्त्रविद्या में उनकी अभिरुचि नहीं थी—

"प्रणयी शास्त्रविद्यायाः शस्त्रविद्यामशिक्षत ।

हिंसाफलायां किन्त्वस्यां न रेमे करुणानिधिः ॥"²

तदनन्तर कवि ने हंस की कथा को आधार बनाकर न्यायाधीशों के व्यवहारिक एवं नैतिक निर्णय की चर्चा की है । इस कथा का भाव कुछ इस प्रकार है— एक बार क्रीडा में संलग्न देवदत्त ने एक हंस को बाण द्वारा घायल कर दिया । सिद्धार्थ ने बाण निकालकर उस हंस की चिकित्सा की । तभी देवदत्त सिद्धार्थ से बोला— " यह हंस मुझे दे दो, यह मेरा है, मैंने इसे मारा है मैं इस पक्षी का स्वामी हूँ।"

¹ ल. वि. - मि. वि. द. - कृ. ग्रा. प. , पृ. 92

² बु. वि. का. : 17/9

सिद्धार्थ ने प्रत्युत्तर स्वरूप देवदत्त से कहा, " मैंने इसे बचाया है अतः यह मेरा है । इस पर विवाद बढ़ गया और राजसभा तक पहुँचा । उस विवाद पर न्यायपूर्ण एवं व्यवहारिक निर्णय सुनाते हुये न्यायाधीशों ने कहा कि—

" जीवितो रक्षकः स्वामी मृतस्यकिल घातकः ।

यो यस्य ध्रियते यत्नैः स तस्यैवात्र धर्मतः ।। "1

जीवित का स्वामी रक्षक होता है तथा मृतक का स्वामी घातक होता है । हंस अभी जीवित है अतः यह सिद्धार्थ का है । इस प्रकार विद्याध्ययन करते हुये सिद्धार्थ के पन्द्रह वर्ष व्यतीत हो गये । तदनन्तर पन्द्रह वर्ष तक विद्याध्ययन करने के उपरान्त सिद्धार्थ को विवाह के योग्य जानकर राजा ने अशोकोत्सव का आयोजन किया । इसमें भाग लेने वाली प्रत्येक कन्या को सिद्धार्थ द्वारा उपहार दिया गया । उत्सव के अन्त में दण्डपाणि की पुत्री यशोधरा अर्थात् गोपा के आगमन तक सभी उपहार समाप्त हो गये । सिद्धार्थ ने अपनी अंगूठी उतारकर उसे दे दी—

" प्रत्युत्पन्मतिः प्रादात् स्निग्धदृष्टिः कुमारकः ।

अंगुलीयकमात्मीयम् अवमुच्य शुभश्रिये ।। "2

यह गोपा देवदत्त की बनायी हुयी बहिन थी । सिद्धार्थ के, यशोधरा के प्रति इस अनुराग की चर्चा सर्वत्र फैल गयी थी । इस पर राजा ने दण्डपाणि से उनके विवाह की स्वीकृति माँगी परन्तु दण्डपाणि ने कहा कि, " जो वीरता में श्रेष्ठ है उसे ही गोपा प्राप्त होती । " तदनन्तर शस्त्र एवं शास्त्र परीक्षा में अन्य शाक्य कुमारों से सर्वश्रेष्ठ सिद्ध होने पर दण्डपाणि ने अपनी पुत्री का विवाह सिद्धार्थ गौतम के साथ कर दिया ।

1 बु. वि. का. : 17/16

2 वही, 17/30

(ड.) अन्तःपुर विहार :

अन्तःपुर विहार नामक सर्ग में उल्लेख है कि विवाह के अनन्तर सिद्धार्थ गौतम सपरिवार सानन्द राजभवन में निवास करने लगे । यहाँ कवि ने अवगुण्ठन प्रथा का विरोध करते हुये यशोधरा के उदात्त चरित्र का वर्णन किया है।

उनका कथन है कि सिद्धार्थ गौतम जन्मना क्षत्रिय होते हुये भी कर्मणा ब्राह्मण थे । वे कारुणिक, परोपकारी तथा क्षमा के गुणों के निधान थे । राज्य की जनता द्वारा वे भक्तिभाव से ब्रह्मा के समान अभिपूजित थे । उनकी पत्नी यशोधरा भी उन्हीं के समान गुणवती थीं । उनके व्यवहार से प्रसन्न राजा शुद्धोदन तथा गौतमी की वह प्राणों से अधिक प्रिय थी । कवि का कथन है कि वह भी शुद्धोदन एवं गौतमी की सभी बातों को मानने वाली थी—

“प्राणार्धिकप्रिया जाता सुतावत् सा यशोधरा ।

शुद्धोदनस्य राजर्षेरगौतम्यश्चानुवर्तिनी ।”¹

यशोधरा की महिमा शाक्यों में चतुर्दिक फैली हुई थी । कवि ने उनकी महिमा को प्रथम वृष्टि से भीगी हुयी पृथिवी की गन्ध के समान बताया है—

“शाक्येषु महिमा तस्या गुणानां प्रकटो बभौ ।

भूमे, पूर्वाभिवृष्टाया गन्धस्य महिमा यथा ।।”²

वह बिना अवगुण्ठन के भी शोभायमान होती थी क्योंकि पापरहित प्राणी सुवेशित न होने पर भी शोभायमान होता है जबकि सुवेश धारण करने वाला यदि पापी हो तो वह भी सुशोभित नहीं होता ।

¹ बु. वि. का. : 18/12

² वही, 18/13

इसी भाव को कवि ने अधोलिखित श्लोक में निबद्ध किया है -

"शोभतेऽत्र कुवेशोऽपि यस्य पापं न विद्यते ।

सुवेशोऽपि न भात्यत्र पापाचारपरायणः ॥"¹

तदनन्तर अवगुण्ठन प्रथा के दोषों की ओर संकते करते हुये कवि कहते हैं कि जिस प्रकार आच्छादित कमल सुशोभित नहीं होता वैसे ही गुणवती स्त्री की शोभा घूँघट में नहीं है । उन्होंने स्त्री में शील रूपी अवगुण्ठन की आवश्यकता पर बल दिया है जबकि वस्त्रावगुण्ठन को निरर्थक कहा है-

"वस्त्रावृतापि नग्नेव यस्याः शीलं न विद्यते ।

वृथावगुण्ठनं नार्थः शीलसंवरणे सति ॥"²

इस प्रकार शान्तिभिक्षु शास्त्री ने अवगुण्ठन प्रथा को असभ्यता की प्रथा बताकर नारी के उदात्त चरित्र को अपने इस महाकाव्य में उजागर किया है । तदनन्तर सिद्धार्थ गौतम अपनी पत्नी सहित भोगविलासों में रमण करते हुये राजभवन में रहने लगे । तभी राजा शुद्धोदन ने सुस्नेही, सर्वगुणसम्पन्न सिद्धार्थ का राज्याभिषेक करने की अभिलाषा शत्रुओं के सम्मुख प्रकट की । शत्रुओं ने राजा के निर्णय को काल के अनुरूप बताते हुये उनकी इच्छा को उचित बताया और उनसे कहा कि आप समय को भली प्रकार जानने वाले हैं । विवाह के बन्धन में आबद्ध, राज्यकार्य में व्यस्त, रथ में प्रयुक्त बैल के समान इन्हें हमसे अलग होने का अवसर ही कहाँ मिलेगा-

"विवाहबन्धनाबद्धो राज्यकार्यधुरं वहन् ।

क्व प्रयस्यति हित्वास्मान् रथयुक्तवृषोपमः ॥"³

¹ बु. वि. का. : 18/15

³ वही, 18/18

³ वही, 18/45

शाक्यों के इस कथन को सहमति मानते हुये राजा ने ब्राह्मणों के द्वारा मंगलाचरण करते हुये भार्यासहित सिद्धार्थ गौतम का युवराज पद पर अभिषेक कर दिया । कवि ने सिद्धार्थ गौतम का युवराज पद पर अभिषिक्त किये जाने का सविस्तार वर्णन किया है, ललितविस्तर एवं बुद्धचरित में भी इस प्रकार का वर्णन प्राप्त नहीं होता ।

च। राज्य-काल अनुभव :

सिद्धार्थ में शाक्यों की परस्पर हिंसावृत्ति, अनाधिकार चेष्टा, प्रजापालन में असावधानी, ग्वालों की अशिक्षा, विद्या प्रदान करने वालों की दरिद्रता आदि को देखकर उनकी चित्तवृत्ति में परिवर्तन हो गया । इन्हीं को कवि ने 'राज्यकाल अनुभव' नामक शीर्षक से वर्णन किया है । पिता की आज्ञा से सिद्धार्थ ने शाक्यराजा के रूप में राज्य पर शासन किया । तेरह वर्षों तक शासन करने पर उनमें विवेकपरायण बुद्धि उत्पन्न हो गयी । अपने इस ज्ञान के द्वारा उन्हें अनुभव हुआ कि क्षत्रिय धैर्यहीन, युद्ध के लिये तत्पर तथा तृष्णा के कारण परस्पर शत्रु हैं । वे हिंसक, असंगठित तथा एक - दूसरे की वस्तुओं एवं सीमा पर अधिकार करने के इच्छुक रहते हैं । वे केवल शस्त्र द्वारा ही व्यवहार करते हैं तथा कृषकों, ग्वालों इत्यादि का शोषण करते हैं । संसार के विषय में इस प्रकार चिन्तन करते हुये उनमें सर्वकल्याणकारी चित्त उत्पन्न हुआ । मूर्ख लोग जन्म से ऊँच-नीच का भेद करते हैं परन्तु मेरे मत में ऐसा नहीं है । अपने कर्मों के द्वारा ही प्राणी उत्तम या हीन होता है जाति से नहीं । इस प्रकार जातिवाद को माननेवाले को सिद्धार्थ ने हिंसक, चौर्यकर्म में रत, असत्यवादी, पाप बुद्धिवाला तथा मानवीय गुणों से विहीन अधम प्राणी माना है -

" लोलुपः परवस्तूनां स्तेयवृत्तिः परस्परम् ।

अदत्तादानचित्तो यः स सत्यमधमो जनः ।।"¹

¹ बु. वि. का. 19/29

इसके विपरीत उन्होंने प्राणी हिंसा से विरत एवं प्राणीहिंसा की प्रेरणा से रहित तथा दयावान को पुरुषोत्तम कहा है—

"प्राणिनो यो न हन्त्यत्र न च घातयतीह यः ।

दयाचित्तधनो योऽत्र वस्तुतः स जनोत्तमः ॥"¹

आगे भी कवि पुरुषोत्तम मनुष्य के लक्षणों का उल्लेख करते हुये कहता है कि जो सत्यवादी, अवञ्चक, अपरिग्रही, पुण्य चेतना वाला तथा पाप विमुख है, वह पुरुषोत्तम है । कवि ने ऐसे पुरुषोत्तमों को ब्राह्मण माना है :

"एतादृगुत्तमो लोको यस्तु ब्राह्मण एव सः ।

जन्मना ब्राह्मणो नास्ति कर्मणा ब्राह्मणो मतः ॥"²

इस प्रकार उनके चित्त में इस संसार के प्रति विरक्ति हो गयी । इसी का मनोहर वर्णन कवि ने आगे किया है—

"संबोधोऽयं गृहावासो रजसोऽयं निकेतनम् ।

दुर्गमोऽयं महाशैलो दुस्त्रोऽयं महार्णवः ॥"³

अन्त में कवि ने इस संसार रूपी सागर को मलिन गृह बताया है और उन्हें मलिन जीवन कदापि प्रिय नहीं है—

"सरजस्के गृहे स्थित्वा कर्तुं शक्यं न तन्मया ।

विरजस्कमभीष्टं मे जीवनं जगतां हितम् ॥"⁴

¹ बु. वि. का. : 19/33

² वही, 19/38

³ वही, 19/41

⁴ वही, 19/49

(छ) निमित्त दर्शन :

कवि ने 'निमित्त दर्शन' सर्ग के अन्तर्गत सिद्धार्थ को वृद्ध, रोगी एवं मृत व्यक्ति के दर्शन कराकर उन्हें संसार की निःस्सारता का ज्ञान कराया है। शक्यों के परस्पर विवाद एवं हिंसामय कृत्यों को देखकर वैराग्य उत्पन्न होने का वर्णन गत सर्ग में किया जा चुका है। यह निमित्त दर्शन कवि के मत में भौतिक नहीं था। इस निमित्त को केवल सारथि के साथ युवराज सिद्धार्थ ही देखने में समर्थ थे। कवि जोर देकर कहता है कि अलंकारिक भाषा में इसे कवि ही वर्णन करने में समर्थ है, मैं तो केवल अपने सामर्थ्यानुसार इसके इतिवृत्त को कहने का प्रयत्न कर रहा हूँ—

सर्वप्रथम युवराज सिद्धार्थ ने जरा-पीड़ित, भयंकर आकृतिवाले मनुष्य को देखा। इसे देखकर उन्होंने सारथि से जिज्ञासा की कि, "यह मनुष्य जैसा भयंकर आकृति वाला कौन है?" इस पर सारथि ने उनकी जिज्ञासा का शमन करते हुये, उस भयंकर आकृति से भयभीत एवं अप्रसन्न न होने के लिये कहा। युवराज के यह पूछने पर कि क्या वृद्धावस्था सभी में उत्पन्न होती है? तब सारथि ने इसका सकारात्मक उत्तर देते हुये तथा वृद्धावस्था की निन्दा करते हुये कहा कि—

"जरायां समुपेतायां सर्व सम्भवति प्रभो।

आगत्य न पुनर्याति हन्त्रीयं बलरूपयोः ॥¹

सारथि के इस कथन को सुनकर उनका अपने बल एवं यौवन के प्रति गर्व समाप्त हो गया। दूसरे दिन वे श्रमण की इच्छा से निकले, उन्होंने एक वीभत्स रूप के रोगी मनुष्य को देखा जो उल्टी, खांसी तथा घावों से पीड़ित था। इस पर उन्होंने सारथि से पूर्ववत् प्रश्न किया। सारथि ने कहा कि, "यह मनुष्य ही है, रोग के कारण यह वीभत्सता उत्पन्न हुई। सारथि उन्हें समझाते हुये कहते हैं कि शरीर के भीतरी दोष शरीर में रोग उत्पन्न करते हैं। रोगयुक्त शरीर में जो कुछ हो जाये, उसमें आश्चर्य नहीं है, जो

¹ बु.वि.का. 20/17

चिकित्साशास्त्र जानते हैं, वे भी इस रहस्य को नहीं जान पाते ।" इस प्रत्युत्तर से युवराज गौतम स्वस्थ शरीर के प्रति गर्व चूर-चूर हो गया । तदनन्तर एक दिन भ्रमण करते हुये उन्होंने मृत पुरुष को देखा यद्यपि उन्हें मृत्यु का ज्ञान था परन्तु उन्होंने पहले कभी भी मृत पुरुष को नहीं देखा था । उन्होंने पूछा कि, 'सारथि यह कौन है' जिसे मनुष्य इस प्रकार ले जा रहे हैं ।" सारथि ने उत्तर दिया कि, ' भगवन् यह मनुष्य मृत्यु को प्राप्त हो गया है । श्मशान जाकर क्षण भर में ही यह भस्म और अवस्थियों का अवशेष रह जायेगा ।' पुनः उन्होंने पूछा कि, " जैसा यह है, इस मृतक के समान ही क्या अन्य प्राणियों को भी होना पड़ेगा ?" सारथि के सकारात्मक उत्तर को सुनकर जीवन के प्रति भी वे मदविहीन हो गये । निमित्त दर्शन से वैराग्यचित्त उत्पन्न हो जाने पर एक दिन नगर भ्रमण करते हुये उन्होंने प्रसन्न मुखमण्डल वाले तेजोमय श्रमण को देखा । उनके पूछने पर सारथी ने कहा- देव यह श्रमण है ।' तब गौतम ने उस श्रमण के समीप जाकर पूछा- 'महात्मन ! आप इस अशान्त जगत् में शान्त होकर कैसे विहार कर रहे हैं ? ' श्रमण ने युवराज को उत्तर देते हुये कहा कि स्त्री का परित्याग किये हुये मैं इस जगत् में विहार कर रहा हूँ-

"कामिनीकांचनत्यागी विरागही यतोऽस्म्यहम् ।

शान्तः सन् विहराम्यत्र शान्तिहीने ततो भवे ।।"¹

वैराग्यचित्त वाले गौतम को श्रमण-दर्शन से कुछ शान्ति प्राप्त हुयी तथा भ्रमण करते हुये वे राजोद्यान पहुँचे । वहाँ उद्यान में स्त्रियों के द्वारा उस महासत्त्व युवराज का स्वागत एवं वन्दना की गयी ।

बुद्धचरित एवं ललितविस्तर में वर्णित निमित्त दर्शन घटनाक्रम की प्रस्तुत ग्रंथ में वर्णित निमित्त दर्शन से समानता प्रतीत होती है । सिद्धार्थ के निमित्त दर्शन के पश्चात् ललितविस्तर में गोपा के स्वप्नदर्शन का भी वर्णन मिलता है, जिसका उल्लेख प्रस्तुत आलोच्य ग्रंथ में नहीं किया गया है । गोपा का स्वप्न इस प्रकार है-

रात्रि में सोते हुये सिद्धार्थ की पत्नी यशोधरा ने एक अद्भुत स्वप्न देखा कि सम्पूर्ण पृथ्वी पर्वतों

¹ बु.वि.का. : 20/47

सहित प्रकम्पित हो गयी, हवा के वेग से वृक्ष पृथ्वी पर गिर गये हैं । नक्षत्र सहित चन्द्र एवं सूर्य को उसने आकाश से पृथिवी पर गिरा हुआ देखा, दाहिने हाथ से केशों को काटा जाता हुआ देखा, मुकुट को तहस-नहस, हाथों को कटा हुआ, पैरों को कटा हुआ तथा स्वयं को नग्न, अपने मुक्ताहार एवं करधनी के मोतियों को छिन्न-भिन्न देखा । उस गोपा ने पलंग को टूटा हुआ देखा । सभी आभूषण गिरे हुये, बिखरे हुये, पानी के द्वारा प्रवाहित किये जाते हुये तथा सिद्धार्थ के वस्त्र, मुकुट एवं सभी आभूषणों को शय्या पर यत्र-तत्र बिखरा हुआ देखा । स्वप्न में उसने नगर से निकलती हुयी उल्काओं को तथा नगर को अन्धकार से व्याप्त, रत्नों की सुन्दर कण्ठश्री को टूटा हुआ देखा । लम्बित मुक्ताहार को गिरा हुआ, महासागर को क्षुब्ध तथा पर्वतराज मेरु को अपने स्थान से प्रकम्पित होते हुये देखा । स्वप्न से भयभीत गोपा ने इस सकल वृत्तान्त को सिद्धार्थ से निवेदन किया । तदनन्तर बोधिसत्त्व द्वारा गोपा के स्वप्न वृत्तान्त के फलों का वर्णन मिलता है । सिद्धार्थ कहते हैं कि , 'तुमने जो पृथ्वी को प्रकम्पित, वृक्षों को मिरते हुये तथा केशों को काटा जाता हुआ देखा है, उसका तात्पर्य है कि तुम शीघ्र ही क्लेशों के जाल को उच्छिन्न कर इस कृत्रिम संसार से दृष्टि जाल दूर कर दोगी ।' तुमने जो नक्षत्र सहित चन्द्र एवं सूर्य को मिरते हुये देखा है, इसका तात्पर्य है कि तुम शीघ्र ही क्लेश रूपी शत्रु को समाप्त कर संसार में प्रशंसा के योग्य तथा पूजनीय हो जाओगी । तुमने जो विकीर्ण मुक्ताहार तथा स्वयं को नग्न देखा है इसका तात्पर्य है कि, 'तुम शीघ्र ही स्त्री शरीर त्याग कर पुरुष हो जाओगी ।' इसके अतिरिक्त तुमने जो पलंग तथा छत्र एवं दण्ड को टूटा हुआ देखा है, इसका तात्पर्य है कि 'तुम शीघ्र ही चारों महासागरों को पारकर त्रिलोक में मुझे एक छत्र वाला देखोगी ।' 'जो तुमने नदी में प्रवाहित आभूषण आदि देखे हैं,' इसका तात्पर्य है कि, 'लक्षणों से विभूषित शरीर वाले मुझको सभी प्राणियों द्वारा स्तुति किया जाता हुआ देखोगी ।' जो तुमने नगर से निकलती दीपिकाएँ तथा नगर को अन्धकार से व्याप्त देखा है, इसका तात्पर्य है कि, 'मोह और अविद्या के अन्धकार वाले सम्पूर्ण संसार को मैं प्रज्ञा के प्रकाश में स्थापित करूँगा । तुमने जो मुक्ताहार को छिन्न-भिन्न देखा है इसका फल है कि तुम शीघ्र ही क्लेशों के जाल को काटकर इस कृत्रिम-जगत् के संज्ञा-सूत्र को निकाल फेंकोगी ।'¹

¹ ल.वि.-मि. वि.द.-स्व.प., पृ. 140-43

ललितविस्तर के अतिरिक्त अन्य बौद्ध ग्रंथों में स्वप्न के फल के वर्णन प्राप्त नहीं होते ।

॥ज॥ वनविहार :

‘वनविहार’ शीर्षक के अन्तर्गत कवि ने सिद्धार्थ द्वारा राजा शुद्धोदन से प्रव्रजित होने की अनुमति मांगने का वर्णन है । इसके अतिरिक्त राहुल-जन्म का भी उन्होंने इस शीर्षक के अन्तर्गत वर्णन किया है ।

वनविहार करते हुये सिद्धार्थ को सेविकाओं ने अनेक विलासपूर्ण चेष्टाओं के द्वारा प्रसन्न करने का प्रयत्न किया । तदनन्तर प्रधान सेवक द्वारा सिद्धार्थ को वस्त्राभूषण एवं चन्दन लेप इत्यादि द्वारा विभूषित किया गया । इस प्रकार सभी के द्वारा अभिनन्दित तथा पूजनीय उन्होंने सन्ध्याकाल में राजभवन लौटने का निश्चय किया । वे राजभवन की ओर प्रस्थान करने वाले ही थे कि दूत ने उन्हें पुत्र-रत्न की प्राप्ति का सन्देश दिया । इस सन्देश को सुनकर सिद्धार्थ के मुख से निम्न शब्द वरबस ही निकल पड़े -

"अहो मे राहुरुत्पन्नो जातं मे हन्त वन्धनम् ।"¹

दूत द्वारा निवेदित इस वृत्तान्त को जानकर राजा शुद्धोदन ने पौत्र का नाम राहुल ही रख दिया । तदनन्तर सिद्धार्थ ने नगर में प्रवेश कर , राजमहल पहुँचकर राजा से कहा कि - " मेरा मन इस रोग, जरा तथा मृत्युग्रस्त संसार से विरक्त हो गया है । मैं शान्त एवं अमृत पद को पाना चाहता हूँ । अतः आप मुझे प्रव्रजित होने की अनुमति प्रदान करें-

'अमृतं ज्ञातुमिच्छामि शान्तिं लब्धुं मम स्पृहा ।

प्रव्रजितुं गणादस्मादनुज्ञां दातुमर्हसि ।।"²

पुत्र के इस प्रकार के वचनों से व्याकुल चित्त राजा शुद्धोदन ने स्वयं को संयमित करते हुये कहा कि, " अभी तुम्हारे प्रव्रजित होने का समय नहीं है क्योंकि युवावस्था में गृहस्थ धर्म का पालन करना चाहिये

¹ बु.वि.का. 21/26

² वही, 21/37

तथा वृद्धावस्था में ही मुनिवृत्ति का शास्त्रोक्त विधान है-

"व्यतीतयौवनस्यात्र मुनिवृत्तिविधीयते ।

चंचलं यौवनं पुत्र धर्मायात्र न कल्पते ॥"¹

पिता के इस प्रकार के वचन को सुनकर संसार की असारता पर प्रकाश डालते हुये सिद्धार्थ गौतम ने कहा कि, 'शक्ति एवं सामर्थ्य से पूर्ण युवावस्था में ही धर्म का पालन करना चाहिये ":

"अनित्ये जीवने तात धर्मस्य समस्तदा ।

यदा काये बलं पूर्णं चैतन्यं चापि मानसे ॥"²

पुनः पिता से प्रार्थना करते हुये वे कहते हैं कि- "जीर्णकाय, विक्षिप्त चेतना वाला वृद्ध व्यक्ति धर्म चिन्तन करने में समर्थ नहीं होता । धर्मपालन का यही समय है, इसलिये मुझे प्रव्रजित होने की अनुमति प्रदान करें ।" तब राजा शुद्धोदन ने पुत्र को वचनों द्वारा नहीं अपितु अश्रुपूर्ण नेत्रों द्वारा प्रव्रज्या ग्रहण करने की अनुमति प्रदान कर दी जिसका कवि ने अत्यन्त मर्मस्पर्शी वर्णन किया है-

"इत्येवं याचमानं तं तनयं नेत्रवारिणा ।

ददावनुमतिं राजा वचसा न सदर्थवित् ॥"³

आचार्य अश्वघोष विरचित बुद्धचरित में वर्णित राहुल जन्मोत्पत्ति तथा प्रस्तुत ग्रन्थ में वर्णित राहुल जन्मोत्पत्ति की समानता प्रतीत होती है परन्तु बुद्धचरित में इसका वर्णन सिद्धार्थ के निमित्त दर्शन से पूर्व किया गया है⁴ जबकि आलोच्य ग्रंथ में निमित्त दर्शन के अनन्तर किया गया है । ललितविस्तर में राहुल-जन्म का वर्णन नहीं मिलता है ।

¹ बु. वि. का. 21/41

² वही, 21/45

³ वही, 21/50

⁴ बु. च. , 2/46, पृ. 26

(झ) महाभिनिष्क्रमण :

कवि ने सिद्धार्थ के गृहत्याग से लेकर प्रव्रज्या ग्रहण पर्यन्त घटनाओं का 'अभिनिष्क्रमण शीर्षक' के- अन्तर्गत वर्णन किया है । 'निमित्तदर्शन' से सांसारिक नश्वरता को जानकर प्रव्रज्या के इच्छुक युवराज सिद्धार्थ अपने परिवारजनों से मिलने के लिये राजभवन में गये । राजप्रसाद में प्रविष्ट हुये सिद्धार्थ को स्त्रियों ने नृत्यादि के द्वारा आह्लादित करने का प्रयत्न किया परन्तु विरक्तचित्त वे उनके प्रति आसक्त नहीं हुये । शयनकक्ष में प्रवेश करने पर सिद्धार्थ को नवोत्पन्न पुत्र को देखने की जिज्ञासा हुयी परन्तु यशोधरा जागकर उनके अभिनिष्क्रमण में बाधा उत्पन्न न कर दे, इस भय से उन्होंने अन्दर प्रवेश नहीं किया । तदनन्तर आषाढ़ पूर्णिमा की रात्रि को कन्थक नामक अश्व पर आरुढ़ हुये सिद्धार्थ ने सारथि छन्दक के साथ गृहत्याग दिया । रात्रि में गमन करते हुये सूर्योदय होने पर, अनवमा नदी पर पहुँचकर उन्होंने तापस विधि से प्रव्रज्या ग्रहण कर ली । तदनन्तर वर्णन है कि रात्रि में जब सिद्धार्थ गृह त्यागकर बोधि प्राप्ति के लिए जा रहे थे, तब दुष्टमति मार ने इन्हें अपने लक्ष्य से पथभ्रष्ट करने का प्रयत्न किया । पापी मार ने इन्हें अनेक प्रलोभन दिये किन्तु उन्हें उनके पथ से विचलित न कर सका । यही नहीं यह पापी मार जीवनपर्यन्त इन्हें अपने पथ से विचलित करने का प्रयास करता रहा किन्तु वह सर्वदा विफल ही रहा—

"मारश्चानुससारेनं ध्रियमाणमतन्द्रितः ।

परं न विजयं लेमे सदा प्राप पराभवम् ।।"¹

इस प्रकार उन्होंने प्रव्रज्या ग्रहण कर ली तथा सारथि छन्दक को उन्होंने राजमहल भेज दिया । नगर में छन्दक से सम्पूर्ण वृत्तान्त जानकर राजा शुद्धोदन, गौतमी, यशोधरा एवं अन्य स्त्रियाँ विलाप करने लगीं । अन्त में छन्दक द्वारा सभी को सान्त्वना दिये जाने का वर्णन है ।

¹ बु. वि. का. : 22/34

(ज) तपश्चर्या एवं बुद्धत्व प्राप्ति :

छन्दक से युवराज के प्रव्रज्या के समाचार को जानकर राजा शुद्धोदन ने गुरु विश्वामित्र के साथ अपने मंत्री कालोदायी को उन्हें वापिस बुलाने के लिये भेजा । वे युवराज सिद्धार्थ को पुनः घर लाने के प्रयास में विफल हो गये । प्रव्रजित होकर भिक्षाटन करते हुये वे मगध नरेश राजा बिम्बसार के राज्य में प्रविष्ट हुये । तेजोमय इस पुरुष को देखकर राजा ने उनके कुल एवं माता-पिता के विषय में पूछा । सिद्धार्थ ने राजा को अपने कुल का परिचय दिया तथा कहा कि 'मैंने इस कुल को छोड़कर प्रव्रज्या ग्रहण की है ।' तदनन्तर राजा बिम्बसार ने उन्हें राज्य धन इत्यादि देने का निमन्त्रण दिया परन्तु एकमात्र बोधि पाने के इच्छुक सिद्धार्थ ने उनके निवेदन को अस्वीकार कर दिया । तदनन्तर चारिका करते हुये बोधिस्तव 'मुनि भार्गव' के आश्रम पर पहुँचे जहाँ मुनिवर ने उन्हें व्रत - उपवास एवं तपस्या करने का उपदेश दिया । वहाँ सिद्धार्थ ने मुनियों द्वारा शारीरिक यातना देने वाली अनेक प्रकार की तपस्याओं को करते देखा । तब उन्होंने हृदय में विचार किया कि- " स्वर्ग की प्राप्ति शरीर को पीड़ित करके हो सकती है- यह निश्चित नहीं है । जैसा विषयी लोगों का चित्त होता है वैसा ही तपस्वियों का है । तृष्णा की जो स्थिति गृहस्थ जीवन में है वही यहाँ वन में है ।" इस प्रकार विचारकर उन्होंने मुनिवर से कहा कि- " लोकसुख के समान स्वर्गसुख में मेरी कामना नहीं है । मैं तो सम्यक् सम्बोधि की खोज में प्रयासरत हूँ-

" यथास्मि लोके न सुखानि कामये तथा स्पृहा स्वर्गसुखेऽपि नास्ति मे ।

तदुत्तरान्वेषण एमि बोधिधीः शुभान्यनुध्यायत मेऽत्र साधवः ।।"¹

तदनन्तर मुनि भार्गव के आश्रम को त्यागकर वे विख्यात दार्शनिक महर्षि अराड के समीप पहुँचे । महर्षि अराड ने उन्हें प्रकृति-पुरुष युक्त सांख्योपदेश दिया । सिद्धार्थ ने ध्यान द्वारा सांख्य में वर्णित केवल्य को प्राप्त कर लिया, परन्तु उन्हें इससे आत्मसन्तोष नहीं हुआ । तदनन्तर वे अराड मुनि के आश्रम को त्याग

¹ बु.वि.का. : 25/51

उड़क मुनि के आश्रम में पहुँचे परन्तु 'उड़क मुनि' का भी वही सांख्योपदेश सुनकर सिद्धार्थ उत्तम बोधि की खोज में आगे निकल पड़े । पदचारिका करते हुये वे 'गया' पहुँचे और 'गयाशीर्ष पर्वत' पर निवास करने लगे ।

तदनन्तर प्रस्तुत ग्रंथ में वर्णन है कि 'गयाशीर्ष' पर्वत पर निवास करते हुये बोधिस्तत्त्व के हृदय में तीन उपमायें प्रकट हुयीं—

- 1- पानी में गीली उत्तरारणि तथा गीली अधरारणि को घिसने से जिस प्रकार अग्नि प्राप्त नहीं होती उसी प्रकार घर में कामरत काय और चित्त के होने पर तपस्या से साधक को ज्ञान की प्राप्ति नहीं होती -

"कामाभिरामयोस्तद्वदालये कायचित्तयोः ।

तत्त्वार्थं समवाप्नोति तपः कृत्वा न साधकः ॥"¹

- 2- जिस प्रकार सूखी भूमि पर गीली उत्तरारणि तथा गीली अधरारणि को घिसते हुये अग्नि प्राप्त नहीं होती, उसी प्रकार गृहत्यागकर वन में कामरत काय और चित्त के होने पर साधक को तपस्या से तत्त्वार्थ की प्राप्ति नहीं होती—

"कामाभिरामयोः कायचित्तयोरप्यनालये ।

तत्त्वार्थधिगमायैवं तपस्वी नैव कल्पते ॥"²

- 3- जिस प्रकार सूखे स्थान पर सूखी उत्तरारणि तथा सूखी अधरारणि को घिसते हुये साधक को अग्नि प्राप्ति होती है, उसी प्रकार गृहत्यागकर वन में कामहीन काय एवं चित्त के होने पर तपस्या द्वारा साधक सच्चे ज्ञान की प्राप्ति कर लेता है—

"अनालये तथा कायचित्तयोः कामहीनयोः ।

समवाप्नोति तत्त्वार्थं तपःकृत्वात्र साधकः ॥"³

¹ बु. वि. का. : 28/9

² वही, 28/11

³ वही, 28/13

इस प्रकार विचार करते हुये उन्होंने योगाभ्यास द्वारा तप करने का निश्चय किया । तदनन्तर नैरजंता नदी का कवि ने विस्तार से वर्णन किया है । तदनन्तर उरुविल्वा नामक स्थान पर सभी ऋतुओं की भीषणता की सहनशीलता, प्राणनिग्रह, अल्पाहार, निराहारादि के द्वारा बोधिसत्त्व का तप संवर्धित होने लगा। प्राणायाम के द्वारा प्राणों के निग्रह से मुनि एवं देवता उन्हें मृत समझने लगे । इस वृत्तान्त को सुनकर उनकी माता त्रयस्त्रिंश लोक से आकर विलाप करने लगी । उन्हें स्थाणु जैसा अचल हो तप करते देखकर बालक उनके चारों ओर क्रीड़ा करने लगे । उनके अविचल शरीर को बालक अपने हाथों से स्पर्श करते थे एवं उनके कानों को कौतुक से काष्ठ द्वारा अलङ्कृत करते थे । वे उन्हें धूल से स्नान कराकर धूल के पुतले के समान उनकी पूजा करते थे । तदनन्तर निराहार तप करते हुये वे द्वितीया के चन्द्रमा के समान क्षीण हो गये तथा उनका शरीर केवल अस्थि-पञ्जर के समान हो गया । निरन्तर निराहार से वे मूर्छा को प्राप्त हो गये। तदनन्तर चेतना की प्राप्ति पर देवताओं सहित मनुष्य लोक के हर्षनाद के साथ सिद्धार्थ का पुनः तपस्या में लीन होने का वर्णन कवि ने किया है ।

तदनन्तर मार और बुद्ध का संवादात्मक वर्णन कवि ने किया है । मार उन बोधिसत्त्व को अनेक प्रकार से प्रलोभन देते हुए बोला- "इस तप को त्याग दो । तप से भग्न इस शरीर को संभालना उचित है क्योंकि शरीर ही सब प्रयोजनों का साधन है ।" बोधिसत्त्व ने प्रत्युत्तरस्वरूप दृढ़ शब्दों में उसे प्रताड़ित करते हुये कहा- "मैं तुम्हें एवं तुम्हारी सेना कामाभावादि को भली प्रकार जानता हूँ" और इस प्रकार मुनि ने मार के प्रयास को विफल कर दिया । तदनन्तर मुनि के ये विचार उद्भूत हुये कि, "यही तपस्या की अन्तिम सीमा है, इससे अधिक शरीर का शोषण करना सम्भव नहीं है । कायशोषण के साथ बोधि का कोई सम्बन्ध नहीं है ।" इस प्रकार छह वर्ष तक तपस्या करने के पश्चात् उन मुनि ने भोजन ग्रहण करना आरम्भ कर दिया । इस पर पञ्चवर्गीय भिक्षु रुष्ट हो गये और उन्हें त्यागकर चले गये तथा वे मुनि अकेले रह गये । तदनन्तर बोधिसत्त्व द्वारा रात्रि में देखे गये स्वप्न और उनके फलों का वर्णन कवि ने विस्तार से किया है । इन स्वप्नों को देखने के अनन्तर वे अजपाल नामक वटवृक्ष के नीचे समाधिस्थ हो गये । तदनन्तर वैशाख पूर्णिमा से पूर्व की रात्रि को सुजाता द्वारा अर्पित पायस को ग्रहणकर बोधिसत्त्व ने बोधिवृक्ष के नीचे ध्यानस्थ

होने का संकल्प किया । उनके इस दृढ़ निश्चय से विचलित होकर मार ने उन्हें अनेक प्रकार के प्रलोभन दिये किन्तु वह अपने प्रयोजन में सफल न हो सका और अन्ततः पराजित होकर वापिस चला गया । वैशाख मास की रात्रि के प्रथम प्रहर में अपने पूर्वजनों का स्मरण करते हुए बोधिसत्त्व सिद्धार्थ को 'अनित्यता' का बोध कराने वाली प्रथम विद्या का ज्ञान हुआ । द्वितीय प्रहर में 'सब संस्कार दुःखमय है', इस दूसरी विद्या का ज्ञान हुआ । द्वितीय प्रहर में 'सब संस्कार दुःखमय है', इस दूसरी विद्या का ज्ञान प्राप्त हुआ । तृतीय प्रहर में इसके होने से यह उत्पन्न होता है, इसके निरोध से इसका निरोध हो जाता है—

"इमस्मिं सति इदं होति, इमस्य उत्पादा इदं उत्पज्जति ।

इमस्मिं असति इदं न होति, इमस्स निरोधो इदं निरुज्जति ।।"¹

इस प्रकार के प्रतीत्यसमुत्पाद का ज्ञान प्राप्त किया । इस प्रकार उन बोधिसत्त्व ने सम्बोधि को प्राप्त कर लिया तथा सात सप्ताहों तक इस सम्बोधि ज्ञान का मनन किया जिसका प्रस्तुत आलोच्य ग्रन्थ में कवि ने विस्तृत विवेचन किया है ।

बोधिप्राप्ति के पश्चात् इन्द्र ने स्वयं आकर तथागत की सेवा की । इन्द्र के चले जाने के पश्चात् त्रपुष तथा भल्लिक नाम के वैश्यों ने तथागत के दर्शन किये तथा प्रभु को मधु एवं सत्तू अर्पित किये । वैश्यों पर पात्र न होने के कारण चारों लोकपालों ने प्रभु को पात्र प्रदान किये । तथागत के भोजन करने के पश्चात् उन वैश्यों ने तथागत से अपने लिये पूजा की वस्तु की अभियाचना की । वैश्यों के अनुरोध पर तथागत ने अपने कुछ केश उन्हें प्रदान किये तथा अनेक स्वस्ति वचन एवं आशीर्वाद भी प्रदान किये । तदनन्तर धर्मप्रवचन के प्रति अनिच्छा वाले उन सम्यक् सम्बुद्ध से ब्रह्मा ने धर्मप्रवचन की अभियाचना की । ब्रह्मा की इस याचना को तथागत ने दो बार अस्वीकृत कर दिया, परन्तु तीसरी बार वे इसे अस्वीकार नहीं कर सके । ब्रह्मा की सम्प्रेरणा से उन्होंने अपने द्वारा प्राप्त सम्बोधि को संसार में प्रचार करने का आश्वासन उन्हें दिया ।

¹ म. नि. - ना. सं. - भा. - 3, पृ. 126-127

प्रस्तुत ग्रन्थ का ललितविस्तर एवं बुद्धचरित से कहीं-कहीं वैषम्य प्रतीत होता है । ललितविस्तर में वर्णन है कि सिद्धार्थ प्रव्रज्या ग्रहण के अनन्तर सर्वप्रथम शाकी ब्राह्मणी, पद्मा ब्राह्मणी तथा ब्रह्मर्षि रेवत का निमन्त्रण स्वीकार करते हुये महर्षि अराड के आश्रम पर पहुँचे तदनन्तर वे मगध-देश पहुँचे । ललितविस्तर में 'मुनि भार्गव' का वर्णन प्राप्त नहीं होता ।¹ इसके विपरीत बुद्धचरित में सिद्धार्थ द्वारा सर्वप्रथम 'मुनि भार्गव' के आश्रम में जाने का वर्णन है, तदनन्तर मगध देश जाने का तथा अन्त में 'महर्षि अराड' के समीप जाने का वर्णन है ।² आलोच्य ग्रंथ में सर्वप्रथम सिद्धार्थ द्वारा मगध देश में प्रवेश करने का वर्णन है । तदनन्तर 'भार्गव मुनि' के आश्रम में जाने का तत्पश्चात् 'अराडमुनि' के तथा अन्त में 'उद्दक मुनि' के समीप जाने का वर्णन है ।

सिद्धार्थ गौतम के बुद्ध हो जाने पर, बोधिवृक्ष के नीचे सात सप्ताहों तक पालथी मारने का वर्णन प्रस्तुत ग्रंथ में किया गया है परन्तु ललितविस्तर में इसके अतिरिक्त भी वर्णन प्राप्त होता है । वहाँ वर्णन है कि सभी देवताओं ने बोधिवृक्ष के नीचे समाधिस्थ तथागत की स्तुति एवं पूजा की । एक समन्तकुसुम नामक देवपुत्र ने तथागत से प्रश्न पूछा - " भगवन् ! यह कौन सी समाधि है, जिसमें निरन्तर पालथी लगाये हुये सप्ताहपर्यन्त समाधिस्थ रहे ।" इसका प्रत्युत्तर देते हुये तथागत ने देवपुत्र से कहा कि "हे देवपुत्र ! यह 'प्रीत्याहार व्यूह' नामक समाधि है, जिसमें अनवरत रूप से सप्ताह पर्यन्त तथागत समाधिस्थ रहते हैं ।" तदनन्तर समन्तकुसुम ने तथागत की स्तुति कर अपनी जिज्ञासा शमनार्थ पुनः पूछा- "हे भगवन् ! क्या कारण है कि बुद्ध सर्वज्ञ होकर भी सप्ताह पर्यन्त पालथी पर अनवरत रूप से समाधिस्थ रहते हैं तथा आप भी सप्ताह भर निर्मिष नेत्रों से क्या देखते रहे हैं ?" तदनन्तर तथागत ने दृष्टान्त के माध्यम से देवपुत्र के प्रश्न का उत्तर देते हुये कहा-"हे देवपुत्र ! जैसे राजा अपने ज्ञातिजनों के द्वारा किये गये अभिषेक स्थल को सप्ताहपर्यन्त तक नहीं छोड़ता उसी प्रकार बुद्ध भी बुद्धत्व प्राप्ति पर अभिषेक के समय सप्ताहपर्यन्त

¹ ल.वि. : बिम्ब.प., पृ. 174

² बु.च. : सर्ग, 9,10,12

अनवरत रूप से पालथी मारकर समाधिस्थ रहते हैं ।" आगे देवपुत्रों से बुद्ध कहते हैं कि, " जैसे वीर स्वविजित शत्रुगणों का निरीक्षण करता है उसी प्रकार बुद्ध भी बोधिमण्डप में अपने द्वारा नष्ट किये गये सभी क्लेशों का अवलोकन करते हैं ।" पुनः बुद्ध देवपुत्र से कहते हैं कि, " पृथिवीमण्डप में जो पालथी भंग नहीं करते हैं, वे सहेतुक, प्रत्ययों से युक्त तथा निदानों से युक्त हैं ।" इस प्रकार सभी देवताओं ने भगवान का अभिनन्दन किया ।¹

ललितविस्तर में वर्णन है कि तथागत के बोधिप्राप्ति के अनन्तर मार उनके समीप आया और बोला—"भगवन् निर्वाण को प्राप्त करें ।" परन्तु तथागत उससे बोले कि— " जब तक पृथ्वी पर संघ की प्रतिष्ठापना नहीं हो जाती, वे निर्वाण को प्राप्त नहीं करेंगे ।" आलोच्य ग्रंथ में इसका उल्लेख प्राप्त नहीं होता ।"²

ललितविस्तर में त्रपुष तथा भल्लिक नामक वैश्यों के लिये अपने-अपने पुण्य कर्मों के द्वारा 'मघुसम्भव' नामक बुद्ध होने की भविष्यवाणी का उल्लेख है । यह तथागत का प्रथम भविष्यत्कथन है किन्तु आलोच्य ग्रंथ में इस प्रकार की भविष्यवाणी का उल्लेख नहीं है ।³

(ट) धर्मापदेश एवं धर्मप्रचार :

आलोच्य ग्रन्थ में वर्णन है कि ब्रह्माद्वारा सम्प्रेरित बुद्ध ने ऋषिपत्तन मृगदाव में जाकर पञ्चवर्गीय भिक्षुओं को सर्वप्रथम उपदेश देने का निश्चय किया । तथागत का सम्मान न करने के लिये दृढ़ निश्चयी उन पञ्चवर्गीय भिक्षुओं का बुद्ध के समीप आते-आते आदरभाव बढ़ता ही गया । बुद्ध ने अपने धर्म का प्रथम उपदेश देते हुए उन भिक्षुओं से कहा कि "कामसुखों का भोग तथा उपवासादि के द्वारा शरीर को पीड़ित करना उचित नहीं है ।" इसी को भगवान् बुद्ध ने मध्यम मार्ग की संज्ञा दी है । तदनन्तर उन्होंने चार आर्य सत्यों का उपदेश उन भिक्षुओं को दिया — "दुःख, दुःख समुदय, दुःख निरोध, दुःख निरोधगामिनी प्रतिपदा ।

¹ ल. वि. - त्रपु. प., पृ. 269

² वही, पृ. 274

³ वही, पृ. 285

ये सकल संसार दुःखमय है, इस दुःख का समुदय तृष्णा है, तृष्णा के निरोध से ही दुःख दूर किया जा सकता है तथा दुःख दूर करने का मार्ग आष्टांगिक मार्ग है ।" उन्होंने असित मुनि के भागिनेय नालक को मौनेय पद का उपदेश दिया । तदनन्तर उन्होंने श्रेष्ठी के पुत्र यशोद को स्वहित त्यागकर परार्थ का उपदेश दिया । तथागत भिक्षु संघ को आदि, मध्य तथा अन्त में कल्याणकारी बौद्ध धर्म का उपदेश दिया करते थे । उन्होंने भिक्षुओं को हिंसा, असत्य, चोरी, कामभोगों तथा मादक पदार्थों से विरति का उपदेश दिया । तदनन्तर उन्होंने भिक्षुओं को पाप-निवृत्ति, पुण्य-प्रवृत्ति तथा चित्त-शुद्धि इस प्रकार के त्रिकल्याणमय धर्म का उपदेश दिया । उरुविल्वा में निवास करते हुये उन्होंने काश्यप को स्वाहाकार वाली यज्ञ क्रिया को त्यागने का उपदेश दिया । तदनन्तर चारिका करते हुये उन्होंने भिक्षु अश्वजित् और शारिपुत्र को प्रतीत्यसमुत्पाद का ज्ञान कराया । तदनन्तर उन्होंने राजा बिम्बसार की पत्नी क्षेमा, बुनकर की पुत्री तथा गौतमी को रूप-लावण्य वाले इस शरीर की अनित्यता का उपदेश दिया । राजा उदयन के पुत्र बोधिराजकुमार को उन्होंने कर्मवाद का उपदेश दिया । उन्होंने उसे उपदेश देते हुये कहा- "कर्मानुसार ही फल की प्राप्ति होती है । चेतना के द्वारा कृत कर्म ही शुभ एवं अशुभ फल का दाता है-

"यादृशी चेतना यस्य तादृशं कुरुते ऽत्र सः ।

यथा शुभाशुभं कर्म फलभाग् जायते तथा ॥"¹

यही नहीं लंका जाकर उन्होंने प्राणियों को मांस-भक्षण से विरत रहने का उपदेश दिया । लंका में निवास करते हुये उन्होंने यक्षों को मैत्री, नागों को करुणा, मुदिता एवं उपेक्षा चार ब्रह्मविहारों की भावना करने का उपदेश दिया । इसके अतिरिक्त राजा उदयन की पटरानी माकन्दी के वृत्तान्त को जानकर उन्होंने सभी प्राणियों को प्रमाद न करने का उपदेश दिया । भिक्षु संघ को रोगी-परिचर्या तथा सकल जगत के प्रति सेवाभाव का उपदेश दिया । भगवान् ने भिक्षुओं को सम्बोधित करते हुये कहा कि- "प्रव्रजित हुये तुम्हारे माता-पिता, बन्धु-बान्धव तथा घर-बार कुछ भी नहीं है । इसलिये तुम्हें बन्धुभाव से परस्पर एक-दूसरे

¹ बु. वि. का. 73/26

की सेवा करनी चाहिये-

'युष्माकं यूयमेव स्थ स्वजना बान्धवास्तथा ।

परिचर्या मिथो यूयं कुरूध्वं पूर्णचेतसा ॥"¹

तथागत ने साधकों को बुद्धत्व-प्राप्ति के लिये षट्-पारमिताओं का उपदेश दिया । आचार्य प्रवर ने ग्रन्थ के प्रारम्भ में ही बोधिचित्त के महत्त्व का प्रतिपादन करते हुये उसकी उत्पत्ति का सात उपायों द्वारा अभिकथन किया है- वन्दन, पूजन, पापदेशना, पुण्यानुमोदना, बुद्धाध्येषणा, बुद्धयाचना तथा बुद्धपरिणामना । तदनन्तर उनका कथन है कि बोधिचित्त उत्पन्न हो जाने पर बोधिव्रत ग्रहण करना चाहिये । इन्हीं साधनों से साधक बुद्धत्व पद की ओर अग्रसर होता है । आलोच्य ग्रंथ में कवि ने तथागत की जातिविहीन समाज की संकल्पना की सम्पुष्टि की है । कवि की मान्यता है कि प्राणी जन्म से नहीं अपितु कर्म द्वारा वृषल होता है-

"दोषवान् योऽधमो लोकः स एवं वृषलः किल ।

जन्मना वृषलो नात्र कर्मणा वृषलो मतः ॥"²

आचार्य प्रवर प्रस्तुत ग्रंथ में वर्णन करते हुये लिखते हैं कि प्रव्रजित को बुद्ध, धर्म एवं संघ की शरण में जाना चाहिये तथा निर्वाणप्राप्ति के लिये प्रयासरत रहना चाहिये ।

धर्म प्रचार :

भगवान् तथागत ने 45 वर्ष तक चारिका करते हुये समाज के विभिन्न वर्गों को उपदेश देकर बौद्धधर्म का प्रचार एवं प्रसार किया । उन्होंने जाति, लिंग, ऊँच-नीच के भेद के बिना ही अपने उपदेश देकर बौद्ध धर्म का प्रचार एवं प्रसार किया । उन्होंने जाति, लिंग, ऊँच-नीच के भेद के बिना ही अपने उपदेश सभी को दिये। यही कारण है कि बौद्ध धर्म संसार में चतुर्दिक फैल गया ।

¹ बु. वि. का. : 91/10

² वही, 19/32

पञ्चवर्गीय भिक्षुओं को प्रदत्त धर्मोपदेश के अनन्तर उन्होंने वाराणसी में सात एवं हैमवत यक्षों को उपदेश दिया । इसके पश्चात् ऋषिपत्तन में निवास करते हुए तथागत ने बाष्प, महानाम, अश्वजित्, भद्रजित् तथा कौण्डिन्य को पञ्चस्कन्धों का उपदेश दिया । तदनन्तर नालक को मौनेय पद का उपदेश दिया । वाराणसी में श्रेष्ठी पुत्र यश को धर्म दीक्षा देते हुये प्रभु मृगदाव वन में निवास करने लगे । निवास करते हुये उन्होंने एकपत्र नाम के नाग के गीतों का प्रत्युत्तर दिया । वहीं वास करते हुये जहाँ तथागत के द्वारा साठ अर्हत्तों को उत्तम धर्म का उपदेश देने का वर्णन है वहीं तीस भद्रवर्गीय कुमारों को भी धर्म में दीक्षित करने का उल्लेख है । तदनन्तर भगवान् बुद्ध अपनी चारिका करते हुये मगध देश के उरुविल्ला नामक स्थान पर पहुँचे, जहाँ उन्होंने मुनि काश्यप तथा मगध नरेश बिम्बसार को प्रजा सहित बौद्ध धर्म की दीक्षा दी । इस प्रकार बुद्ध ने सकल जगत् को एक जाति एवं एक कुल के रूप में देखने के लिये महासंघ की स्थापना की । स्थान-स्थान पर पहुँचकर प्रत्येक भिक्षु बुद्ध का प्रतिनिधि बन गया तथा कल्याणकारी धर्म चतुर्दिक प्रसारित होने लगा । राजगृह में निवास करते हुये तथागत ने शारिपुत्र, मौद्गल्यायन, दीर्घनख नामक ब्राह्मण, कोलित तथा पिप्पलि माणव को बौद्ध धर्म में प्रव्रजित कर दिया । उज्जैन के राजा चण्डप्रद्योत के निमन्त्रण पर बुद्ध ने अपने शिष्यों को वहाँ भेजा, उन्होंने वहाँ की जनता को बौद्ध धर्म का उपदेश दिया । शुद्धोदन द्वारा प्रेषित मन्त्री कालोदायी ने भी तथागत का आश्रय ग्रहण किया । तदनन्तर राजा शुद्धोदन के निमन्त्रण पर तथागत रोहिणी नदी को पारकर वैशाख मास की पूर्णिमा को अपनी जन्मभूमि कपिलवस्तु धर्मप्रचारार्थ पहुँचे । वहाँ उन्होंने शुद्धोदन, यशोधरा, राहुल सहित सम्पूर्ण प्रजा को कल्याणकारी धर्म का उपदेश दिया । इसके अतिरिक्त युवराज नन्द को भी नन्दन वन ले जाकर धर्म में प्रव्रजित कर दिया । अनुप्रिया नगरी के आग्रवन में निवास करते हुये तथागत ने उपालि नापित, आनन्द तथा भाद्रिक को धर्मोपदेश दिया । तदनन्तर तथागत पुनः राजगृह लौट आये । वहाँ वैशाली में लिच्छिवियों के राजा महालि के निमन्त्रण पर वे वैशाली गये तथा सम्पूर्ण जनता को धर्मदेशना की । तदनन्तर राजगृह में रहते हुये उन्होंने जम्बुक नाम के आजीवक को पवित्र किया । सुदत्त नामक श्रेष्ठी के निमन्त्रण पर वैशाली पहुँचकर तथागत ने ग्राम-ग्राम जाकर धर्म का प्रचार किया । तक्षशिला के पौष्करसाति तथा सौवीर देश के राजा तिष्य ने भी बुद्ध धर्म का

पान किया तथा अर्हतों में से एक हो गये, जो राजा बिम्बसार के आमन्त्रण पर राजगृह आये हुये थे । तदनन्तर तथागत अपनी जन्मभूमि कपिलवस्तु गये जहाँ उन्होंने स्त्री संघ की स्थापना की । कौशाम्बी नगरी के मुकुलाचल पर छठा वर्षावास करते हुये, तथागत ने राजकुमारी क्षेमा को अनित्यता का उपदेश दिया । मगध के गिरिव्रज में निवास करते हुये तथागत ने ऋद्धियों के बल से अपने विरोधियों को शान्त कर दिया । ऋद्धियों के प्रदर्शन के पश्चात् तथागतने त्रयस्त्रिंश लोक जाकर अपनी माता को धर्मोपदेश दिया । भूलोकवासियों के निवेदन पर तथागत त्रयस्त्रिंश लोक से सांकाश्य नगर में उतरे । तदनन्तर मैत्रेय एवं श्रीवृद्ध नामक वैश्य पुत्रों को धर्म में प्रव्रजित कर वे शिंशुमारगिरि पर पहुँचे । शिंशुमारगिरि पर वत्सदेश के राजा उदयन के पुत्र बोधिराजकुमार, श्रावस्ती में सूनापरान्त राष्ट्र के सार्थवाह पूर्ण, सत्यवृद्ध पर्वत पर एक मोक्षार्थी ब्राह्मण, वणिग्ग्राम की समस्त जनता को, सूनापरान्त राष्ट्र को तथा नर्मदा नदी के किनारे जाकर नागराज को धर्मप्रवचन किया । भारत में ही नहीं अपितु श्रीलंका तक जाकर भगवान् बुद्ध ने इस धर्म का प्रचार किया । 'बुद्धविजयकाव्य' में भगवान् बुद्ध के तीन बार लंका में पदार्पण करने का वर्णन है । सर्वप्रथम उन्होंने महारेणुमती नदी के तट पर स्थित महानागवन में पहुँचकर युद्धातुर यक्षों को धर्म में विनीत किया । वहाँ सुमनदेव ने उनके केशों को लेकर मंह्यगण नामक स्तूप की स्थापना की । दूसरी बार क्षुद्रोदर नाम तथा महोदर नाग के विवाद के अवसर पर लंका स्थित नागद्वीप जाकर तथागत ने धर्मदेशना की, जिससे उनका विवाद शान्त हो गया । तीसरी बार मण्यक्षक नाग के निमन्त्रण पर तथागत लंका स्थित कल्याणी द्वीप पहुँचे तथा समन्तकूट पर्वत एवं अन्य अनेक स्थानों पर जाकर धर्मप्रचार करने का वर्णन 'बुद्धविजयकाव्य' में किया गया है । तदनन्तर हिमालय के तपस्वी घोषित, कुक्कुट, प्रावारकादि, कुरुदेश के कल्माषदम्य निगम के समस्त प्राणिजनों को, कौशाम्बी की रानी सामवती एवं दासी कुब्जा उत्तरा को तथा राजा उदयन को धर्मोपदेश दिया । तदनन्तर भगवान् ग्राम, नगर, निगम, जनपदों में धर्मप्रचार करते हुये वाराणसी पहुँचे । वाराणसी से पुनः वैशाली, कपिलवस्तु में वास करते हुये राहुल तथा राजा नन्दिक को धर्मोपदेश दिया । यही नहीं श्रावस्ती में वास करते हुये तथागत से स्वयं देवेन्द्र के द्वारा धर्मग्रहण करने का वर्णन आलोच्यग्रन्थ में मिलता है । तदनन्तर श्रावस्ती से तथागत आरभी आये वहाँ आरवक नामक यक्ष को, चलिचाचल में बुनकर

की पुत्री को धर्मोपदेश देकर प्रव्रजित कर दिया । इस प्रकार ग्राम-ग्राम, नगर-नगर में चारिका करते हुये तथागत ने धर्मवृष्टि के द्वारा संसार को सन्तृप्त कर दिया । इस प्रकार सम्पूर्ण मध्यदेश में बौद्धधर्म की स्थापना हो गयी । तदनन्तर श्रावस्ती में निवास करते हुये उन्होंने मृगारि श्रेष्ठी, धनञ्जय, गौतमी, डाकू, अंगुलिमाल, वैद्य जीवक, विशाखा, मेंठक श्रेष्ठी आदि भगवान् के उपासक हो गये । तदनन्तर भगवान् ने उग्रपुरी के उग्र नामक श्रेष्ठी तथा सरयू नदीके तट पर स्थित साकेत नगर में निवास करने वाले अपने पूर्वजन्म के माता-पिता का उद्धार किया । इसके अतिरिक्त तथागत ने द्रोण ग्राम में मैत्रायणी पुत्र पूर्ण, आपण नामक कस्बे में जटिल केन्य, केन्य के मित्र शैल ब्राह्मण, कुशीनगर में मल्लबन्धु रोच, श्रावस्ती में जानुश्रोणि ब्राह्मण, आश्वलायन, प्रौष्ठपाद को धर्म में दीक्षित किया । तदनन्तर कोसल देश के महाग्राम मनसाकट में वसिष्ठ को, वसिष्ठ मित्र भारद्वाज को, इच्छालांगलक नामक स्थान पर अंबष्ठ, कोसलदेश के औपसाद नामक स्थान पर चक्रि, स्थाणुमति में कूटदन्त ब्राह्मण, मगधदेश के राजगृह में श्रृंगार श्रेष्ठी तथा कुरुदेश के स्थूलकोष्ठित नामक स्थान पर राष्ट्रपाल को तथागत ने अपना शरणागत बनाया । इसके अतिरिक्त, द्रोण को, सौन्दरेय भारद्वाज, राजगृह में राजकुमार अभय, वेणुकण्टक में नन्दमाता उत्तरा, सत्यक, विदेह देश में मिथिला नगर के ब्रह्मायुष, मैथिल ब्राह्मणों, बक नामक ब्रह्म को, दीर्घलम्बी में ब्राह्मण शिशु, पटाचारा, श्रावस्ती के छत्रपाणि को तथागत ने प्रव्रज्या के द्वारा आनन्दित किया । मत्स्यषण्ड के चित्र गृहपति, कोसलमहाराज प्रसेनजित् की देवी मल्लिका, कुण्डलकेशी, वाराणसी में सुप्रिया, श्रावस्ती में सुभूति, सुप्रवासा, शैवल, भद्रा कपिलायनी, कुमार काश्यप, राजा पायसी, राध ब्राह्मण, महाकल्पिन् तथा गया में सूचिलोमश् एवं पञ्चशिख यक्ष को बौद्ध धर्म की दीक्षा दी । तदनन्तर उल्लेख है कि राजा बिम्बसार के पुत्र अजातशत्रु ने भी तथागत का आश्रय ग्रहण किया । तदनन्तर चारिका करते हुये तथागत वैशाली पहुँचे, वहाँ से पावापुरी तथा अन्त में कुशीनगर पहुँचे । मृत्युशय्या पर पड़े हुये उन्होंने एक सुभद्र नामक शिष्य बनाया । इस प्रकार बोधि प्राप्ति के पश्चात् 45 वर्ष तक धर्म का प्रचार एवं प्रसार करते हुये अस्सी वर्ष की आयु में वे महापरिनिर्वाण को प्राप्त हो गये ।

तथागत का यह धर्म उनके जीवन-काल में ही देश में चतुर्दिक् फैल गया । आलोच्य ग्रन्थ के अनुसार तथागत ने वर्ण, जाति, भाषा, भक्ति, गण तथा सिद्धान्त के विविध भेदों से भिन्न हुई पृथिवी को

एकाकार करते हुये धर्मप्रवचन किया था । उनके असाधारण व्यक्तित्व के प्रभाव से ही उनका यह कल्याणकारी धर्म विश्वधर्म बन गया ।

(ठ) महापरिनिर्वाण :

बोधिप्राप्ति के समय से ही धर्मवृष्टि करते हुये भगवान् बुद्ध को 45वर्ष व्यतीत हो गये । अस्सी वर्ष की आयु में निर्वाण लीला दिखाने के इच्छुक वे जरा एवं व्याधियों से पीड़ित होते हुये भी वे धर्म प्रचार करते हुये चारिका कर रहे थे । तदनन्तर एक समय वैशाली में चापल चैत्य में उपविष्ट मुनि के पास जम्बर मार ने करबद्ध निवेदन करते हुये कहा कि- " भगवान् निर्वाण प्राप्त करें । पृथ्वी पर धर्म के सहित संघ की प्रतिष्ठा हो जाने पर यह आपके लिये उचित समय है ।" दुष्ट मार के इस वचन को तथागत ने उचित ही माना । तदनन्तर भगवान् ने निर्वाण के लिये उचित समय जानकर, आयु संस्कार त्याग के चिन्तन द्वारा पृथिवी को भी चलायमान कर दिया तथा शिष्यों से कहा कि-" पृथ्वी पर निर्माणकाय से विराजमान बुद्ध आज से तीन मास पश्चात् निर्वाण को दिखलायेंगे । भगवान् के इस कथन को सुनकर देवलोक तथा पृथ्वीलोक के सभी प्राणी करुण-क्रन्दन करने लगे । इस पर भगवान् ने अपने वचनों द्वारा उन्हें शान्त कर दिया । इसके बाद चारिका करते हुये बुद्ध पावापुरी पहुँचे जहाँ उन्होंने चुन्द का आतिथ्य ग्रहण किया । चुन्द के इस भोजन से उन्हें मरणान्तिक पीड़ा हुयी, परन्तु पीड़ा से विचलित न होकर चारिका करते हुये वे कुशीनगर पहुँचे । वहाँ पहुँचकर उन्होंने आनन्द से कहा कि- "यहाँ कोई चुन्द को यह कहकर प्रताड़ित न करे कि तुम्हारे भोजन से भगवान् का निर्वाण हो गया ।" बुद्ध का कथन है कि बोधिप्राप्ति के समय का आहार तथा महापरिनिर्वाण के समय का आहार, दोनों ही समान पुण्य वाले हैं । तदनन्तर तथागत हिरण्यवती नदी पारकर, कुशीनगर पहुँचे वहाँ शालवृक्षों के नीचे स्थित शय्या पर वे लेट गये जहाँ भगवान् अपने अन्तिम वचन कहकर निर्वाण को प्राप्त हो गये-

"व्ययधर्मा हि संस्काराः साधयता प्रमादतः ।"¹

तथागत का यह निर्वाण जन-जन में महापरिनिर्वाण के नाम से सुविदित है ।

¹ बु.वि.का. : 99/39

ग्रंथकार के द्वारा तथागत के जन्म से लेकर महापरिनिर्वाण पर्यन्त घटनाओं का क्रमशः वर्णन किया गया है । इन सम्पूर्ण घटनाओं का 'ललितविस्तर एवं बुद्धचरित' से कहीं साम्य तथा कहीं वैषम्य प्रतीत होता है । यह वैषम्य ही ग्रन्थकार के मौलिक चिन्तन का परिचायक है । ग्रन्थकर्ता ने इस अध्याय के अन्तर्गत तथागत को लोकोत्तर पुरुष के रूप में भी चित्रित किया है ।

.....

धार्मिक विश्वास

बौद्ध परम्परा के अनुसार भगवान् बुद्ध ने तीन बार धर्मचक्रप्रवर्तन किया । प्रथम धर्मचक्रप्रवर्तन ऋषित्तन मृगदाव सारनाथ में किया । यह धर्मचक्रप्रवर्तन स्थविरवादी बौद्ध परम्परा के अनुकूल है । द्वितीय धर्मचक्रप्रवर्तन गृध्रकूट पर्वत पर किया जो महायानियों को मान्य है । तृतीय धर्मचक्रप्रवर्तन दक्षिण में धान्यकटक पर्वत पर किया जिसमें भगवान् तथागत ने तन्त्रयान का उपदेश दिया । इन तीनों धर्मचक्रप्रवर्तनों का उद्देश्य लोक कल्याण ही माना गया है क्योंकि लोक में बुद्ध का उत्पाद बहुजन सुखाय होता है । वे लोक में उत्पन्न होते हैं और अविद्या रूपी अन्धकार का नाश कर सम्यक् सम्बोधि को प्राप्त करते हैं, तदनन्तर धर्म चक्रप्रवर्तन करते हैं । वे धर्म रूपी नौका से सभी जनों को तारने के लिए ग्राम-ग्राम में चारिका करते हैं । जैसे- मेघ सभी स्थानों पर वर्षा करते हैं, उसी प्रकार भगवान् धर्म रूपी जल की वर्षा कर लोक को सन्तुष्ट करते हैं, दुःख का निवारण करते हैं, सुख को उत्पन्न करते हैं, सभी को धर्म में प्रतिष्ठित करते हैं । इस प्रकार भगवान् बुद्ध का आगमन लोक कल्याण, दुःख निवारण एवं सुख की प्रतिष्ठापना के लिए होता है । स्थविरवादी परम्परा के अनुसार भगवान् बुद्ध ने पञ्चवर्गीय भिक्षुओं को सारनाथ में जो उपदेश दिया, वह लोक कल्याण, दुःख निवारण एवं सुखार्थ ही था । उन्होंने सारनाथ के अपने उपदेश में भिक्षुओं को सम्बोधित करते हुए कहा-

" चरथ भिक्खवे चारिकं, बहुजन हिताय बहुजन सुखाय ।

लोकानुकम्पाय अत्थाय हिताय सुखाय देवमनुस्सानं । "1

(क) चार आर्यसत्य :

बौद्ध धर्म के मूलाधार चार आर्यसत्य हैं । बुद्ध ने मानव -कल्याण के लिये चार आर्य-सत्त्यों का उपदेश दिया । बुद्ध के लिये यह अमूल्य निधि थी तभी तो उन्होंने दीघ निकाय में इन चार आर्यसत्त्यों के ज्ञान

1 महा. : ना.सं. , पृ. 23

के अभाव को आवागमन का कारण माना है । वे भिक्षुओं से कहते हैं कि आवागमन के कारण सभी दुःख भोगने पड़ते हैं, किन्तु इनका ज्ञान होने पर दुःख का समूल उच्छेदन हो गया है और अब आवागमन के लिए कोई गुंजाइश नहीं है -

" चतुन्नं भिक्खवे ! अरियसच्चानं अननुबोधा अप्पटिवेधा एवमिदं
दीघमद्धानं सन्धावितं संसरितं ममज्जेव तुम्हाकञ्च । कतमेसं चतुन्नं ? दुक्खस्स
भिक्खवे ! अरियसच्चस्स अननुबोधा..... । दुक्खसमुदयस्स, भिक्खवे,
अरियसच्चस्य अननुबोधा..... । दुक्खनिरोधस्स, भिक्खवे,
अरियसच्चस्स अननुबोधा..... । दुक्ख निरोधगामिनिया
पटिपदाय..... ममं चेव तुम्हाकं च ।"¹

इन आर्यसत्त्वों के ज्ञान के अनन्तर ही उनकी तृष्णा का उच्छेद हो गया और वे बुद्ध हो गये । उन्होंने काशी में सर्वप्रथम धर्मोपदेश में इन्हीं का उपदेश दिया था । ये हैं - दुःख, दुःख समुदय, दुःख निरोध एवं दुःख निरोधगामिनी प्रतिपदा । अन्तिम आर्यसत्य को ही आष्टांगिक मार्ग के नाम से जाना जाता है । यही बुद्धदेशना की आधार भित्ति है । अतः तथागत ने इनकी शरण में जाना श्रेयस्कर माना है क्योंकि दुःखों की परिसमाप्ति इन्हीं के द्वारा शक्य है, जिसकी सम्पुष्टि धम्मपद की अधोलिखित गाथा से होती है :

" दुक्खं दुक्खसमुप्पादं दुक्खस्स च अतिक्कमं ।
अरियं चट्ठडिगकं मगं दुक्खूपंसमगामिनं ।।
एतं खो सरणं खेमं एतं सरणमुत्तमं ।
एतं सरणमागम्म सब्बदुक्खा पमुच्चति ।।"²

प्रस्तुत आलोच्य ग्रंथ में प्रणेता आचार्य शान्तिभिक्षु शास्त्री इन आर्यसत्त्वों के महत्त्व पर प्रकाश डालते हुये कहते हैं कि इनकी भावना से सुगति निश्चित है, जो कल्याणकारी है । उनका तो यहाँ तक कथन है कि अति

¹ दी.नि., ना.स., भा.-2, पृ. 72

² ध.प.: गा., 191-192

प्रमादी को इनकी भावना करने से आठवों जन्म नहीं होता :

" इन्द्रकीलस्थिरः साधुरार्यसत्यापरोक्षदृक् ।

सुगतिर्निश्चिता तस्य स्वस्ति सत्येन तेन वः ॥

भावनामार्यसत्यानां कुर्वतो नाष्टमो भवः ।

भृशं प्रमाद्यतां चापि स्वस्ति सत्येन तेन वः ॥"¹

यहाँ तथागत द्वारा उपदिष्ट इन चार आर्यसत्त्यों की चर्चा आलोच्यग्रन्थ के अनुसार अभीष्ट है -दुःख प्रथम आर्यसत्य है । संसार में चतुर्दिक दुःख का अस्तित्व दिखाई देता है । सकल संसार में कोई भी प्राणी ऐसा नहीं है, जो दुःखी न हो । भगवान् बुद्ध के अनुसार जन्म, बृद्धावस्था, रोग, मरण, अप्रिय से संयोग, प्रिय से वियोग, अभीष्ट की अप्राप्ति, शोक, परिदेव आदि सभी दुःख हैं । महावग्ग में भिक्षुओं को सम्बोधित करते हुये भगवान् तथागत का कथन है कि-

" जातिपि दुक्खा, जरापि दुक्खा, व्याधिपि दुक्खो, मरणपि दुक्खं, अम्पियेहि सम्पयोगो

दुक्खो, यं पिच्छं न लभति तं पि दुक्खं, संखित्तेन, पञ्चुपादानक्खन्धा दुक्खा ।"²

प्रस्तुत आलोच्य ग्रंथ में ग्रन्थ-प्रणेता आचार्य शान्तिभिक्षु शास्त्री ने भी प्रथम आर्य सत्य को परिभाषित करते हुये लिखा है कि संसार में जन्म-मरण सभी दुःख है-

" दुःखा पुनः पुनर्जातिर्दुःखो मृत्युः पुनः पुनः ।

दुःखं दुःखमिदं सर्वं मृतजातं पुनः पुनः ॥"³

तदनन्तर उनका कथन है कि संसार में असमर्थता का दुःख है, बाल्यकाल में गुरुओं से पीड़ित रहना भी दुःख का हेतु है । इसके अतिरिक्त संसार में सभी को व्याधियों का दुःख तथा वृद्धावस्था का दुःख है-

" असामर्थ्यकृतं दुःखं शैशवे गुरुपीडनम् ।

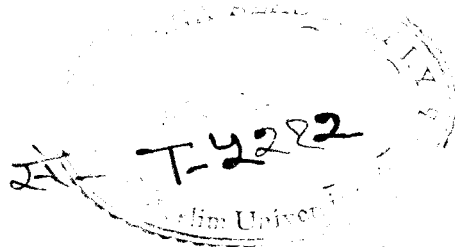
व्याधिदुःखं जरादुःखं सर्वस्यैवान्न विद्यते ॥"⁴

¹ बु. वि. का. 62/14-15

² महा. , पृ. 13

³ बु. वि. का. : 38/5

⁴ वही, 49/21



आगे वे कहते हैं कि अधिक दुःख तथा अल्पसुख की दृष्टि से इस संसार को देखने वाले व्यक्ति का आत्मग्राह सूर्य की गर्मी से पिघली हिम के समान विलीन हो जाता है -

" सुखलेशमिदं सर्वं बहुदुःखं विपश्यतः ।

हिमवत् सूर्यसंतापादात्मग्राहो विलीयते ॥ "1

तदनन्तर दुःख के सन्दर्भ में ग्रन्थकार अपनी मान्यता को प्रकट करते हुये कहता है कि अल्पसुख तथा सुःख में दुःख का सम्मिश्रण होने के कारण तथागत भी इस सकल संसार को दुःखमय स्वीकार करते हैं :

" अल्पत्वेन सुखस्यात्र दुःखसंमिश्रभावतः ।

दुःखमेवहि वेदात्र सर्वत्र द्विपदां वरः ॥ "2

तथागत की भाँति ग्रन्थ-प्रणेता भी इस संसार को दुःख का गृह स्वीकार करता है-

" अनुत्पादेऽपि बुद्धानामुत्पादेऽप्यथवा भुवि ।

अनित्यं सर्वमेवेदं जगत् दुःखनिकेतनम् ॥ "3

दुःख समुदय द्वितीय आर्यसत्य है जिसका तात्पर्य है दुःख का कारण । संसार में प्रत्येक कार्य के पीछे कारण अवश्य विद्यमान रहता है । यह शाश्वत नियम है कि कारण के बिना कार्य की स्थिति नहीं हो सकती । इस प्रकार जब दुःख कार्य है तो उसका हेतु भी अवश्य होगा । बुद्ध के मत में दुःख का हेतु तृष्णा है क्योंकि तृष्णा की पूर्ति न होने पर दुःख अवश्यम्भावी है । यह तृष्णा त्रिविध रूप में प्रवृत्त होती है-कामतृष्णा, भवतृष्णा एवं विभवतृष्णा । नाना प्रकार के विषयों की कामना- काम तृष्णा, इस संसार की सत्ता बनाये रखनेवाली भवतृष्णा एवं संसार के नाश की इच्छा वाली विभव तृष्णा कहलाती है ।

" इदं खो पन, भिक्खवे, दुक्ख समुदयं अरियसच्चं-यायं तण्हा पोणेभविका नन्दिरागसहगतां

तत्रतत्राभिनन्दिनी, सेय्यथीदं - कामतण्हा, भवतण्हा, विभवतण्हा ॥ "4

1 बु. वि. का., 49/22

2 वही, 65/32

3 वही, 82/26

4 महा. : ना. सं. पृ. 13

दुःख उत्पादिका इस तृष्णा से विरत रहने का उपदेश भगवान् तथागत ने दिया है । 'धम्मपद' में उनका कथन है कि तृष्णा के वशवर्ती होने पर मनुष्य के शोक वृद्धि को प्राप्त हो जाते हैं किन्तु जो इन पर विजय प्राप्त कर लेते हैं, उनके शोक नाश को प्राप्त हो जाते हैं—

" यं ऐसा सहती जम्मी तण्हा लोके विसत्तिका ।

सोका तस्स पवड्ढन्ति अभिवट्ठं व वीरणं ।।

यो चेत्तं सहती जम्मिं तण्हं लोके दुरच्चयं ।

सोका तम्हा पपतन्ति उदविन्दू व पोक्खरा ।।"¹

ग्रन्थ प्रणेता ने भी तृष्णा को सकल दुःखों की उत्पादिका मानते हुये इस तथ्य को अति मनोरम ढंग से प्रस्तुत किया है । उनका कथन है कि विविध खाद्य एवं पेय पदार्थों से आकृष्ट किया हुआ प्राणी भवतृष्णा से पराभूत हो दुःख भोगता रहता है । इहलोक तथा परलोक में तृष्णा के प्रवाह के द्वारा मनुष्य बलपूर्वक प्रवाहित किया जाता है । इस लोक में परधन अपहरण के अभिलाषी अमर्यादित राष्ट्रों को भी तृष्णा के कारण महायुद्ध का भय बना रहता है ।² इस द्वितीय आर्य सत्य को जानने वाला संसार के प्रति वितृष्ण हुआ बन्धनमुक्त हो जाता है —

" दुःखहेतुरियं तृष्णेत्पार्यसत्यमवाप्तवान् ।

वितृष्णो जायते लोके क्षणाद् विगतबन्धनः ।।"³

आगे उनका कथन है कि परस्पर एक दूसरे का मर्दन कर जीने वाले भोग के निमित्त प्रयत्सरत रहने वाले प्राणियों के सभी दुःखों का मूल कारण तृष्णा है । तृष्णा का उच्छेद तभी सम्भव है जब तक पवित्र आजीविका को न अपनाया गया हो ।⁴ आगे वे आज की वस्तुस्थिति को प्रकट करते हुये कहते हैं कि

¹ ध.प. - गा. 335-336

² बु.वि.का. : 33/44, 37/50, 45/20, 53/29,30

³ वही, 53/31

⁴ वही, 65/33,34, 76/36

रत्नजटित शय्या वाला धन की तृष्णा के कारण रात्रि में निद्रा का लाभ नहीं करता तथा करवटें बदलता रहता है जबकि वितृष्ण वनवासी तप से श्रान्त हुआ तृण आसन पर सुखपूर्वक निद्रा में निमग्न रहता है—

" घनातितृष्णयादयोऽत्र रत्नपर्यक भागपि ।

निद्रां न लभते रात्रौ शयने परिवर्तते ॥

तपः श्रान्तोऽपि निद्राति पृथ्व्यां तृणविष्टरे ।

वितृष्णोऽतिसुखं धीरोभुनिर्वननिकेतनः ॥"¹

लब्ध जीविका वाला सन्तोषी गृहस्थी नित्य सुखी रहता है, न कि लाभ की तृष्णा से युक्त करोड़पति ।² उनका यह कथन निःसन्देह सत्य है कि आज मानव तृष्णा में रत होकर हिंसा, कलह तथा विभिन्न आयामों में निमग्न हुये विनाश को प्राप्त हो जाते हैं :

" एवं सत्यपि तृष्णायां निरताः सर्वथा जनाः ।

विहिंसाकलहायासपरा अन्योन्यनाशनाः ॥"³

दुःख निरोध तृतीय आर्यसत्य है जिसका तात्पर्य है दुःख का नाश । दुःख निरोध ही तृष्णानिरोध है; जो प्राणी तृष्णा रहित है, सभी परिस्थितियों में समान रूप से रहता है, वह प्राणी दुःख निवृत्ति को प्राप्त कर लेता है । जिस मनुष्य में कामोपभोगों के प्रति कोई तृष्णा नहीं है, उस व्यक्ति को किसी वस्तु की अप्राप्ति पर दुःख की सम्भावना नहीं होती । वह अहं और मम से रहित निर्वाण की स्थिति को प्राप्त कर लेता है । तृष्णा का त्याग ही निर्वाणवस्था है । बुद्ध के मत में —

" इदं खो पन, भिक्खवे दुक्खनिरोधं अरियसच्चं — यो तस्सा येव तण्हाय असेसविरागनिरोधो, चागो पटिनिस्सग्गो, मुत्ति, अनालयो ॥"⁴

¹ बु. वि. का. : 76/40, 41

² वही, 76/42

³ वही, 92/46

⁴ महा. , ना. स. , पृ. 13

आलोच्य ग्रन्थ में भी तृष्णा के परित्याग को ही दुःखों को दूर करने का उपाय मानता हुआ कवि कहता है कि जो प्राणी वितृष्ण है, वह पवित्र है तथा जो तृष्णायुक्त है, वह निःसन्देह मलिन है । इस दुःख का उदय तृष्णा से होता है, इस तथ्य को जानकर जागरूक होता हुआ भावना करे । जब साधक तृष्णा का परित्याग कर देता है तब आत्मा एवं अनात्मा से रहित, सभी क्लेशों से हीन अमृत को प्राप्त कर लेता है । तैल के अभाव में जैसे ज्योति नष्ट हो जाती है वैसे ही तृष्णा के क्षय से तत्क्षण-क्लेश-दाह शान्त हो जाता है ।¹ आचार्य अश्वघोष ने भी इसी भाव को प्रकट करते हुये लिखा है कि;

"दीपो यथा निवृत्तिमभ्युपेतो नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम् ।

दिशं न काञ्चिद् विदिशं न काञ्चित् स्नेह क्षयात् केवलमेतिशान्तिं ।।

एवं कृती निवृत्तिमभ्युपेतो नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम् ।

दिशं न काञ्चिद् विदिशं न काञ्चित् क्लेशक्षयात् केवलमेतिशान्तिं ।।"²

तदनन्तर ग्रन्थ प्रणेता का कथन है कि जिस तृष्णा से अभिभूत होकर प्राणी विवादरत रहता है, उस तृष्णा के परित्याग करने पर वह शान्ति का लाभ होता है, उसके सुख का उदय होता है । एक तृष्णा ही विवाद का कारण है । विवाद से दूर रहने को तृष्णा रहित अथवा अल्प तृष्णा वाला होने पर बल देते हुए ग्रन्थकार का कथन है कि;

" यथाभिभूतोऽयं लोकस्तृष्णया कलहे रतः ।

तां परित्यजतो लोके शान्तिलाभः सुखोदयः ।।

तृष्णैकेव कलौ मूलं हातुकामः कलिं जनः ।

वीततृष्णो ऽल्पतृष्णो वा भवेद् सर्वहिताशयः ।।"³

¹ बु.वि.का. : 33/49, 59/48, 49, 50

² सौ.न. : 16/28, 29

³ बु.वि.का. , 76/10, 11

दुःख निरोधगामिनी प्रतिपदा :

यह चतुर्थ आर्यसत्य है जिसका तात्पर्य है दुःख के नाश का मार्ग अथवा निर्वाण के अधिगम का मार्ग । संसार में प्रत्येक प्राणी का लक्ष्य दुःखनिरोध अथवा निर्वाण प्राप्ति है ।' आष्टांगिक मार्ग के द्वारा इस लक्ष्य तक पहुँचने का मार्ग है तथागत के शब्दों में—" इदं खो भिक्खवे दुक्खनिरोधगामिनी पटिपदा अरियसच्चं अयमेव अरियो अट्ठङ्गिको मग्गो ।"¹

इसे मध्यम मार्ग के नाम से जाना जाता है क्योंकि यह भोगविलास एवं कठोर शारीरिक भावनाओं के मध्य का मार्ग है । भगवान् बुद्ध ने अपने प्रथम उपदेश में पञ्चवर्गीय भिक्षुओं को दो अन्तों का सेवन न करने का उपदेश दिया था । इनमें से प्रथम अन्त 'कामभोगों' में अत्यासक्ति तथा दूसरा अन्त 'अत्तकिलामथानुयोग' अर्थात् कठोर तपश्चर्या उपवासादि से शरीर को पीड़ित करना था । बुद्ध ने इन दोनों अन्तों से दूर रहने का उपदेश भिक्षुओं को दिया है—

" द्वे मे भिक्खवे अन्ता पञ्जितेन न सेवितव्वा ।"²

बुद्ध ने स्वयं इन अन्तों को छोड़ते हुये संबोधि प्राप्त की थी । यही निर्वाण का मार्ग है । बुद्ध का यह मध्यम मार्ग अति वैज्ञानिक है क्योंकि उन्होंने इन दोनों अन्तों का अनुभव अपने जीवन में किया था । एक ओर जहाँ उन्होंने गृहस्थ जीवन के द्वारा काम-भोगों का अनुभव किया था, वहीं दूसरी ओर कठोर तपश्चर्या से अपने शरीर को कंकाल बना दिया था । दोनों के सेवन से बुद्ध को सम्बोधि की प्राप्ति नहीं हुयी । इसलिये बुद्ध ने स्वयं अनुभूत इन दोनों को त्याग मध्यम मार्ग के द्वारा सम्बोधि की प्राप्ति का उपदेश दिया है । इस प्रकार कहा जा सकता है कि बौद्ध धर्म का विदेशों में प्रचार एवं प्रसार के अन्य कारणों में से 'मध्यम मार्ग' एक मुख्य कारण था । तथागत ने स्वजीवन में अनुभूत इन दोनों अन्तों को ही सारहीन पाया था । प्रस्तुत आलोच्य ग्रन्थ में आचार्य शान्तिभिक्षु शास्त्री ने दोनों अन्तों का त्याग करने पर ही सम्बोधि की प्राप्ति बताई है और उनके मत

¹ महा. : ना. सं. , पृ. 13

² वही, पृ. 13

में यही मध्यम मार्ग है :

" उभावन्तौ परित्यज्य मध्यमा प्रतिपन्मम् ।

शान्तिबोधिमुखेनेयं दुःखनिर्वाणकारिणी ॥"¹

इस प्रकार मध्यम मार्ग उत्तम मार्ग है । जैसे वीणा के तार शिथिलावस्था में मधुर एवं मनोज्ञ स्वर झंकृत नहीं करते तथा अधिक कसे होने पर भी मधुर निनाद झंकृत नहीं करते वैसी ही दशा चित्त एवं काय की है । काय के कामोपभोगों में में लगे रहने पर न तो गृहस्थ जीवन सुखी होगा और न आध्यात्मिक उत्थान ही । उसी प्रकार जब काय विभिन्न असह्य यातनाओं से पीड़ित होगा तो वह सुव्यवस्थित जीवन निर्माण के लिये कार्यों में प्रवृत्त नहीं होगा । इसलिये इन दोनों अवस्थाओं का निराकरण तथागत ने किया है ।

यह मध्यम मार्ग आष्टांगिक मार्ग के नाम से भी जाना जाता है क्योंकि इसके आठ अंग हैं । ये हैं— सम्यक् दृष्टि, सम्यक् संकल्प, संकल्प वाचा, सम्यक् कर्म, सम्यक् आजीविका, सम्यक् व्यायाम, सम्यक् स्मृति और सम्यक् समाधि ।

सम्यक् दृष्टि का तात्पर्य है कि यथार्थ ज्ञान । कायिक, वाचिक तथा मानसिक कर्म दो प्रकार के होते हैं— कुशल और अकुशल । इन दोनों को भलीभाँति जानना सम्यक् दृष्टि है ।²

सम्यक् संकल्प अर्थात् सम्यक् निश्चय । यह नैष्कर्म्य संकल्प, अव्यापाद संकल्प एवं अविहिंसा संकल्प से त्रिविध माना गया है ।³

सम्यक् वचन का अर्थ है असत्य, पिशुनता, कठोरता, निरर्थक प्रलाप का परित्याग । सत्य से बढ़कर कोई धर्म नहीं है, जिन शब्दों से किसी के हृदय को आघात पहुँचे, उन्हें नहीं कहना चाहिये । वैर को प्रेम से शान्त करना चाहिये । जैसाकि धम्मपद में कहा गया है :

" न हि वेरेन वेरानि सम्मन्तीध कुदाचनं ।

अवेरेन च सम्मन्ति एसधम्मो सनन्तनो ॥"⁴

¹ बु. वि. का. : 41/16

² बौ. द. मी., पृ. 74

³ म. नि. ना. सं., भा.-1, पृ. 253

⁴ ध. प. - गा., 5

सम्यक् कर्म अर्थात् हिंसा, चोरी, व्यभिचार आदि निन्दनीय कर्मों का सर्वदा एवं सर्वथा परित्याग ।¹ अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, सुरामेरेय आदि मादक पदार्थों का असेवन-इन पञ्चशीलों का पालन ही सम्यक् कर्म है । कर्म के आधार पर ही प्राणी इहलोक एवं परलोक में सुख-दुःख का अनुभव करता है ।

सम्यक् आजीविका अर्थात् उचित उपायों से जीविका चलाना । जीविका के अभाव में जीवन असम्भव है । अतः प्राणी को स्व-जीवनार्थ कुशल कार्यों से युक्त जीविका को अपनाना चाहिये । शरीर-प्रदर्शन, वचन-विन्यास, एवं ठीी मिथ्या आजीविका है । इनसे विरति ही सम्यक् आजीविका है ।²

सम्यक् व्यायाम अर्थात् उचित उद्योग । यह चार प्रकार का है- जो अकुशल धर्म उत्पन्न नहीं हुए हैं, वे उत्पन्न न हों । जो अकुशल धर्म उत्पन्न हुये हैं, वे नाश को प्राप्त हों । जो कुशल धर्म उत्पन्न नहीं है, वे उत्पन्न हों तथा जो कुशल धर्म उत्पन्न हो चुके हैं वे वृद्धि को प्राप्त हों- इस प्रकार के प्रयत्नों को सम्यक् व्यायाम कहते हैं ।³

सम्यक् स्मृति का अर्थ है निरन्तर जागरूकता । जिस प्रकार कोई द्वार-रक्षक द्वार पर आवागमन करने वाले व्यक्तियों के प्रति जागरूक रहता है, उसी प्रकार स्मृति चित्त द्वार पर स्थित होकर अकुशल-कुशल कर्मों के प्रति जागरूक रहती है । काय, वेदना, चित्त तथा धर्म के वास्तविक स्वरूप को जानना ही सम्यक् स्मृति है । इस स्मृति के द्वारा ही मनुष्य सम्यक् समाधि में प्रविष्ट होता है ।

सम्यक् समाधि - कुशल चित्त की एकाग्रता ही समाधि है । चलायमान चित्त चतुर्दिक गमन न करे, एक विषय पर ही अवलम्बित रहे एवं चित्त की दुष्प्रवृत्तियों का क्रमशः क्षय हो, यही समाधि का कार्य है ।⁴ ज्ञानोदय के लिये काय एवं चित्त शुद्धि नितान्त आवश्यक है, इसलिये तथागत ने शील एवं समाधि पर विशेष बल दिया है ।

¹ दी. नि. - नां. सं. - भा. - 1, पृ. 5-6

² वही, पृ. 7

³ म. . नि. - ना. सं. - भा. - 1, पृ. 234

⁴ दी. नि. , ना. सं. , भा. 1, पृ. 65

इस प्रकार आठ अंगों वाले इस मध्यम मार्ग का अभिकथन शील, समाधि एवं प्रज्ञा के नाम से भी किया जाता है। इसमें सम्यक् वचन, सम्यक् कर्म तथा सम्यक् आजीविका शील में अन्तर्भूत हो जाते हैं। सम्यक् व्यायाम, सम्यक् स्मृति एवं सम्यक् समाधि, समाधि में अन्तर्भूत हो जाते हैं। सम्यक् दृष्टि तथा सम्यक् संकल्प प्रज्ञा में अन्तर्भूत हो जाते हैं। 'धम्मपद' में इस आर्य अष्टांगिक मार्ग को उत्तम शरण बताते हुये भूरि-भूरि प्रशंसा की गयी है—

" यो च बुद्धञ्च धम्मञ्च संघञ्च सरणं गतो ।
चत्तारि अरियसच्चानि सम्मप्यञ्जाय पस्सति ॥
दुक्खं दुक्खसमुप्पादं दुक्खस्स च अतिक्कमं ।
अरियञ्चट्ठङ्गिकं मगं दुक्खूपसमगामिनं ॥
एतं खो सरणं खेमं एतं सरणमुत्तमं ।
एतं सरणमागम्म सब्बदुक्खा पमुच्चति ॥"¹

अतएव इस मार्ग का अनुसरण करके ही व्यक्ति अपने सकल दुःखों का नाश करने में समर्थ हो सकता है। आचार्य शान्तिभिक्षु शास्त्री ने भी इन आर्यसत्त्यों एवं अष्टांगिक मार्ग का अति मनोरम वर्णन प्रस्तुत ग्रन्थ में किया है² तथा इसी मार्ग को निर्वाण पथ स्वीकार किया है—

" अनैनेवात्मना लोकः साक्षात्काराय कल्पते ।
निर्वाणस्य हि शान्तस्य मार्गेणार्येण बुद्धिमान् ॥
आर्यो हि अष्टाङ्गिको योऽयं मार्गो लब्धो मयाऽधुना ॥
स एव साधु विज्ञेया मध्यमा प्रतिपन्मम ॥"³

¹ धा.प.—गा., 190-192

² बु.वि.का. : 41/2-48

³ वही, 41/29-30

(ख) बोधिसत्त्व की साधना- षट् पारमिताएँ :

भगवान् शाक्यमुनि बुद्ध ने एक जन्म में ही बुद्धत्व की प्राप्ति नहीं की अपितु बोधिसत्त्व के रूप में उन्हें कई बार जन्म लेना पड़ा । षट् पारमिताओं का अभ्यास करते हुये उन्होंने जिन योनियों में जन्म लिया, उनमें उन्होंने अपने मित्रों, सहयोगियों तथा पुण्य कर्म करने वालों की रक्षा की और उन्हें जीवनदान दिया । पालि जातकों के कथानक को आधार बनाकर ही लेखक ने षट् पारमिताओं का वर्णन किया है । इन जातकों की संख्या 547 है । बोधिसत्त्व भगवान् बुद्ध की सम्बोधि से पूर्व की अवस्था का नाम है । उस समय वे दानी, त्यागी, परोपकारी तथा अन्य दिव्यगुणों से विभूषित थे । वे कभी वानर, कभी अश्व, कभी राजा, कभी मृग, कभी खरगोश, कभी कृषक, कभी हंस तथा कभी व्यापारी के रूप में जन्म लेते हैं । पालि साहित्य में सुत्तपिटक के अन्तर्गत खुद्दकनिकाय पाँचवा भाग है । इस खुद्दकनिकाय के अन्तर्गत 15 ग्रंथों को संकलित किया है जिनमें से जातक की भी गणना की गयी है । ये जातक भी बुद्धवचन हैं । इन जातकों में भगवान् बुद्ध के पूर्वजन्म के वृत्तान्त संगृहीत हैं । कवि ने कुछ जातकों का चयन कर उनकी कथावस्तु के आधार पर षट् पारमिताओं का वर्णन किया है ।

'पारमिता' शब्द का तात्पर्य है 'पार चले जाना' अर्थात् पराकाष्ठा को प्राप्त कर लेना अर्थात् पूर्णता की प्राप्ति । पालि में इसके लिये 'पारमी' तथा 'पारमिता' दानों ही शब्दों का प्रयोग मिलता है । स्थविरवादी तथा अन्य बौद्ध परम्पराओं में पारमिताओं की संख्या में विभेद है । निदानकथा में दस प्रकार की पारमिताओं का उल्लेख है । 'दशभूमिक सूत्र' में भी इनकी संख्या दस मानी गयी है यथा- दान, शील, क्षमा, वीर्य, ध्यान, प्रज्ञा, उपाय, प्रणिधान, बल तथा ज्ञान । पारमिताओं के अन्तर्गत अनेक सद्गुणों के अभ्यास से बोधिसत्त्व बुद्धत्व पद को प्राप्त करता है । स्थविरवादी परम्परा षट् पारमिताओं को मान्यता प्रदान करती है । आलोच्य ग्रंथ में ग्रन्थ प्रणेता ने भी षट् पारमिताओं का वर्णन बोधिसत्त्व के आख्यानो के सन्दर्भ में किया है । ये हैं- दान, शील, क्षान्ति, वीर्य, ध्यान तथा प्रज्ञा ।

दान पारमिता :

सभी प्राणियों के लिये आत्मोत्सर्ग अर्थात् अपना तन, मन, धन का सर्वहुत दान ही दान पारमिता कहलाती

है । जिससे जिस वस्तु की आवश्यकता हो, उसे वह वस्तु बिना फल की आकांक्षा के दे देनी चाहिये, यही दान पारमिता है । स्वयं भगवान् ने अपना धन ही नहीं अपितु अपने पुत्र, पुत्री, पत्नी तथा अपने शरीरावयवों को समर्पित कर इस दान पारमिता का अभ्यास किया । आलोच्य ग्रन्थ में वर्णन है कि एक बार भगवान् बुद्ध ने अपने शिष्यों के साथ विचरण करते हुये एक व्याघ्री को देखा, जो भूख के कारण अपने ही शावकों का भक्षण करने के लिये प्रयासरत थी । तभी करुणार्द्र चित्त वाले बोधिसत्त्व को भान हुआ कि वह अपने शावकों को खा जाएगी, इसलिए उन्होंने अपने शिष्यों से उसके लिये मांस लाने को कहा । शिष्यों के मांस लाने में विलम्ब होने पर उन्हें अपने शरीर के प्रति वैराग्य हो गया तब उन्होंने अपने शरीर को मांस - पिण्ड के समान व्याघ्री के समक्ष अर्पित कर दिया ।¹

तदनन्तर बोधिसत्त्व का जन्म दानवीर शिवि के रूप में हुआ, जिनकी दानवीरता की प्रशंसा सुनकर देवराज इन्द्र उनकी परीक्षा हेतु वृद्ध एवं नेत्रविहीन ब्राह्मण का वेश धारण कर आये और उनसे उनके एक नेत्र की अभियाचना की । ब्राह्मण वेशधारी इन्द्र ने तो एक नेत्र की याचना की थी परन्तु बोधिसत्त्व ने अपने दोनों नेत्र देकर अपना दानवीर नाम सार्थक कर दिया ।²

अगले जन्म में ये ही बोधिसत्त्व शिवि राजा के पुत्र विश्वन्तर के रूप में उत्पन्न हुये और दान प्रेमी के रूप में विख्यात हो गये । एक बार उनके प्रतिवेशी राजा के गुप्तचर ने उनका सदैव युद्ध विजयी हाथी की याचना की और दान पारमिता का पालन करते हुये उन्होंने हाथी को दान में दे दिया । जिससे राज्य के अन्य अधिकारीगण क्रोधित हो गये और विश्वन्तर को पुत्र, पुत्री एवं पत्नी सहित देश से निकाल दिया । वन में निवास करते हुये एक दिन एक ब्राह्मण ने उनसे उनके पुत्र एवं पुत्री को दान में माँग लिया तथा ब्राह्मण वेशधारी इन्द्र ने उनकी पत्नी को भी भिक्षा में माँग लिया । इस प्रकार अपना राज्य एवं परिवार देकर भी बोधिसत्त्व ने दान पारमिता का अभ्यास किया ।³ तथागत ने दान की महिमा पर बल देते हुये

¹ बु.वि.का. : 7/8-19 , इस कथानक की समानता जातकमाला के व्याघ्री जातक से की जा सकती है ।
पृ. 2-10

² बु.वि.का. : 7/20-38, 'इस कथानक की समता जातक माला के शिवि जातक से की जा सकती है ।
पृ. 10-25

³ बु.वि.का. : 7/39-50 , जा.मा. , विश्वन्तर जातक, पृ. 87-115

धर्मचर्या का प्रारम्भ दान से ही माना है अतः इच्छित व्यक्तियों को ही दान देना चाहिये—

" अन्नपानं प्रदातव्यं कारुण्येन तदर्थिने ।

धर्मचर्यासमारम्भो दानेनैव विधीयते ।।

दानेन यस्या आरम्भो यस्या बोधेन पूर्णता ।

सत्त्वकल्याणकामास्तां चर्याम् प्राहुस्तथागताः ।।"¹

शील पारमिता :

बोधिव्रतपरायण साधक दानचित्त उत्पन्न हो जाने के पश्चात् शीलव्रत में स्थित होकर सदैव निर्मल आचरण करता है । मद्य—मांसादि से विरति, असत्य का त्याग, चौर्य कर्म से विरति, सभी प्राणियों के हित में रत, धर्म द्वारा निर्दिष्ट मार्ग पर चलना ही शील पारमिता कहलाती है । चित्त—क्षालन ही शील—चर्या है, जिसका नित्य अनुकरण करना चाहिये । आलोच्य ग्रन्थ में आख्यानों के द्वारा शील पारमिता को स्पष्ट किया गया है । वहाँ कहा गया है कि एक बार भगवान् बुद्धशिवियों के राजा थे । उनके एक नगर प्रधान ने अत्यन्त रूपसम्पन्न अपनी पुत्री उन्मादयन्ती का राजा के साथ पाणिग्रहण करने की अभिलाषा प्रकट की । इस पर राजा ने उस कन्या के विषय में विस्तार से जानने के लिये ब्राह्मणों को भेजा । मनमोहिका, इन्द्रियों का हरण कर लेनेवाली, अद्भुत रूप सम्पन्न उस कन्या को देखकर ब्राह्मणों ने विचार किया कि, "यह कन्या राजा के योग्य नहीं है । इसके रूप—सौन्दर्य में निमग्न होकर राजा प्रजा हित से विमुख हो सकता है और राज्यधुरी केवल उसी के द्वारा वहन की जा सकती है, जो स्मृतिवान एवं जागरूक है ।" ऐसा विचारकर ब्राह्मणों ने राजा से निवेदन किया कि, "वह कन्या आपके योग्य नहीं है ।" राजा द्वारा अस्वीकृत कर देने पर नगर प्रधान ने अपनी पुत्री का विवाह प्रधानमंत्री के साथ कर दिया । तदनन्तर एक बार कौमुदी महोत्सव के अवसर पर जब राजा ने उस कन्या को देखा तो काम—बाण से उसी प्रकार आहत हो गया जिस प्रकार जल सिञ्चन के अभाव में पादप सूख कर चेतना विहीन हो जाता है । तब सकल वृत्तान्त को जानकर प्रधानमन्त्री ने अपनी पत्नी को राजा को देकर उसका प्रिय करना चाहा ।² इस पर राजा ने प्रत्युत्तर देते हुए कहा कि दुःशीलता के कारण जब मैं

¹ बु.वि.का. : 81/4-5

² बु.वि.का. 8/8-28 श्रौ.मा. -उन्मादयन्ती जातक, पृ. 136-149

स्वयं अरक्षित हूँ, तब प्रजाओं को कैसे शीलवान् बनाकर उनका पालन करूँगा—

" आत्मानमप्रभुः पातुं चेद् दौःशील्यादहं वद ।

शीलेन योजयिष्येऽत्र पालयिष्ये कथं प्रजा ॥"¹

इस प्रकार धर्मवृष्टि के द्वारा कामाग्नि को शान्तकर बोधिसत्त्व शील परमिता का अभ्यास करने लगा ।

तदनन्तर अगले आख्यान से ज्ञात होता है कि भगवान् ने बोधिसत्त्व के रूप में प्रसिद्ध ब्राह्मण कुल में जन्म लिया । उन्होंने गुरुकुल जाकर श्रुतियों एवं स्मृतियों का अध्ययन करते हुये शील का अभ्यास प्रारम्भ कर दिया । एक बार उनके शील की परीक्षा लेने के उद्देश्य से गुरु ने दुःखों में उत्तम दरिद्रता के दुःख की चर्चा की । इसपर अन्य शिष्यों ने भिक्षा लाकर गुरु के घरको आपूरित कर दिया । तब गुरु ने शिष्यों को उपदेश देते हुये कहा कि, " इस दरिद्रता का वारण भिक्षा द्वारा सम्भव नहीं है ।" इस पर शिष्यों ने गुरु से कहा कि, " संसार में भिक्षा के रूप में धन प्राप्त नहीं होता ।" तब गुरु बोले कि, "संसार में जो कुछ धन है, वह सब ब्राह्मण का ही है । अतः अपनी वस्तु को ग्रहण करने में कोई पाप नहीं लगता । तुम उस धन को प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से ग्रहण करो । इसमें कोई दोष नहीं है । गुरु के इस प्रकार के वचन सुनकर सभी शिष्य इस कुकृत्य में संलग्न हो गये, परन्तु बोधिसत्त्व शान्त बैठे रहे । इस पर गुरु ने उनसे उनकी कायरता का कारण पूछा । गुरु को उत्तर देते हुये बोधिसत्त्व ने कहा कि "मैं आपके दुःख से दुःखी हितपरायण आपका शिष्य हूँ परन्तु इस संसार में जो वस्तु जिसके परिश्रम से उत्पन्न हुई है, वह न तो किसी ब्राह्मण की है, और न किसी राजा की है । यदि राजा रक्षक होने के कारण प्रजा से कर ग्रहण करने का अधिकारी है, तो ब्राह्मण भी केवल दक्षिणा ग्रहण करने का अधिकारी है । जिस प्राणी ने अपने प्रयत्नों से जिस वस्तु को प्राप्त किया है, वह केवल उसी की है । धन को व्यापार के द्वारा प्राप्त किया जा सकता है, राज्यपालन के द्वारा प्राप्त किया जा सकता है, परन्तु चोरी जैसे निन्दित कार्य के द्वारा नहीं । दूसरा व्यक्ति चाहे देखे न देखे, परन्तु जो पाप है वह पाप ही रहेगा । आप अकार्य के द्वारा धनार्थी होना चाहते हैं, यह

¹ बु.वि.का. : 8/26

यह जानकर मैं श्रमित हो गया हूँ ।" बोधिसत्त्व के इस प्रकार कहने पर गुरु ने उनसे कहा कि आज मैंने शील की परीक्षा ली थी जिसमें केवल तुम्हीं उत्तीर्ण हुये हो । इस प्रकार बोधिसत्त्व ने शील पारमिता का अभ्यास किया ।¹

क्षान्ति पारमिता :

दान एवं शील पारमिता के अभ्यासी, स्त्रियों के प्रति अनासक्त बोधिव्रती को क्षमावान् होना आवश्यक है । जप, तप, दान एवं शील द्वारा एकान्तवास करने से शुद्ध चित्त वाले बोधिसत्त्व के धर्म की कसौटी क्षमा है । प्राणियों में जो विवाद एवं युद्ध आदि हैं, उन सभी का कारण अक्षमा ही है । उसने मुझसे कटु वचन बोले, उसने मेरा आतिथ्य नहीं किया, उसने मेरी वस्तु ग्रहण कर ली, इस प्रकार विचार करते हुये व्यक्ति के मन में क्षमा की भावना उत्पन्न होती । जो अपने प्रति किये गये अपकार को विस्मृत कर देता है, कृतज्ञ एवं मन में हितैषी होता है, लोकाचार में मध्यस्थ रहता है, उसमें ही क्षमा उत्पन्न होती है । क्षमावान् सभी के स्नेह का पात्र होता है एवं क्षमावान् ही सकल पृथिवी का पालक होता है । बोधिव्रती को क्षमाहीन प्राणी का सर्वथा परित्याग करना चाहिये ।² इसी भाव को व्यक्त करते हुये बुद्ध ने मज्झिमनिकाय में कहा है—

" भिक्षुओ, चोर, लुटेरों द्वारा आरे से अंग-प्रत्यंगों के चीरे जाने पर भी जो मन को दूषित करे, वह मेरा शासनकर नहीं । वहाँ पर भी भिक्षुओ, ऐसा सीखना चाहिये— मैं अपने चित्त को विकारयुक्त न होने दूँगा और न दुर्वचन निकालूँगा, मैत्रीभाव से हितानुकम्पी होकर विहार करूँगा, न कि द्वेषपूर्ण चित्त से । उसको लक्ष्य करके सारे संसार को विपुल, विशाल, अप्रमाण मैत्रीपूर्ण चित्त से आप्लावित कर दूँगा तथा द्वेष सेरहित होकर विचरण करूँगा, भिक्षुओ तुम्हें यही सीखना चाहिये ।"³ चित्त के विकारयुक्त होने पर अनेकानेक अनर्थों के होने की सम्भावना रहती है । इसलिये धम्मपद में तथागत ने सम्यक् रूपेण एकाग्रचित्त की आवश्यकता बताई है

¹ बु.वि.का. 8/30-51, जा.मा. - महाबोधिजातक, पृ. 238-254

² वही, 9/1-12

³ म. नि. : भा.-1, ना.सं., पृ. 172-173

क्योंकि एकाग्रचित्त ही श्रेयस्कर है—

" न तं माता पिता कयिरा अज्जे वापि च जातका ।

सम्मापणिहितं चित्तं सेय्यसो न ततो करे ।।"¹

आलोच्य ग्रंथ में ग्रन्थ-प्रणेता क्षान्तिपारमिता को स्पष्ट करते हुये कहते हैं कि पूर्वजन्मों में संसरण करते हुये बोधिसत्त्व क्षान्तिवादी नाम के मुनि हुए । वे क्षान्तिवादी मुनि जिस तपोवन में वास करते थे, वहां एक बार काशी नरेश अपनी रानियों सहित विहार करने के लिये आये । भ्रमण से परिश्रान्त वे वहीं तपोवन में शय्या पर विश्राम करने लगे तब उनकी रानियाँ पास में स्थित क्षान्तिवादी मुनि का प्रवचन सुनने के लिये चली गयीं । त्रिदा की समाप्ति पर जब उन्होंने रानियों को वहाँ नहीं पाया तब उनके पद-चिह्नों का अनुसरण करते हुये वह क्षान्तिवादी मुनि के समीप पहुँचे । वहाँ उसने रानियों को मुनि का उपदेश सुनते हुए देखकर, मुनि के प्रति शंकित होते हुए विचार करने लगा कि, "यह मुनि निश्चित ही दुष्ट है, पर स्त्रियों को पथ-भ्रष्ट करने वाला है । यह शठ है, मैं अभी इसकी शठता दूर कर देता हूँ ।" तभी उसने मुनि के वध के लिये अपनी तलवार निकाल ली । तब क्षान्तिवादी मुनि ने राजा से कहा कि "हे राजन ! मैं तुम्हारा दोषी नहीं हूँ । मुनियों का पालन करना तो राजा का धर्म है, मेरी हत्या कर तुम पाप के भागी बन सकते हो । मैं यह अपने प्राणों की रक्षा के लिये नहीं कह रहा हूँ क्योंकि मेरी मृत्यु तो निश्चित है । तुम क्षमा के द्वारा जय को प्राप्त करो, तलवार द्वारा नहीं ।" मुनि के इस प्रकार के कथन पर ही राजा ने उनका दाहिना हाथ काट दिया । पुनः मुनि के द्वारा समझाये जाने पर क्रोधावेश में उसने मुनि का दूसरा हाथ , भुजा, कर्ण, नासिका तथा पैरों को एक-एक करके काट डाला । उसके इस कुकृत्य पर पृथिवी ने प्रकम्पित होकर उसे अपने अन्दर समाहित कर लिया । इस पर वहाँ उपस्थित सभी प्राणी भयभीत हो मुनि से प्रार्थना करते हुये कहने लगे कि, "जिसने इस कुकृत्य को किया है, आप उसे ही शाप दें ।" इस पर मुनि ने कहा कि , " मेरे जैसा क्षान्तिवादी क्या क्षमा नहीं करेगा ?" ऐसे कहते हुये मुनि ने प्राण त्याग दिये । इस प्रकार क्षमावान् होकर बोधिसत्त्व ने क्षमा पारमिता का अभ्यास किया ।²

¹ ध.प.: गा., 43

² बु.वि.का. :9/13-50, जा.मा., क्षान्ति जातक, पृ. 303/318

वीर्यपारमिता :

वीर्य का अर्थ है उत्साह । बोधिसत्त्व इस पारमिता का अभ्यास करते हुये बहुश्रुत होने के लिए प्रयासरत रहता है । शैथिल्य के कारण किए हुये कर्म से शुद्धि एवं ब्रह्मचर्य व्रत की पूर्णता नहीं होती है । जैसाकि धम्मपद में कथन है कि—

" कयिरा चे कयिराथेन दळ्हमेनं परिक्कमे ।

सिथिलोहि परिब्बाजो मिथ्यो आकिरतो रजं ।।"¹

आलोच्य ग्रन्थ में वीर्य पारमिता का वर्णन करते हुये आचार्य शान्ति भिक्षु शास्त्री लिखते हैं कि बोधिव्रती को दान, शील एवं क्षमावान् होने के साथ-साथ वीर्य पारमिता का अभ्यास भी करना चाहिये । व्रती को उत्साहपूर्ण एवं शुभ कर्म करने चाहिये । अत्यधिकधन एवं भार्या हेतु पराक्रम करने वाले अनेक प्राणी हैं, परन्तु धर्म हेतु उत्साही वीर दुर्लभ हैं ।² पूर्वजन्मों में संसरण करते हुये बोधिसत्त्व ने वीर्य-पारमिता का अभ्यास किया । बोधिसत्त्व राजा हुए तथा उनके राज्य में भयंकर अकाल पड़ा । इस पर मंत्रियों ने राजा को पुरुषमेघ यज्ञ करने का परामर्श दिया । यज्ञ करने का निश्चय करके राजा ने अपने राज्य में घोषणा कर दी कि जो व्यक्ति प्राणदण्ड का अपराधी होगा, उसकी ही बलि यज्ञ में दी जाएगी । इस घोषणा से भयभीत होकर नागरिक सभी पापों, कुकृत्यों को त्यागकर धर्मपरायण हो गये । गुप्तचर अपराधियों का अन्वेषण करते हुए, सम्पूर्ण राज्य में विचरण करने लगे । इस कारण सभी नागरिक प्राणदण्ड के भय से पुण्यकर्मों के प्रति आकर्षित होने लगे । राजा के इस प्रकार के उत्साहपूर्ण कार्यों से पापों का समापन हो गया । देवराज इन्द्र ने भी वर्षा द्वारा इस पुण्य कार्य का अनुमोदन किया । तदनन्तर विचरण करते हुये गुप्तचरों द्वारा राजा को जब प्रजा की दरिद्रता का ज्ञान हुआ तो उसने यज्ञ के लिये एकत्रित धन को प्रजा के कल्याण में समर्पित कर दिया । राजा के उत्साहपूर्ण कार्यों से प्रजा ने उस राज्यकाल को सतयुग के समान अनुभव किया । इस प्रकार उत्साह के द्वारा सभी कर्मों

¹ ध.प.गा. : 3/ 313

² धनदारार्थवीर्येण वीरा हि वहवो जनाः ।

धर्मार्थवीर्ययुक्तस्तु वीरो भुवि सुदुर्लभः ।।"

की सिद्धि होती है । यदि कोई साधारण जन यह विचार करे कि " मैं बुद्धत्व को कैसे प्राप्त करूँगा, यह अत्यन्त कठिन साधना है, तो यह अनुचित है । जिसमें पुरुषार्थ है, उसके लिये संसार में कुछ भी अप्राप्य नहीं है ।"¹ आचार्य शान्तिदेव का कथन है कि बोधिसत्त्व उत्साह से उसी प्रकार संचलित होता है, जिस प्रकार वायु के झोंके से रुई इधर-उधर उड़ती है । वीर्यवान होने से प्राणी को ऋद्धि - सिद्धि की भी प्राप्ति होती है तथा वह बुद्धत्व को प्राप्त करता है-

" यथैव तुलकं वायोर्गमनागमने वशं ।

तथोत्साहवशं यायाद् ऋद्धिश्चैवं ।।"²

ध्यान पारमिता :

दान, शील, क्षमा एवं वीर्य परायण व्रती को संसार के प्रति अनासक्त तथा अपनी आत्मा में विहार करने वाला होना चाहिये । जो आत्मा की शरण गया हुआ है, जो अनासक्त है, जो ध्यान के आलम्बन में तन्मय होकर समाधि अवस्था को प्राप्त करता है, उसी के द्वारा ध्यान पारमिता पूर्णत्व को प्राप्त होती है । विक्षेप रहित, ध्यानस्थ चित्त में किसी वस्तु को यथार्थ रूप से जानने की सामर्थ्य नहीं होती है । ऐसे चित्त में ही वैराग्य की उत्पत्ति सम्भव है ।² पूर्वजन्मों में संसरण करते हुये बोधिसत्त्व ने ध्यान पारमिता का अभ्यास किया । बोधिसत्त्व एक राजा के श्रेष्ठी थे । एक बार जब वह राजकुल गये हुये थे तो उनकी सास अपनी पुत्री को देखने आयी । माता ने जब पुत्री से अपने जमाता के विषय में पूछा , तो पुत्री के उत्तर से उसने समझा कि जमाता ने प्रव्रज्या ग्रहण कर ली है, तब वह विलाप करने लगी । शीघ्र ही यह समाचार सम्पूर्ण नगर में फैल गया । राजकुल से लौटने पर, जब श्रेष्ठी ने इस दुष्प्रचार को सुना तो वह पुनः राजा के समीप पहुँचा और उस समाचार को यथार्थ करनेकी आज्ञा माँगी । उसने कहा कि नगरवासियों के मध्य जो मेरा पुण्य प्रसारित हो गया है, उसे मैं धर्मचर्या के द्वारा यथार्थ करना चाहता हूँ । इस प्रकार मित्रों, बान्धवों के द्वारा रोके जाते हुए भी वह प्रव्रजित हो गया । वन की ओर गमन करते हुये उसे यह विचार उद्भूत हुआ कि मित्र, बान्धव आदि सभी

¹ बु.वि.का. 10/7-50, जा.मा.-यज्ञ जातक, पृ. 131-36

² बो.च., 7/75

³ बु.वि.का. 11/1-5

सम्बन्ध कृत्रिम एवं सारहीन हैं । संसार में धर्म के निमित्त प्रव्रजित होने वाले का केवल धर्म ही सहायक है । इस प्रकार आत्मा को ही द्वीप बनाकर, वैराग्य का आश्रय लेकर उन्हें धर्म सिद्धि की प्राप्ति हो गयी तथा उन्होंने श्रमथावस्था को प्राप्त कर लिया ।¹

बोधिव्रती के लिये यह आवश्यक है कि वह संसार की सभी प्रिय-अप्रिय वस्तुओं से मन को हटाकर, तपोवन में वास करते हुये अनर्थकारी कार्यों के निवारण के लिये चित्त की एकाग्रता तथा दमन का अभ्यास करे, यही ध्यान-पारमिता है । विशुद्धिमग्न में भी कहा गया है कि तपोवन में निवास करते हुये ध्यान-पारमिता का अभ्यास करना चाहिये तथा समाधिबाधक दस वस्तुओं से सदैव दूर रहना चाहिये-

" आवासो च कुलं लाभो गणो कम्मं च पंचमं ।

अद्धानं भाति आबाधो गन्थो इन्दीति ते दस ॥"²

प्रज्ञा पारमिता :

षट् पारमिताओं में प्रज्ञा-पारमिता का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है । प्रज्ञा का तात्पर्य है-'सभी प्रकार के अज्ञान को दूर करने वाली शक्ति ।' ध्यान-पारमिता के द्वारा ही प्राणी इस प्रज्ञा-पारमिता को प्राप्त करने में सफल होता है । प्रज्ञा व्यक्ति को सर्वज्ञता प्रदान करती हुई सर्वधर्मशून्य की स्थिति में ले जाती है । बोधिव्रत परायण दान, शील, क्षमा, वीर्य, ध्यान से शुद्ध चित्त वाले व्यक्ति में ही प्रज्ञा उत्पन्न होती है । प्रत्यक्ष एवं अनुमान के द्वारा उत्पन्न ज्ञान परीक्षाओं की कसौटी पर खरा एवं सत्य फल देने वाला होता है । प्रज्ञावान् पञ्चस्कन्धों के आश्रय से उत्पन्न तृष्णा को समाप्त करके बन्धनमुक्त हो जाता है ।³ पूर्वजन्मों में संसरण करते हुये बोधिसत्त्व ने प्रज्ञा-पारमिता का अभ्यास किया । एक बार वे महाबोधि नामक ब्राह्मण हुए । घर में तत्त्व-चिन्तन के समयाभाव के कारण वे प्रव्रजित होकर दूसरे राज्य के राजा के भवन में निवास करने लगे । राजा का उन प्रव्रजित के प्रति अत्यधिक प्रेम देखकर कुछ ईर्ष्यालु मन्त्रियों ने राजा से कहा कि 'यह प्रव्रजित पड़ोसी देश का गुप्तचर है और शठ है ।' इस प्रकार उन्होंने राजा एवं प्रव्रजित के परस्पर स्नेह को समाप्त कर

¹ बु.वि.का. : 11-6-50, जा.मा. : श्रेष्ठ जातक, पृ. 197-206

² वि.म. -वा.सं.वि., पृ. 207

³ बु.वि.का. : 12/1-5

दिया । यह सुनकर, जब वे प्रव्रजित मुनि राज्य को त्यागकर गमन करने लगे तो राजा ने उनसे कहा कि, "यदि वे जाना चाहते हैं तो जाएँ परन्तु मेरी भक्ति का स्मरण करके पुनः स्वागमन से अनुगृहीत करें ।" राजा के इस वचन को सुनकर वे मुनि बोले कि "वे कोई वचन नहीं दे सकते ।" वन में वास करते हुये वे सिद्ध पुरुष हो गये । दूसरी ओर चतुर मन्त्रियों द्वारा राजा को पापों की ओर प्रेरित कर दिया गया और वह राजा धर्मविमुख एवं लोभपरायण होकर प्रजा के प्रति अपने कर्तव्य से विमुख हो गया । मुनि को अपने सिद्धि बल से इस बात का ज्ञान हो गया । राजा की इन पापों से रक्षा करने के लिये वे मुनि राज्यसभा में आये । मुनि के द्वारा धारण किये हुये वानर चर्म को देखकर मन्त्रियों ने उनका उपहास किया और वानर की हत्याकर उसका चर्म ओढ़ने के कारण उन्हें पापकर्ता भी कहा । इस पर मुनि बोले कि, " वानर स्वभाव से उत्पन्न हुआ था तथा स्वभाव से ही मृत्यु को प्राप्त हो गया क्योंकि जन्म मरण तो भाग्य द्वारा निश्चित हैं । जो स्वयं पापकर्ता हैं उन्हें किसी अन्य प्राणी के लिये कटु वचन करने का कोई अधिकार नहीं है । इस प्रकार मन्त्रियों को चुपकर, लज्जित राजा को उपदेश देते हुये कहा कि, "राजन, दयालु बनो, तुम्हें अन्न की अधिकाधिक प्राप्ति होगी, यत्पूर्वक व्यापारियों की रक्षा करो, तभी तुम्हारा कोश अक्षय रहेगा ।" राजा को ऐसा उपदेश देकर वे मुनि तपस्या के लिए पुनः वन की ओर प्रस्थान कर गये ।¹

इस प्रकार बोधिसत्त्व इन पारमिताओं का अभ्यास करते हुये दान-पारमिता के अभ्यास के कारण भोगों के प्रति निरपेक्ष हो जाता है । शील-पारमिता के अभ्यास से बोधिसत्त्व की शिक्षाओं में उसका सम्मान बढ़ जाता है क्षान्ति-पारमिता के अभ्यास से प्राणियों और अप्राणियों द्वारा पहुँचाए गये दुःख से विचलित नहीं होता । वीर्य-पारमिता के अभ्यास से पुण्य कर्म करते हुए वह कभी परिश्रान्त नहीं होता । ध्यान-पारमिता से उसका चित्त एकाग्र हो जाता है तथा उसे शमथावस्था की प्राप्ति होती है । प्रज्ञा - पारमिता के अभ्यास से विषयना की प्राप्ति होती है । इन षट्-पारमिताओं का अभ्यास करके ही बोधिसत्त्व पूर्णता को प्राप्त कर लेता है ।

¹ बु. वि. का. : 12/11-50, जा. मा. - ब्राह्मण जातक, पृ. 131-136

(३) ब्रह्मविहार

तथागत के उपदेशों की विशेषता ब्रह्मतत्त्व या ब्रह्मदेव के स्थान पर ब्रह्मविहार की प्रतिष्ठापना में है । इन ब्रह्मविहारों का बौद्ध साहित्य में अतिमहत्त्वपूर्ण स्थान है । इनमें 'ब्रह्म' का तात्पर्य है 'महान' तथा 'विहार' का तात्पर्य है 'विचरण करना ।' महान होने के कारण ही बोधिसत्त्व की चित्त भावनाओं को ब्रह्मविहार कहते हैं । मैत्री, करुणा, मुदिता एवं उपेक्षा ये चार चित्त की विशेष अवस्थायें हैं, इनको ही ब्रह्मविहार कहते हैं । साधक प्राणियों के प्रति सुख की इच्छा, प्राणियों के दुःख की निवृत्ति तथा सुखी प्राणियों के सुख को अक्षुण्ण बनाये रखने की जो भावना अपने चित्त में करता है, उन्हें ही ब्रह्मविहारों की संज्ञा दी जाती है । मैत्री आदि इन ब्रह्म विहारों को 'अप्रमाण' भी कहा गया है । 'प्रमाण' का तात्पर्य 'माप' है और 'अप्रमाण' इसका विलोम है, जिसका तात्पर्य है 'जिसको मापना अशक्य है,' इसलिये ये अप्रामाण्य कहलाते हैं ।

ग्रन्थ प्रणेता आचार्य शान्ति भिक्षु शास्त्री ने इन चार ब्रह्म-विहारों को दो श्लोकों में निबद्ध करते हुये कहा है कि मैत्री के आश्रय को प्राप्त हुआ प्राणी ब्रह्मा की प्रीति में उत्कण्ठित रहता है, जबकि करुणा का आश्रय लेने वाला मेधावी प्राणी मुदिता का आश्रय लेने पर ब्रह्मा के साथ आनन्द से आह्लादित हो जाता है और उपेक्षा के द्वारा शान्त एवं शान्तिधाम रूपी ब्रह्म में स्थिर हो जाता है—

" मैत्रीं समाश्रितो लोको ब्रह्मस्नेहोन्मुखः सदा ।
करुणामाश्रितो धीरो ब्रह्मभावं समश्नुते ॥
मुदितामाश्रितो विद्वान् मोदते ब्रह्मणा सह ।
तिष्ठत्युपेक्षया शान्ते ब्रह्मणीह शमालये ॥ "1

आगे ग्रन्थ प्रणेता ने इन ब्रह्मविहारों के आश्रय लेने वाले को चार धर्मों वाले चर्तुमुख ब्रह्मा की संज्ञा प्रदान की है—

" पुण्यो ब्रह्मविहारानामेतेषामाश्रयो महान् ।
चर्तुधर्ममयोर्ब्रह्मा चर्तुमुख उदीरितः ॥ "2

1 बु. वि. का. : 5/28, 29

2 वही, 5/30

अतः इन चारों ब्रह्मविहारों के विषय में विस्तार से चर्चा अभीष्ट है-

मैत्री :

संसार के सभी प्राणियों के प्रति स्नेह, परोपकार में तत्परता एवं सभी प्राणियों के सुख की कामना करना, मैत्री कहलाती है। प्राणी को मैत्री के अन्तर्गत राग-द्वेष का त्याग कर देना चाहिये। यद्यपि राग का तात्पर्य आसक्ति भी होता है, परन्तु वह लोभ एवं मोह से युक्त होता है, इसलिये उसका परिहार आवश्यक है। द्वेष एवं द्रोह को शान्त करने वाली मैत्री भावना का सर्वप्रथम सम्यक् रूपेण परिपालन करना चाहिये। मैत्री के अन्तर्गत तृष्णा के लिये कोई अवकाश नहीं है अपितु उसमें सभी प्राणियों के हित की भावना निहित है। प्राणी को लोभ, द्वेष, मोह से रहित होकर ज्ञानपूर्वक मैत्री-भावना करनी चाहिये। राग मैत्री भावना का आसन्नवर्ती शत्रु है तथा द्वेष दूरवर्ती शत्रु है। द्वेष भावना को दूर करना ही मैत्री भावना का मुख्य ध्येय है। ग्रन्थकार ने मैत्री की महत्ता की चर्चा करते हुये कहा है कि यदि शरीर द्वारा कृत कार्य से किसी का अहित हो रहा हो तो शरीर का उपयोग न करते हुये काष्ठ एवं लोष्ठवत् ही रहना चाहिये क्योंकि हित ही सत्य है-

" कार्यं किञ्चिन्न कायेन स्थातव्यं काष्ठलोष्ठवत् ।

कर्मणा यदि कायस्याहितं कस्यापि संभवेत् ॥

कायचेष्टोपरामेण हितं यत्रोपजायते ।

तत्र सत्यं तदेवास्ति हितं सत्यं न संशयः ॥"¹

तदनन्तर वे हित के महत्त्व पर प्रकाश डालते हुए कहते हैं कि हित का ही मनोवितर्क आवश्यक है। हित-चित्त के स्थान पर अहित-चित्त के उदय होने पर प्राणी को पश्चाताप करना चाहिए। मनसा, वाचा, कर्मणा हित एवं अहित के विवेक से यथार्थ का ज्ञानकर सदैव हितकर कर्म ही करने चाहिए। अहित दूसरे को ही नहीं अपितु स्वयं को पीड़ा देता है। इसके अतिरिक्त हित दूसरे के साथ-साथ स्वयं को भी सुख प्रदान करता है। इस पृथिवी पर हितार्थ प्रयत्न करने वाले प्राणियों के द्वारा ही लौकिक जीवन में शान्ति सम्भव है।

¹ बु.वि. का. : 63/18, 19

केवल स्वार्थचित्त द्वारा किसी को भी सुख की प्राप्ति नहीं होती । इस संसार में प्राणी का सर्वथा स्वयं पर ही आश्रित रहना अशक्य है अपितु परस्पर आश्रय से ही वह सुखपूर्वक रह सकता है । स्वार्थ-चित्त वाले प्राणी जहाँ शीघ्र ही नाश को प्राप्त हो जाते हैं, वहीं हितार्थी प्राणियों का पृथिवी पर नित्य अस्तित्व रहता है । पूर्व प्रसंगों का वर्णन करते हुये उनका कथन है कि प्राचीन काल में हित-चित्त वाले देवताओं को विजय श्री प्राप्त हुई थी तथा स्वार्थी दस्यु, पणि, एवं असुर नाश को प्राप्त हो गये थे ।¹ कौरवों का दृष्टान्त देते हुये वे कहते हैं कि स्वार्थचित्त प्राणी विजय को प्राप्त करके भी नाश को प्राप्त हो जाते हैं जैसे कि कौरव नाश को प्राप्त हो गये-

" स्वार्थचित्ता विजित्यापि कर्मकृत्वादिदारुणम् ।

विनश्यन्ति समूला हि नास्ति कोऽप्यत्र संशयः ।।"²

आगे वे कहते हैं कि सभी प्राणियों के हित के लिए आचरण करते हुए कोई भी प्राणी निरन्तर पुण्य का भागी होता है तथा अन्त में बुद्धत्व को प्राप्त कर लेता है । हित परायणता एवं परार्थ परायणता की भूरि-भूरि प्रशंसा करता हुआ कवि कहता है कि जो हितभिलाषी एवं हितपरायण है, वह बिनापुष्पादि के भी तथागत की पूजा करता है ।³ जो प्राणी स्वार्थी नहीं है, सदैव परार्थ में तत्पर रहता है उस प्राणी को मुक्ति सुलभ है क्योंकि वह स्वार्थ के बन्धन से मुक्त है-

" आत्मार्थो यस्य नास्त्येव स परार्थपरायणः ।

मुक्त एवात्र बोद्धव्यो मुक्तः स्वार्थस्य बन्धनात् ।।"⁴

आगे वे मैत्री के अन्तर्गत राग के विषय में कहते हैं कि यहाँ अपने अथवा पराये शरीर के प्रति जो राग

¹ बु.वि.का. : 63/22, 23, 24, 66/13-17, 19

² वही, 66/18, 88/26

³ वही, 67/50, 76/13

⁴ वही, 60/48

करुणा :

संसार के प्राणियों को दुःखी देखकर सत्पुरुषों के हृदय में जो उनके दुःख से दुःखित होने की भावना उत्पन्न होती है, वही करुणा है । करुणामय पुरुष अन्य प्राणियों के दुःख से शीघ्र ही द्रवित हो जाता है एवं उनके दुःखों को दूर करने का प्रयास करता है । जो प्राणी करुणामय है, वह दूसरों को कभी पीड़ित नहीं करता क्योंकि करुणा दूसरों को दुःख से मुक्त कराने की भावना का नाम है । जिस भावना से जीवों की विपत्ति को देखकर चित्त करुणा से पूर्ण हो जाता है, उसी प्रकार साधक में शोक भी उत्पन्न हो सकता है । साधक को सांसारिक प्राणियों के समान शोकाकुल नहीं होना चाहिये, क्योंकि शोक करुणा भावना का निकटवर्ती एवं विहिंसा दूरवर्ती शत्रु है । इन शत्रुओं से करुणा भावना की रक्षा आवश्यक है । 'बुद्धविजयकाव्य' में ग्रन्थ-प्रणेता ने करुणा के वैशिष्ट्य को स्वीकार करते हुये उसका वर्णन किया है । उनका कथन है कि करुणा के अभिप्राय की वृद्धि करना ही चित्त का शोधन है । इसके बिना अहिंसा में स्थिति सम्भव नहीं है । उत्पन्न हुआ करुणाचित्त संसार में वृद्धि को प्राप्त होता है, वह इस लोक के सभी दुःखों को शान्त करने वाला होता है । दुःख की शान्ति के लिए ही सभी धर्म तथा लौकिक कर्म होता है । धर्म तथा कर्मों के अन्तर्गत श्रेष्ठ तथा प्रधान करुणाचित्त होता है । बुद्ध-वचन नाशक एवं शान्तिप्रदायी है । अपरिमाण चित्त के द्वारा परिष्कृत एकमात्र करुणा ही पुण्यसिद्धि प्रदान करती हुई अन्त में बोधि प्रदान करती है । ¹ मन, वाणी शरीर के कर्मों के द्वारा जो पाप नहीं करते हैं, वे ही करुणाचित्त के प्राणी लोकरक्षक होते हैं, जिनके हृदय में कल्याण की अभिवृद्धि करने वाली करुणा प्रवृत्त होती है, उनके लिए कोई पराया नहीं होता, विश्व ही उनका कुटुम्ब होता है । हिंसक वन्य प्राणी की प्रवृत्ति से सर्वथा दूर, अपने हित की पूर्ति का कारण करुणा चित्त ही है । ² इसी भाव को ग्रन्थ-प्रणेता ने मधुर एवं मनोहर रूप में संस्कृत भाषा में निबद्ध किया है-

" हिंसा करुणया हेया मैत्र्या व्यापादभावना ।

हिंसाव्यापादमुक्तस्य चित्तं पुण्ये प्रसीदति ।।"³

¹ बु. वि. का. : 45/46, 47, 48, 47/19, 49/3

² वही, 51/17,

³ वही, 59/46

आगे करुणा के महत्त्व को प्रतिपादित करते हुये वे कहते हैं कि करुणा के प्रति सभी को आदर-भाव रखना चाहिये क्योंकि करुणा के बिना पुण्य धर्म का उदय नहीं होता । माता के स्तनों में दूध के प्रस्रवण का कारण करुणा ही है । पिता जो कुल का पालक है, उसका भी करुणा ही कारण है । क्षुधा-पीड़ित व्याघ्री हिंसक होते हुए भी अपने श्रावकों का भक्षण नहीं करती है, उसमें पुण्य-धर्मों के पोषण-कारकों में प्रधान कारण करुणा ही है । अपने हित का इच्छुक प्राणी भी, अन्य प्राणियों के प्रति करुणा के कारण, बुरा आचरण नहीं करता । प्राचीन काल में प्रत्येक सत्तू के वैभव वाले एक करुणाचित्त ब्राह्मण ने अपना भोजन अतिथि को दे दिया और उससे देवलोक पर विजय प्राप्त कर ली । इससे स्पष्ट है कि पृथिवी पर महापुरुषों के चरित्र अत्यन्त करुणामय होते हैं तथा वे प्राणियों के हित के लिए सब कुछ प्रदान कर देते हैं । इस संसार में बुद्ध प्रज्ञायुक्त करुणा का उपदेश देते हैं, उनके हृदय में आकाश के समान महाकरुणा होती है । मार के प्रयत्नों से उत्पन्न सभी विघ्नों का त्याग कर, करुणा का आभास करने के लिये हृदय में सदा प्रत्यवेक्षा करनी चाहिए । करुणाचित्त वाले प्राणी को मार देखना पसन्द नहीं करता, करुणाचित्त वाला प्राणी मार के इन कुचक्रों को अपनी प्रज्ञा से जान लेता है । मार स्त्री का रूप धारण कर, अपनी विकृतावस्था को दिखाकर उस करुणाचित्त की तपस्या को भ्रष्ट करने के लिए सदैव प्रयत्नशील रहता है । अपने शरीर की प्रज्ञा के द्वारा रक्षा करता हुआ, सदैव प्राणिहित के लिये आचरण करता हुआ, करुणाचित्त का व्यक्ति यहाँ सर्वदा सभी को सुख देने वाला होता है । करुणा युक्त चित्त के व्यक्ति को शरीर की स्थिति के लिए जितना अन्न वस्त्र आवश्यक है उतना ही उसे ग्रहण करना चाहिये ।¹ इससे अधिक को उचित पात्र के लिये दान दे देना चाहिये । अन्नदान एवं ज्ञानदान के द्वारा करुणा का पूर्णरूपेण आचरण करना चाहिये । यहाँ जो करुणा बुद्धि प्रदान करना है, उसकी माता एवं पिता के समान पूजा करनी चाहिये ।² ग्रन्थकार का अन्त में कथन है कि बुद्धों के द्वारा प्रवर्तित धर्म में करुणा सार के समान है, करुणा के अभाव में संसार की स्थिति ही संदिग्ध है-

" बुद्धेः प्रवर्तिते धर्मे कारुण्यं वस्तु सारवत् ।

बिना करुणया लोकस्थितिः संशयिता ननु ।।"³

¹ बु. वि. का. : 77/4- 21

² वही, 77/22, 29

³ वही, 77/30

- बु. वि. का. : 75/22-17, 76/9, 65/6-10

² वही, 2/51

³ वही, 60/38, 62/19

⁴ वही, 65/10

मुदिता :

' मोदयति इति मुदिता: ' 'मोदन' अर्थात् प्रसन्न करती है, इसलिए मुदिता है । मुदिता सुख से अवियोग कराने की भावना है । प्राणियों को सुखी-सम्पन्न देखकर जो हर्ष उत्पन्न होता है, वही मुदिता है । दूसरों की सम्पत्ति और गुणोत्कर्ष को देखकर जो उनसे ईर्ष्या या द्वेष नहीं करता अपितु हर्षित होता है, वही मुदिता की उचित रूप से भावना करता है । इस मुदिता का हर्ष सांसारिक मनुष्यों के हर्ष से सर्वथा भिन्न, शान्तप्रवाह वाला, उद्वेग एवं क्षोभ से विहीन होता है । यद्यपि यह अन्य प्राणियों के सौमनस्य के समान प्रतीत होता है परन्तु यह उससे पृथक् है । सौमनस्य मुदिता का समीपवर्ती शत्रु है तथा अप्रीति दूरवर्ती शत्रु है । इन शत्रुओं से इस भावना की रक्षा करना परमावश्यक है, ऐसी मुदिता सभी के लिए पालनीय है ।

आचार्य शान्तिभिक्षु शास्त्री ने 'बुद्धविजयकाव्य ' में इस भावना को भी मनोहारी ढंग से चित्रित किया है । मुदिता को परिभाषित करते हुए उनका कथन है कि शान्तचित्त , माया विहीन होता हुआ, प्राणियों को धर्मोपदेश देता हुआ, हितकारी प्राणी हृदय में सदा प्रमुदित रहता है-

" प्रशान्तमानसो लोकान् दिशन् धर्मममायया ।

बहूनां हितकर्तासौ हृदये संप्रमोदते ।। "1

आगे वे कहते हैं कि प्राणियों को परस्पर द्वेष का परित्याग करना चाहिए क्योंकि संसार में अवैर से ही शान्ति होती है । यही सनातन धर्म है । प्राणी जहाँ परस्पर प्रीतियुक्त होते हैं वहाँ स्वर्ग तथा द्वेष भाव से युक्त होने पर वह स्थान नरक के समान हो जाता है । 2 उनके मत में द्वेष से बढ़कर कोई पाप नहीं है-

" प्रद्वेषात् किन्न पापकम् ।" 3

तदनन्तर उनका कथन है कि द्वेष युक्त हिंसा ही प्राणियों को नष्ट कर रही है परन्तु मूढ़ जन इस तथ्य से अनभिज्ञ हैं । द्वेष विहीन के अपकारों की मूलभूत हिंसा समाप्त हो जाती है । 4 वह प्राणी पुण्याचरण करता

1 बु. वि. का : 98/38

2 वही, 79/50, 45/32

3 वही, 78/ 36

4 वही, 52/46, 47,

हुआ संसार में प्रमुदित होता है तथा उससे संसार को अभयदान प्राप्त होता है—

" स पापाद् विरतः पुण्यं चरन्ल्लोके प्रमोदते ।

अभयं सर्वलोकस्य तस्मादत्र प्रजायते ॥"¹

वे आगे कहते हैं कि प्राणियों में परस्पर अवैर भाव आचरण से जो प्रीति उत्पन्न होती है, उसी के द्वारा तथागत भली प्रकार सम्पूजित होते हैं । शील में स्थित प्राणी का ही द्वेष नाश को प्राप्त होता है तथा द्वेष के नष्ट हो जाने पर ही करुणा-चित्त का उत्पाद होता है ।² प्राणियों के हर्ष से प्रसन्न प्राणी का पाप शान्त हो जाता है तथा पुण्य उत्पन्न होकर वृद्धि को प्राप्त हो जाता है । इस भाव की अभिव्यक्ति अधोलिखित श्लोक में मिलती है—

" हृदये मुदितास्यास्य पापा शाम्यति वासना ।

समुत्पद्य तथा पुण्या वासना संप्रवर्धते ॥ "³

उपेक्षा :

प्राणियों के प्रति उदासीन भाव ही उपेक्षा है अर्थात् जो संसार के सभी जीवों के प्रति समान-भाव रखता है, जिस पर प्रिय-अप्रिय, अनुकूल-प्रतिकूल किसी का प्रभाव नहीं पड़ता, वही उपेक्षा की भावना करता है । इस उपेक्षा के द्वारा ज्ञात होता है कि मनुष्य को कर्मानुसार सुख-दुःख प्राप्त होते हैं, उनसे अविचलित रहना ही उपेक्षा की सिद्धि है । उपेक्षा अज्ञान एवं मोह के द्वारा उत्पन्न नहीं होनी चाहिये क्योंकि इन दोषों से युक्त होने पर यह सांसारिक जनोचित उपेक्षा हो जाती है, जो प्राणियों के दुःखों को दूर करने में असमर्थ है । इसके विपरीत अज्ञान मोहादि दोषों से रहित उपेक्षा भावना प्राणियों के क्लेशों को दूर करने वाली होती है, अज्ञानी इस तथ्य से अनभिज्ञ रहते हैं । अज्ञानादि उपेक्षा-भावना के समीपवर्ती एवं राग-द्वेष इस भावना के दूरवर्ती शत्रु हैं । इन शत्रुओं से इस भावना-चित्त की रक्षा आवश्यक है । प्रस्तुत आलोच्य ग्रन्थ में ग्रन्थकार ने उपेक्षा

¹ बु. वि. का. 52/48

² वही, 88/27, 60/49

³ वही, 60/44

को परिभाषित करते हुये चित्त के समत्व भाव को उपेक्षा कहा है—

" चित्तस्य समतोपेक्षा ।"¹

आगे इसकी चर्चा करते हुये वे कहते हैं कि इसके लिए क्रोध तथा मान का पूर्णरूपेण परित्याग आवश्यक है । इसके अतिरिक्त प्रिय-अप्रिय के प्रति अनासक्त भाव से सम्यक् आजीविका के द्वारा निरन्तर कल्याण-रत भी रहना चाहिये—

" क्रोधमानौ समुन्मूल्य नासक्तः स्यात् प्रियाप्रिये ।

कल्याणे प्रीतिमांस्तिष्ठेत् सम्यगाजीवमाश्रितः ।।"²

(घ) त्रिशरण-बुद्ध, धर्म एवं संघ :

बुद्ध धर्म एवं संघ बौद्ध धर्म के तीन रत्न माने गये हैं । इस धर्म में इन्हें स्वस्तिकारक माना गया है । 'नमः रत्नत्रयाय' कहकर इन्हें नमस्कार भी किया जाता है ।³ बौद्ध धर्म की यह मान्यता है कि इनसे प्राणियों के भय, दुःख आदि भी दूर हो जाते हैं । बौद्ध उपासक भी शील के परिपालन एवं दैनिक चर्या में इनकी शरण में जाते हैं ।⁴ यह संसार शरण विहीन है, क्षणभंगुर एवं दुःखमय है । इस कारण भिक्षु की आतुरता 'बुद्धं शरणं गच्छामि' के संकल्प में ध्वनित होती है परन्तु वह त्राता के रूप में बुद्ध से कुछ भी उपेक्षा नहीं रखता । बुद्ध धर्म की शरणागति केवल साधक की त्रिरत्न के प्रति अनुरक्ति का सूचक है । स्वयं तथागत ने बुद्धानुस्मृति, संघानुस्मृति एवं धर्मानुस्मृति का प्रयोजन कुशल धर्मों की उत्पत्ति और अकुशल धर्मों की उच्छिष्टि को माना है ।⁵

¹ बु. वि. का. : 70/23

² वही, 71/31

³ सु. नि. - र. सु. - गा. - 15-17, पृ. 61

⁴ 'बुद्धं शरणं गच्छामि, धम्मं सरणं गच्छामि, संघं सरणं गच्छामि ।' महा. पृ. 86

⁵ अंगु. नि. : ना. सं. - भा. - 4, पृ. 376-377

बौद्ध धर्म आज संसार के महनीय धर्मों में मुख्य है । इस धर्म की सफलता का कारण इसका त्रिरत्न ही है । इस धर्म में 'बुद्ध' का व्यक्तित्व त्याग और तपस्या, दमन और शमन, शान्ति और अहिंसा का एकत्र संयोग था जो कि अन्यत्र मिलना कठिन है । बुद्ध के चरित्र में महाकरुणा का दर्शन पदे-पदे होता है । त्रिपिटक के अनेक सुत्तों उनके द्वारा स्वानुभूत जीवन-चर्या का वर्णन जहाँ उन्हें महापुरुष के पद पर प्रतिष्ठित करता है, वहीं वे सभी के द्वारा नमन करने योग्य हैं । इसके अतिरिक्त 'बुद्धचरित एवं ललितविस्तर' में भी उन्होंने अपनी स्वानुभूत जीवन चर्या का वर्णन किया है । अश्वघोष ने त्रिपिटक के सुत्तों में वर्णित जीवनचर्या का ही अनुसरण किया है । इसी प्रकार 'ललितविस्तर' भी तथागत के स्वानुभूत जीवनचर्या का वर्णन करने वाला प्रमुख ग्रन्थ है । भगवान् बुद्ध के स्वभाव एवं जीवन के महत्त्व को पूर्णतया ज्ञात करना अत्यन्त दुष्कर है । तथागत के व्यक्तित्व की सबसे बड़ी विशेषता उनकी निरपेक्षता एवं तथागत के द्वारा 'अहम्' भाव का पूर्णतया त्याग है । वे देव थे, देवातिदेव थे परन्तु देवतावत् पाषाण नहीं । वे बुद्ध होने के साथ-साथ परम अनुकम्पक शास्त्र भी थे । मानवता धर्म का उपदेश देने वाले भगवान् तथागत स्वयं मानवता के मूर्तिमान् थे । बुद्ध के जीवन की कोमलता लोकोत्तर थी । उनकी वाणी में अपूर्व विलक्षणता थी जो सभी को अनायास ही अपनी ओर आकृष्ट कर लेती थी । योग्य जिज्ञासुओं के प्रति तथागत की विशेष अनुकम्पा थी । वे श्रमण थे परन्तु गृहस्थों के प्रति भी सहानुभूति से रहित नहीं थे । वे शिष्य-वत्सल थे और अपने शिष्यों का सम्मान करते थे परन्तु 'महाकरुणा' उनके व्यक्तित्व की सर्वप्रमुख विशेषता थी । उनके व्यक्तित्व एवं धर्म के विशाल शासन की दुनिया के इतिहास में दूसरी कोई मिसाल नहीं है । भगवान् बुद्ध ने 'तथता' अर्थात् 'परम ज्ञान' की प्राप्ति की थी इसलिए वे तथागत कहलाते हैं । उन्होंने वर्तमान समाज में व्याप्त कुरीतियों का विरोध किया तथा सभी मनुष्यों को मूलभूत तथ्यों से परिचित कराया । जातिवाद के विरोध के साथ-साथ उन्होंने सकल संसार को दुःखमय माना । यद्यपि वे एक समाज-सुधारक थे तथापि उनमें कुछ ऐसी विशेषताएँ थी, जो उन्हें अन्य महापुरुषों की अपेक्षा उच्च पद पर प्रतिष्ठित कर देती हैं । किसी भी धर्मप्रवर्तक ने बुद्ध के समान अपना विश्वव्यापी स्थान नहीं बनाया है । सकल बौद्ध साहित्य में भगवान् बुद्ध के नाम की महिमा का जयघोष मिलता है ।

बौद्ध धर्म की दूसरी विशेषता है— संघ । तथागत ने जिस धर्म का प्रचार किया उसे उत्तरोत्तर वृद्धि एवं अक्षुण्ण बनाये रखने के लिये ही उन्होंने संघ का निर्माण किया । संघ का इस त्रिरत्न में मुख्य स्थान है क्योंकि यह धर्म प्रचार में सहायक बना । इसने बौद्ध धर्म को ऐक्य एवं शक्ति प्रदान की । संघ के अनेक भिक्षुओं ने विदेशों में जाकर इस धर्म का प्रचार किया । संघ के द्वारा ही बौद्ध-धर्म विश्व धर्म के रूप में अपना स्थान बना सका । इसमें प्रविष्ट भिक्षु के लिए परिपालनीय धर्म अति कठिन थे । धर्मों का परिपालन न करने पर भिक्षुओं को दण्ड एवं संघ से निष्कासित करने का प्रावधान था । संघ में भिक्षुओं का प्रवेश निषिद्ध था परन्तु कालान्तर में स्त्रियों को संघ में प्रवेश दिया जाने लगा । भारत एवं विदेशों में धर्म प्रचार के द्वारा संघ ने बौद्ध धर्म को सुदृढ़ स्थिति प्रदान की ।

त्रिशरण में धर्म अन्तिम शरण है । भगवान बुद्ध ने अपने धर्म में उपासकों के लिए जहाँ पञ्चशील का परिपालन आवश्यक बताया है वहीं भिक्षु के लिए दसशीलों के पालन पर बल दिया है । इन पञ्चशीलों के पालन से जहाँ मानव जीवन अभ्युदय की ओर अग्रसर होता है वहीं इनके परिपालन से हिंसा, वर्ग-भेद, रहित समाज की स्थापना होती है । भगवान बुद्ध ने अपने धर्म के लिए संघ में प्रविष्ट होने का मार्ग सभी के लिए खुला रखा था । उन्होंने अपने संघ में जहाँ ब्राह्मण कुमारों, क्षत्रिय कुमारों एवं राजकुमारों को प्रवेश दिया वहीं उपालि नापित को भी अपने संघ में प्रविष्ट कर बौद्ध धर्म में दीक्षित कर दिया । बौद्ध धर्म में बुद्धि स्वातन्त्र्य एवं विचार स्वातन्त्र्य पर अत्यधिक बल दिया गया है । कालामो को उपेक्ष¹ इसका सर्वोत्तम उदाहरण है । बौद्ध धर्म पर कुछ व्यक्ति अहिंसावादी होने के कारण उस पर कायरता का आरोप लगाते हैं किन्तु उनका यह आक्षेप उचित प्रतीत नहीं होता क्योंकि उन्होंने तो मनुष्यों को यह उपदेश दिया कि वह अपना स्वामी आप है । धम्मपद में तथागत इस कथन की सम्पुष्टि करते हुये कहते हैं कि—

" अत्ता हि अत्तनो नाथो अत्ता हि अत्तनो गति ।

तस्मा सज्जमयत्तानं अस्सं भद्रं व वाणिजो ।।"²

¹ अंगु. नि. : ना.सं., भा -1, पृ. 174

² ध.प. : गा. 380

इस प्रकार ऐसे बौद्ध धर्म के प्रति अधिकाधिक प्राणी आकर्षित हुए और अपनी इन्हीं विशेषताओं के कारण यह धर्म विश्वधर्म बन गया । बुद्ध ने प्राणियों को समझाया कि पर्वत, वन, वृक्ष, तथा चैत्य आदि को देवता मानकर उनकी शरण में जाना अनुचित है क्योंकि यह उत्तम शरण नहीं है । उनके मत में यह त्रिशरण ही उत्तम शरण है । इस त्रिशरण के द्वारा वह चारों आर्यसत्त्यों का ज्ञान प्राप्त कर लेता है । इसी भाव को व्यक्त करते हुये भगवान तथागत का धम्मपद में कथन है कि—

"बहुं वे सरणं यन्ति पब्बतानि बनानि च ।

आरामरूक्खचेत्यानि मनुस्सा भयतज्जिता ॥

नेतं खो सरणं खेम नेतं सरणमुत्तमं ।

नेतं सरणमागम्म सब्बदुक्खा पमुच्चति ॥ "1

यो च बुद्धञ्च धम्मञ्च संघञ्च सरणं गतो ।

चत्तारि अरियसच्चानि सम्मप्पज्जाय पस्सति ॥

x x x

एतं खो सरणं खेमं एतं सरणमुत्तमं ।

एवं सरणमागम्म सब्बदुक्खा पमुच्चति ॥ "2

प्रस्तुत आलोच्य ग्रन्थ में ग्रन्थ-प्रणेता भी स्वयं त्रिशरण में जाने के लिए उद्यत है :

व्रजामि बुद्धं शरणं पुनः पुनः व्रजामि धर्मं शरणं पुनः पुनः ।

व्रजामि संघं शरणं पुनः पुनः जगुर्जना धर्मपरायणा भुवि ॥ "3

1 ध.प. गा. , 188-189

2 वही , 190-192

3 बु.वि.का. : 44/51

तदनन्तर त्रिशरण का क्रमशः वर्णन करते हुए उनका कथन है कि श्री की मूर्ति, महाप्रज्ञा और महाकरुणा के सागर अहिंसा धर्म के सृष्टिकारक भगवान बुद्ध की विजय चतुर्दिक है—

" श्री धनोभगवान बुद्धो महाप्रज्ञाकृपानिधिः ।

अहिंसा धर्मधातास्मिंल्लोके विजयतेतराम ॥"¹

आगे वे कहते हैं कि ज्ञान समूह के रूप में यह मूर्तिमान् तथागत ही है । आकाश के समान विस्तृत ज्ञान वाले बुद्ध सदा मेरा आश्रय हों । बुद्ध की शरण जाने वालों का सदा ज्ञान ही शरण होता है । मैं आकाश के समान अनन्त बुद्धि की मूर्ति तथागत की शरण में जाता हूँ । क्लोशाग्नि में जलते हुए लोगों की धर्मज्ज्ञ से शान्ति करने के लिए ही मैंने बुद्धि उत्पन्न की है । बुद्ध ही मेरी शरण है । धर्म के मूर्तिमान् धर्मकोष तथागत को अञ्जलि बाँधकर अनेक बार नमस्कार करता हूँ । इस संसार में अथवा परलोक में बुद्धतुल्य रत्न कहीं पर भी दृष्टिगोचर नहीं होता । संसार में बुद्ध श्रेष्ठ रत्न है⁴ । यहाँ सभी दिव्य एवं पार्थिव स्त्त्व बुद्ध की वन्दना कर रहे हैं । तथागत के गुणानुबन्धी अर्हत् इस नाम को नित्य जपती हुई समस्त जनता उनअर्हत् की पूजा करती है । क्लेशों से रहित गति से और श्री से संयुक्त सुगत को प्राणी परम प्रीति से प्रणाम करते हैं । वे करुणानिधान सम्पूर्ण संसार के हित को समझते हैं । मनुष्य, लोक के ज्ञाता तथागत को नमस्कार कर उनकी शरण में जाते हैं, उन आर्यों के पुण्य का मापन अशक्य है ।² प्रस्तुत आलोच्य ग्रन्थ में यक्षों के माध्यम से भगवान् तथागत की स्तुति एवं वन्दना करते हुये ग्रन्थ-प्रणेता कहते हैं कि परिग्रह रहित चित्त के द्वारा अतुलनीय दानसमूह से जनसमूह को तृप्तिदायक विविध चर्या वाले बुद्ध की हम स्तुति करते हैं । अपर्यन्त शील के कारण ब्रह्म की भी स्पृहा के भाजन, सम्पूर्ण लोक के अभीष्ट प्रभु की हम वन्दना करते हैं । सभी प्रकार के क्षोभों से रहित, वैरहीन, परम ओजस्वी, पृथिवी को भी अपने क्षमाभाव से प्रकम्पित कर देने वाले बुद्ध को हमारा नमस्कार है । अद्वितीय पराक्रम से युक्त, विष्णु के समान पराक्रमी, निरन्तर उत्साह से युक्त, महावीर बुद्ध को प्रणाम है । आकाश के समान ध्यान के द्वारा सम्पूर्ण जगत् के पदार्थों की आकाश के

¹ बु.वि.का. : 1/1

² वही, 2/16, 17, 53/12, 13, 62/9, 65/16, 19, 20, 23

आगे उनका कथन है कि यह धर्म बुद्ध सम्मत योग एवं क्षेम का प्रदायक, निरन्तर भावना रत विद्वत्जनों के द्वारा अनुभवगम्य है। यही नहीं अपनी हथेली पर रखे हुए आँवले के समान यह साक्षात् करने योग्य है :

" अध्यात्मं वेदितव्यश्च विज्ञैः सततभावनैः ।

स्वयंकरतलप्राप्तमलकप्रतिमः स्फुटः ॥ "1

आगे इस धर्म की कुछ अन्य विशेषताओं को संगणित करते हुये वे कहते हैं कि यह धर्म परिग्रह विमुख, आसक्ति रहित, सन्तोष की वृद्धि करने वाला, अहिंसा एवं करुणा से परिपूर्ण है। यह संसार की शान्ति के लिये परिश्रमशील है। भावना, उत्साह एवं शील से समृद्ध है, यही बुद्धसम्मत धर्म है। जहाँ धर्म का प्रकाश है, जहाँ चित्तों का विकास है, उसी धर्म के प्रति विद्वानों को आदरभाव रखना चाहिये। यह धर्म सभी पापों का विनाशक, सभी पुण्यों की समृद्धि करने से तथा चित्त की सभी मलिनताओं को समाप्त कर देने के कारण विजयी है। बुद्ध का धर्म पुण्य चित्तों का उत्पादक है, नित्य पुण्य वचनों का वक्ता है, पुण्य कर्मों का प्रतीक है। यह धर्म चित्त के पापों को, वाणी के दोषों को दूर करने वाला, काय कर्मों की मलिनता को दूर करने वाला है। यह धर्म मैत्री के द्वारा मनुष्यों के चित्त को मृदु बनाकर संसार की मर्मभेदी कठोरता का निवारण करनेवाला है। यह धर्म पर-धन का हरण करने वाले मनुष्यों के चित्त का दमन करके यहाँ जीवधारियों के हित के लिए दान में लगाने वाला है। यह धर्म सत्यमार्ग दिखला कर, मार के सभी पापों के परम आश्रयभूत असत्य का निवारण करने वाला है। सभी प्राणियों के हित एवं सुख के लिए ऊपर उठा हुआ तथागत का यह धर्म अहिंसा तथा करुणा का धनीभूत रूप है। रसों में तथागत ने सदा धर्म के रस को उत्तम कहा है। तथागत ने जिस धर्म का उपदेश दिया है, दान उसका प्रारम्भ कहा जाता है। उसका अवसान बोध में है, मध्य में पुण्य का बाहुल्य है। यह धर्म गृहस्थों के कल्याण के लिये है। सम्यक् प्रयत्न से प्रव्रजित प्राणी उसके पूर्ण फल के लिए लाभी होते हैं।² जिन तथागत का धर्म आकाश के समान सभी प्राणियों

¹ बु.वि.का. 65/13

² वही, 66/48, 49, 67/45, 71/44-49, 82/48, 50, 100/2

का आश्रय है तथा आदि, मध्य एवं अन्त में कल्याण वाला है, वह धर्म मेरा आश्रय हो :

" आदिमध्यान्तकल्याणो धर्मो गगनसंनिभः ।

आश्रयः सर्वसत्त्वानां यस्य सोऽस्तु ममाश्रयः ।।"¹

संघ :

संघ का विस्तृत वर्णन करते हुये ग्रन्थकार लिखते हैं कि संघ ने जाति एवं कुलविहीन समाज की स्थापना में सराहनीय कार्य किया । जिस प्रकार सागर में जाकर नदियों का नामभेद विलीन हो जाता है उसी प्रकार संघ में प्रवेश करने वालों का जातिभेद दूर हो जाता है । बुद्ध ने संसार को एक जाति एवं एक कुल बनाने के लिये महासंघ की स्थापना की । चार जोड़े वस्त्रों से पूर्ण भिक्षु संघ को दिया गया दान सबसे अधिक फलदा होता है । संसार में संघ श्रेष्ठ रत्न है । सभी दिव्य एवं पार्थिव सत्त्व जो यहाँ आये हुये हैं पूजनीय संघ की वन्दना कर रहे हैं । बुद्ध के द्वारा सभी प्राणियों के लिए स्थापित संघ को कुल-कुल से निकलकर कुलपुत्रों ने संवर्धित कर दिया । बौद्ध जन संघ की शरण जाकर एकता की शरण गये हुये होते हैं । एकता ही संघ का परम तत्त्व है, संघ का श्रेष्ठतत्त्व है । संघ के प्रति आदर को प्रदर्शित करते हुए ग्रन्थकार का कथन है कि मैं संघ को प्रणाम करता हूँ । जातिभेद की मलिनता जिसमें समाप्त हो जाती है, जो मानव जाति की एकता है, उस संघ का मैं आदर करता हूँ, जिसमें जाँत-पाँत का भेद नहीं है, जो संसार में जाँत-पाँत को पवित्र करने वालों में सर्वश्रेष्ठ है, उस संघ की मैं बार-बार स्तुति करता हूँ । अज्ञानी सहभोज एवं सहपान के समय जाति की परीक्षा करते हैं, सभी जातियों को एकता के सिद्धान्त वाले संघ की मैं सम्यक् पूजा करता हूँ । विवाह के समय सभी जाति की परीक्षा करते हैं । जातिवाद से रहित उत्तम संघ को मेरा नमस्कार हो । जिसका आश्रय ग्रहण कर यहाँ हीन जाति का मनुष्य भी शीघ्र ही उत्तम हो जाता है, उस संघ को नमस्कार हो । क्रूर मनुष्य भी जिसका आश्रय ग्रहण कर करुणामय हो जाते हैं, उस चित्त की कोमलता को प्रदान करने वाले संघ का नम्रतापूर्वक आदर करता हूँ । जिसको पाकर असभ्य मनुष्य सभ्य हो जाते हैं, उस मनुष्यों में श्रेष्ठ

¹ बु.वि.का. : 1/45

वन्दनीयों में सर्वोत्तम संघ की वन्दना करता हूँ, जिससे संयुक्त होकर गुणहीन भी गुणसम्पन्न हो जाता है, उस घरादिसे रहित गुणों के आगार संघ को मैं भजता हूँ। यहाँ जिसके द्वारा मनुष्यों में एकता हो जाती है,¹ वही वस्तुतः संघ है। एकता की शुभ बुद्धि जिसमें प्रगाढ़ हो गयी है, उस संघ की मैं शरण जाता हूँ। अन्त में ग्रन्थ-प्रणेता बोधिसत्त्वता, बौद्धता और बुद्धता के आलम्बन से अभ्युदय को प्राप्त सकल संसार की एकता के सधनभूत संघ की शरण में जाने को उद्यत है—

" संघं गच्छामि शरणं लोकसामग्र्यसाधनम् ।

बौद्धत्वबोधिसत्त्वत्वबुद्धत्वालम्बनोन्नतम् ।।"²

इस प्रकार प्रत्येक बौद्ध का कर्तव्य है कि वह प्रातः एवं सध्याकाल में त्रिरत्न वन्दना करे। यह वन्दना, चित्त की शान्ति का सरल उपाय है, तभी मानसिक परितोष की भी प्राप्ति हो सकेगी। कहीं-कहीं इन तीनों शरणों के साथ अतीत एवं अनागत बुद्धों की शरणगमन की भी चर्चा है -

" बुद्धं जीवितपरियन्तं सरणं गच्छामि ।।

ये च बुद्धा अतीता च ये च बुद्धा अनागता ।

पच्चुप्पन्ना च ये बुद्धा अहं वन्दामि सब्बदा ।।

× × ×

धम्मं जीवित परियन्तं सरणं गच्छामि ।।

ये च धम्मा अतीता च ये च धम्मा अनागता ।

पच्चुप्पन्ना च ये धम्मा अहं वन्दामि सब्बदा ।।

× × ×

संघं जीवित परियन्तं सरणं गच्छामि ।

ये च संघा अतीता च ये च संघा अनागता ।

पच्चुप्पन्ना च ये संघा अहं वन्दामि सब्बदा ।।

¹ बु. वि. का. 54/2, 3, 62/12, , 25, 54/4, 2/39- 51

² वही, 13/12

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि बुद्ध, धम्म एवं संघ बड़ी सघनता से एक - दूसरे के साथ जुड़े हुए हैं। वस्तुतः बुद्ध एवं धम्म एक-दूसरे के प्रतिरूप हैं। साथ ही संघ बुद्ध प्रवर्तित धर्म का एक सजीव स्वरूप है, जितना ही बुद्ध, धम्म एवं संघ पर मनन होता है, चित्त उतनाही ऊर्ध्वगामी बनता है। इसलिए सभी प्राणियों को बुद्ध, धम्म एवं संघ को सतत् अनुकृति का विषय बनाना चाहिये।

(ड.) त्रिकल्याण धर्म :

'पुण्य-प्रवृत्ति, पाप-निवृत्ति एवं चित्त शुद्धि' - यही त्रिकल्याण धर्म है। प्राणियों को पुण्य कर्मों को करने के लिए सदैव तत्पर, पाप से विरति एवं अपने चित्त को शुद्ध रखना चाहिये, तभी वह धर्म कल्याणकारी होता है।

प्रस्तुत आलोच्य ग्रन्थ में ग्रन्थ-प्रणेता ने इस त्रिकल्याण धर्म की विस्तार से चर्चा की है। उनका कथन है कि मनुष्य सर्वप्रथम पाप से निवृत्त होते हैं। तदनन्तर चर्चा के द्वारा पुण्यों में रत हो जाते हैं, तत्पश्चात् चित्त की मलिनता को शुद्धकर सिद्ध हो जाते हैं। यही बौद्ध धर्म का त्रिकल्याण धर्म है :

" जना हि पूर्व विरमन्ति पापतस् ततो रमन्ते कुशलेषु चर्यया ।

विशुध्य सिध्यन्ति मतो ततोऽन्ततो मतं त्रिकल्याणमिदं हि सौगतम् ।।"¹

ग्रन्थ -प्रणेता ने 48वें सर्ग में पाप कर्म और उनसे निवृत्ति, कुशल धर्म एवं उनके सञ्चय के उपाय और अन्त में चित्त शोधन से सभी पापों की निवृत्ति के विषय में विस्तार से चर्चा की है। उन्होंने पापवृत्ति के कारण, पुण्य प्रवृत्ति के कारण शुभ कर्मों का उदय तथा चित्तशुद्धि में शरीर एवं वाणी द्वारा कृत पुण्य का वर्णन किया है। पुण्य में चित्तशुद्धि के अभाव से पुण्य न होकर पुण्य की आहति मात्र है। इस त्रिकल्याण धर्म का आलोच्य ग्रन्थानुसार वर्णन इष्ट है।

पाप-निवृत्ति :

कवि क्षमा के अभाव को ही पापमूलक मानते हुये कहते हैं कि यहाँ क्षमा के अभाव में भाई-भाई

¹ बु.वि.का.48 /51

अलग-अलग हो जाते हैं । यदि संसार को अपनी भार्यामात्र से सन्तोष होने लगे तो काममूलक मिथ्याचार स्वतः ही समाप्त हो जायेगा । पुत्र प्रीति से विमुख हो माता-पिता से अलग हो जाता है । यदि संसार में सर्वत्र सम्यक् आजीविका में बुद्धि बनी रहे तो चोरी का नाम भी सुनाई नहीं देगा । सभी प्रकार की मिथ्या आजीविकाओं से जीविका चलाने वाले की जीविका निन्दनीय है । मांस के विक्रय द्वारा जीविका चलाने वाले मांसार्थ हिंसक हो जाते हैं । स्वयं हत्या कर मांस भक्षण न करने वाले व्यक्ति ही संख्या में अधिक है । संसार में जनता चक्रवर्ती के न होने के कारण दुःखी है । राजाओं को चक्रवर्ती के व्रत अभ्यास में शिक्षित करना उचित है । आजीविका के अभाव के कारण चोरी होती है, चोरी के कारण दण्ड व्यवस्था प्रवृत्त होती है । दण्डनीय व्यक्ति असत्य बोलता है ।¹ इस प्रकार पाप में अभिवृद्धि होती है । अधर्म द्वारा चित्त में पाप को भूलने के लिए सुख की आशा से व्यक्ति उन्मादकारक मद्य का पान करते हैं । राजा को दण्ड देने वाला देखकर व्यक्ति भी शस्त्र ग्रहण कर लेते हैं । धर्म के अभाव में सर्वत्र मात्स्य न्याय प्रवृत्त हो जाता है । संसार में प्रजाओं का परिपालन जब अदण्ड से, अशस्त्र से तथा धर्म से किया जाता है तब शान्ति रहती है तथा सुख होता है । यदि क्षमा अहिंसा ही है तो उस क्षमा की सिद्धि उन्हीं लोगों को होती है जिनके चित्त उस तृष्णा से विरत रहते हैं, जो अर्थ एवं काम सम्बन्धी होती है । क्षमा के होने पर यहाँ कुल-कुल में एकता होजाती है तथा गण-गण में नित्य अनुकूलता बनी रहती है ।² दूसरे के दुःख को देखकर यहाँ आदमी उपेक्षा नहीं करता और अपने दुःख की तरह दूसरों के दुःख का भी प्रतिकार करता है । दूसरों के दुःख को दूर करने के निमित्त जो पुण्यचित्त उत्पन्न होता है वह यहाँ धरती तल पर कल्याण धर्म का प्रारम्भ है । इसी भाव की अभिव्यक्ति श्लोक के माध्यम से करते हुए ग्रंथ प्रणेता का कथन है कि-

" अन्यस्य दुःखमालोक्ष्य नोपेक्षां कुरुते जनः ।

परदुःखप्रतीकारं कुरुतेऽत्र स्वदुःखवत् ॥

परदुःखानि हर्तुं यच्चित्तमुत्पद्यते शुभम् ।

कल्याणस्यात्रधर्मस्य प्रारम्भः स महीतले ॥"³

पुण्य-प्रवृत्ति :

जैसाकि ऊपर वर्णन किया जा चुका है कि पुण्यचित्त की उत्पत्ति ही धरतीतल पर कल्याण धर्म का प्रारम्भ है । परधन के प्रति लालची नहीं होना चाहिये । जो मनुष्य परिग्रही नहीं होता उसका पर हनन भाव

¹ बु. वि. का. : 48/6-13, 22, 24

² वही, 48/26-30

³ वही, 48/31, 32

निरुद्ध हो जाता है । इससे किसी के अनिष्ट की आशा नहीं रहती । उसमें सदैव क्षमाचित्त तथा दयाचित्त प्रवृत्त होने लगता है तब उसका मिथ्या-भाषण के प्रति अभिनिवेश समाप्त हो जाता है । उसमें शुभ एवं सत्य को समझने की दृष्टि का उदय हो जाता है । वह निरर्थक अपलाप का त्यागकर सुभाषितों का आनन्दपूर्वक श्रवण एवं मनन करता है । मिथ्या भाषण का परित्याग कर वह जैसा जानता है वैसा बोलता है अथवा करुणाभाव के कारण मौन धारण कर लेता है । दूसरे मनुष्यों की कटुक्तियों का भागी होने पर भी वह कटुवचन नहीं बोलता, प्रियोक्तियों का आश्रय लेकर मितभाषी होता है । दूसरों पर अनुग्रह करने की मनोभावना से युक्त हो पिशुनता से सर्वथा दूर रहता है । वह हितकारी वचन बोलता है ¹ तथा सदाचार में तल्लीन हुआ कामाचार में प्रवृत्त नहीं रहता । रोगियों की परिचर्या करता है । दूसरे की वस्तु हड़पने से विमुख हो स्वयं दान के प्रति उत्साहित रहता है । अनाथ बालक एवं वृद्धों को प्रयत्न से अन्नदान देता है । जो दान के योग्य हैं उनकी दान से पूजा करता है ।

आगे ग्रन्थ-प्रणेता का कथन है कि पापों को त्यागकर पुण्याचरण करते हुए उत्साही, क्षमावान, बुद्धिशाली व्यक्ति कल्याणधर्म के मध्य को सम्पन्न करता है । सभी पापों का परित्याग करने के कारण धर्मात्मा की कभी दुर्गति नहीं होती । पुण्याचरण के कारण उसे अवश्य ही सुगति की प्राप्ति होती है । इस प्रकार प्रयत्न के साथ कल्याण धर्म के आदि को पूर्ण करके धर्मचर्या में तत्पर व्यक्ति उसके मध्य को सम्पन्न करता हुआ शोभायमान होता है । पाप तथा पुण्य से रहित निर्मल चर्या का आचरण करने वालों को अन्त में भी इस कल्याण धर्म का अनुभव होता है ।² पाप का परित्याग करने के कारण दुःख नहीं होता । पुण्याचरण के कारण सुख होता है । पाप तथा पुण्य का परित्याग करने से चित्त निर्मल हो जाता है—

" दुःखं न पापत्यागेन सुखं पुण्योपसेवनात् ।

पापपुण्यप्रहाणेन विमलं जायते मनः ।। "³

¹ बु. वि. का. : 48/35-42

² वही, 48/43-49

³ वही, 48/50

चित्त-शुद्धि :

चित्त-परिशुद्धि के महत्त्व को स्पष्ट करते हुये आचार्य प्रवर शान्तिभिक्षु शास्त्री कहते हैं कि बुद्धों की जो बोधि है और अर्हत्तों की जो बोधि है, उसका मूल अपरिमाण पुण्य चित्त है । अपरिमाण चित्त के द्वारा परिष्कृत एकमात्र करुणा ही पुण्यसिद्धि प्रदायिका है क्योंकि अन्त में वह बोधि प्रदान भी करती है । शरीर और वाणी से किये गये पुण्य में यदि चित्त का योग न हो तो वह पुण्य की आकृति मात्र है, यथार्थ में पुण्य नहीं है । यथा चित्रित की गयी गाय-गाय का कार्य नहीं करती वैसे बिना चित्तयोग के पुण्य-पुण्य के प्रयोजन को सिद्ध नहीं करता । यहाँ यह चित्त का बल है, जिससे युक्त होकर करुणा यहाँ बोधिस्त्व को यथा अवसर बुद्धत्व की प्राप्ति कराती है । चित्त के संशोधन से वैसे ही धर्मसिद्धि होती है जैसे जूते के चर्म से पृथिवी आच्छादित हो जाती है । परिग्रही के द्वारा प्रदत्त दान से पुण्य लेशमात्र होता है जबकि अपरिग्रह चित्त का व्यक्ति दान पुण्यों का महासागर है । कल्पवृक्ष बनकर भी जो अभीष्ट प्रदान करता है, उसकी दान पारमिता भी यहाँ सिद्ध नहीं होती ।¹ शरीर सहित दान के चित्त से उत्पन्न हुई दान पारमिता वस्तुतः चित्तार्पण ही है, पदार्थार्पण नहीं । शत्रु वध में लगा हुआ क्रोधी व्यक्ति यहाँ शत्रुवृद्धि करता है, जिसके मन में क्रोध नहीं है ऐसे क्षमावान् व्यक्ति के सम्पूर्ण शत्रुओं का पूर्णरूपेण नाश हो जाता है । यहाँ शरीर एवं वचन से पाप कर्म न करता हुआ धार्मिक बिना चित्तयोग के कपटी नट के समान है । आदि, मध्य एवं अन्त में जिससे कल्याण होता है, उस धर्म का मूल यहाँ चित्त ही है अन्य कुछ नहीं । इसलिए सदैव उत्पन्न हुए कल्याण चित्त की वृद्धि मलिन भावों के निरोध के द्वारा करनी चाहिये । यहाँ पापाचरण न करने से तथा पुण्याचरण करने से उत्पन्न हुआ कल्याण-चित्त असत् आग्रह के कारण क्षीण हो जाता है । यहाँ अहंता एवं ममता के रूप में भयंकर आत्मग्राह है । सभी पापों का एकमात्र कारण आत्मराग होता है ।² इस संसार में आत्मकामी पुरुष को कामिनी-कांचन की इच्छा रहती है, जिसके द्वारा अत्यन्त मलिन चित्त पुण्यों से भी शुद्ध नहीं होता—

" आत्मकामस्य लोकेऽस्मिन् कामिनीकांचनस्पृहा ।

ययातिमलिनं चित्तं पुण्यैरति न शुध्यति ।। "³

¹ बु. वि. का. : 49/2-9

² बु. वि. का. : 49/10-16

³ वही, 49/17

आगे उनका कथन है कि चित्त शोधन करने वाले, पुण्यों में अभिवृद्धि के अभीप्सु, सकल पापों का परित्याग करने वाले ही उत्तम सिद्धि को प्राप्त करते हैं । कवि के मत में सभी पापों का परित्याग करने वाले, पुण्यों की अभिवृद्धि करने वाले तथा चित्त को परिशुद्ध करने वाले ही आमगन्ध त्यागी की संज्ञा से अभिहित होते हैं ।¹ उनका मन्तव्य है कि केवल मत्स्य मांस का त्याग ही आमगन्ध त्याग नहीं है अपितु सभी पापों का त्याग आमगन्ध त्याग है :

" निरामगन्धता नैव केवलामिषवर्जनम् ।

वर्जनं सर्वपापानां सेति तानादिशन् मुनिः ।। "²

तदनन्तर उनका अभिकथन है कि प्रमाद न करते हुए सदैव पाप का परित्याग करना चाहिए, पुण्य करना चाहिये, निरन्तर अपने चित्त का शोधन करना चाहिये—यह बुद्धानुशासन है । सर्व पाप नाश, सर्व पुण्य विवर्धन तथा चित्त शोधन धर्म का उपेक्षित सब तथागत करते हैं । लोक में सर्वदा पाप से दूर रहने वाला, पुण्यकर्ता, प्राणियों को आनन्द देने वाला, अपने चित्त शोधन के आचार से सिद्ध हुआ व्यक्ति लोक में पूजित होता है । पाप के त्याग से उदय को प्राप्त चित्त, अग्नि की चिनगारी के समान, पुण्य के ईंधन के संयोग से वर्धित कार्यकारी होता है । पुण्याचारी विराग के परिपाक से यहाँ कतक-फल³ सेजल की भाँति बुद्ध के निर्मल भाव को प्राप्त कर लेता है । शुभ कर्म करने वाले, चित्त की शुद्धि को प्राप्त हुए व्यक्ति के लिए शरीर के रहते हुये संसार का आवागमन रूपी चक्र सर्वदा के लिए समाप्त हो जाता है—

" शरीरेण धृतस्यापि शुभकर्माणि कुर्वतः ।

चित्तशुद्धिमुपेतस्य संसारो नैव वर्तते ।। "⁴

इस प्रकार सभी पापों के परित्याग से तथा सभी पुण्यों के सत्कार से उत्पन्न हुआ कल्याणचित्त इस उपाय द्वारा शुद्ध हो जाता है । पाप-निवृत्ति, पुण्य-प्रवृत्ति, एवं चित्तशोधन यह त्रिकल्याणमय बुद्धानुशासन ज्ञेय है :

"सर्वपापपरित्यागात् सर्वपुण्यसमादरात् ।

¹ बु.वि.का. : 64/31, 32

² वही, 64/33

³ वही, 78/41, 80/50, 96/40-42

⁴ वही, 96/43

कल्याणं चित्तमुत्पन्नं मार्गेणानेन शुध्यति ।

पापान्निवृत्तिः पुण्येषु प्रवृत्तिश्चित्तशोधनम् ।

त्रिकल्याणमिदं ज्ञेयं बुद्धानामनुशासनम् ॥ ¹

{च} कर्मवाद एवं पुर्नजन्मवाद :

कर्म एवं पुर्नजन्म का सिद्धान्त हिन्दू, जैन और बौद्ध परम्पराओं में सर्वमान्य है किन्तु बौद्ध धर्म में उसका अपना वैशिष्ट्य है । ' आस्तिक ' दर्शनों में जो स्थान ईश्वर का है वही स्थान बौद्ध दर्शन में कर्म का है । परम तत्त्व के विषय में तथागत का मौन केवल कर्म की ही प्रधानता को द्योतित करता है । सांसारिक जीवन में विषमता का कारण तथागत कर्म को ही मानते हैं । इस विषमता के विषय में माणवक द्वारा उपस्थापित प्रश्न के प्रत्युत्तर रूप बुद्ध का अभिकथन कर्म की श्रेष्ठता को ही प्रतिपादित करता है :

" कम्मस्सका माणव, सत्ता कम्मदायादा कम्म योनी कम्मवन्धू

कम्मप्पटिसरणा कम्मं सत्ते विभज्जति यदिदं हीनप्पपीतताया 'ति ॥²

इसलिए भगवान् ने सभी प्राणियों को दुष्कर्म त्याग सुकर्म करने का उपदेश दिया है । उपर्युक्त सन्दर्भ से स्पष्ट है कि यथा कर्म श्रेष्ठ एवं अधम फल की प्राप्ति होती है । वह अपने कर्मों का फल इस जन्म में ही नहीं अपितु अगले जन्म में भी प्राप्त करता है । कर्म के तीन स्वरूप हैं— कायिक, वाचिक एवं मानसिक ।

इसमें मन सम्बन्धी कर्मों को तथागत ने प्रधान माना है । सभी कर्म कुशल एवं अकुशल रूप में दो प्रकार के होते हैं । अकुशल कर्म दस हैं— प्राणातिपात, अदिन्नादान, कामेसुमिच्छाचार, मुसावाद, पिसुनावाचा, फरुसा वाचा, सम्पलाप, अभिज्जा, व्यापाद एवं मिच्छादिट्ठ । ये अकुशल कर्म लोभ, द्वेष एवं मोह से उत्पन्न होते हैं । कुशल कर्म इससे सर्वथा विपरीत अलोभ, अद्वेष एवं अमोह से उत्पन्न होते हैं । कर्म ही तथागत के नैतिक आदर्शवाद की आधारशिला है । इस प्रत्यक्ष अनुभूति के आधार पर भगवान् तथागत का विश्वास था कि उनके समान यदि अन्य प्राणी भी यह जान लें कि सुकर्म एवं दुष्कर्म के परिणामस्वरूप ही सुगति या दुर्गति

¹ बु. वि. का. 49/44-45

² म. नि. - ना. सं. - भा. - 3, पृ. 280

प्राप्त होती है । तो वे दुष्कर्मों को त्याग कर सुकर्मों के प्रति प्रेरित हो जायेंगे ।¹ इसके अतिरिक्त तथागत कर्म के महत्त्व को प्रतिपादित करते हुये कहते हैं कि सुगति या दुर्गति का पाना इस कर्म के शुभ या अशुभ होने पर ही निर्भर है ।²

तथागत द्वारा मान्य कर्म सिद्धान्त का उल्लेख करते हुए ग्रन्थ- प्रणेता प्रस्तुत आलोच्य ग्रन्थ में कहते हैं कि इस संसार में जो कुछ अनुभव किया जाता है वह सब पूर्वकर्मों का फल है जिसे प्राणी को सहन करना ही पड़ता है :

" पूर्वकर्मविपाकोऽयं भवेऽस्मिन् योऽनुभूयते ।

श्रम्यं नात्रान्यथा कर्तुं भाग्याधीनमिदं जगत् ॥"³

तदनन्तर उनका अभिकथन है कि इस संसार में जो कुछ वैचित्र्य है, वह सभी कर्म द्वारा उत्पन्न है :

" यत्किंचिल्लोकवैचित्र्यं तत्सर्वं कर्मसम्भवम् ॥ "⁴

वे आगे कहते हैं कि मन की चेतना के द्वारा किया गया कर्म यहाँ शुभ एवं अशुभ फल को प्रदान करने वाला होता है । जिस कर्म में मन की चेतना का योग नहीं है वह भविष्य में फलप्रदायी नहीं होता । प्राणी अपनी चेतनानुसार ही कर्म करता है तथा शुभ एवं अशुभ कर्मों के अनुसार ही फलभागी होता है । इस कारण प्राणियों को उत्तम चेतना युक्त होकर कर्म में रत रहना चाहिये ।⁵ कर्म करते हुए प्राणियों को उनके फल का चिन्तन अवश्य करना चाहिये क्योंकि पापी निश्चय की दुर्गति को प्राप्त होता है :

" विभाव्यः कर्म कुर्वद्भिस्तिष्ठिपाको धिया जनैः ।

प्रजानन् पापकारीह दुर्गतिं यात्यसंश्रयम् ॥ "⁶

¹ इति. दि. सु., पृ. 32-33

² म. नि. - ना. सं. - भा. - 3, पृ. 295-96

³ बु. वि. का. : 12/27

⁴ वही, 73/24

⁵ वही, 73/25-28

⁶ वही, 73/32

आगे उनका अभिकथन है कि जो प्राणी अपना हित करना चाहता है उसे अपनी शुद्ध चेतना द्वारा कर्म करने चाहिये । मनुष्य कर्मदायाद है, कर्मोत्पन्न एवं कर्मयोनि है । अतः उसके लिए सदैव पुण्य कर्म करणीय है -

" मनुष्याः कर्मदायादाः कर्मणाः कर्मयोनयः ।

विधातव्यानि कर्मानि तेन पुण्यानि सर्वदा ।। "1

इस प्रकार तथागत कर्म के आधार पर ही पुर्नजन्म को मानते हैं । बौद्ध परम्परा आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करती परन्तु पुर्नजन्म को स्वीकार करती है । इस सम्बन्ध में यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि पुर्नजन्म किसका होता है ? जिसने कर्म किया वह तो समाप्त हो जाता है और उत्पन्न होने वाले ने कर्म किए ही नहीं तो किन फलों को भोगने के लिए वह उत्पन्न होता है । इसका कारण है कि जब कोई वस्तु उत्पन्न होती है और अन्य कोई वस्तु समाप्त होती है तो इन दोनों अवस्थाओं में क्षणभर का भी अन्तर नहीं होता । एक के समाप्त होते ही दूसरी उत्पन्न हो जाती है । इसी कारण पुर्नजन्म के समय न तो वही जीव होता है और न दूसरा ही हो जाता है । एक जन्म के अन्तिम विज्ञान के समाप्त होते ही दूसरे जन्म का प्रथम विज्ञान उत्पन्न हो जाता है । यद्यपि कर्म प्रतिक्षण नष्ट होते रहते हैं परन्तु उनकी वासना अगले क्षण में भी अनूस्यूत रूप से प्रवाहित होती रहती है । इसी तथ्य को मिलिन्द प्रश्न में आचार्य नागसेन तथा राजा मिलिन्द के संवाद के माध्यम से स्पष्ट किया गया है । वहाँ उपमा दृष्टान्त और उदाहरणों के माध्यम से इसकी चर्चा की गयी है । इस प्रकार राजा मिलिन्द द्वारा आत्मा के बिना ही पुर्नजन्म होने की बौद्ध मान्यता को स्वीकार कर लेता है ।2

प्रस्तुत आलोच्य ग्रंथ में ग्रन्थ प्रणेता ने पुर्नजन्म को आख्यान के माध्यम से प्रस्तुत किया है । उनका कथन है कि एक समय भगवान् बुद्ध शिष्यों के साथ सरयू नदी के तट पर स्थित साकेत नगर में भिक्षा के लिए गये। नगर द्वार पर प्रवेश करते ही एक ब्राह्मण ने हे तात ! हे पुत्र ! कहते हुए उनकी पूजा की । भगवान् को

1 बु.वि.का. : 92/43

2 मि.प्र. - ल.प., पृ. 52-55

संघ सहित आदर के साथ वह ब्राह्मण अपने घर ले गया और अपनी पत्नी को बुलाकर बोला कि आज दीर्घावधि के अनन्तर मिले अपने पुत्र को मैं घर ले आया हूँ। उस ब्राह्मणी ने भी पुत्र के रूप में उन्हें सम्बोधित करते हुये अत्यन्त प्रेम के साथ चरण स्पर्श किये और अपने अन्य पुत्र-पुत्रियों को बुलाकर कहा कि अपने भाई को प्रणाम करो। तब से उस ब्राह्मण को सभी लोग बुद्ध का पिता एवं ब्राह्मणी को बुद्ध की माता कहने लगे। उनके पुत्रों को बुद्ध का भ्राता एवं बहिन को बुद्ध भगिनी के रूप में सम्बोधित करने लगे। सपरिवार उस ब्राह्मण ने संघ भगवान् बुद्ध को भोजन खिलाया और कहा "हे पुत्र, इस घर को तुम अपना घर ही समझो। यह घर धन-धान्य से पूर्ण है। तुम्हारा सदैव यहाँ स्वागत है, संघ के साथ प्रतिदिन भोजन कर तुम हमें प्रसन्न करो। हम सब तुम्हारा प्रतिदिन दर्शन करना चाहते हैं।" उस ब्राह्मण के वचन सुनकर भगवान् बोले कि "तथागत कभी एक ही स्थान पर भोजन नहीं करते। वे तो सभी के कल्याण की इच्छा से सम्पूर्ण पृथिवी पर चारिका करते हुये भोजन ग्रहण करते हैं।" तब वह ब्राह्मण बोला "यदि ऐसा है तो जब तुम कहीं निमन्त्रित न हो, तब हम पर कृपा करो, हमारे यहाँ आकर भोजन ग्रहण करो और उपदेश वचन कहो।" इस प्रकार प्रतिदिन स्नेह के साथ प्रभु भोजन ग्रहण किया करते थे तथा उपदेश देते थे। उन ब्राह्मण-ब्राह्मणी ने भी श्रद्धा के साथ उपदेशों को ग्रहण कर निर्वाण को प्राप्त कर लिया। संघ के सभी भिक्षुओं के मन में यह विचार उत्पन्न हुआ कि प्रभु तो राजा शुद्धोधन एवं महामाया देवी के पुत्र हैं परन्तु फिर भी ये भगवान् उन ब्राह्मण-ब्राह्मणी को माता-पिता के समान आदर एवं स्नेह प्रदान करते हैं और माता-पिता के गौरव से प्रतिष्ठित कर इन्हें धर्म का उपदेश देते हैं। इसका क्या कारण है? क्या रहस्य है? इस प्रकार परस्पर उनके वार्तालाप को सुनकर भगवान् बुद्ध बोले कि "ये ब्राह्मण-ब्राह्मणी पूर्वजन्म में मेरे माता-पिता थे, पहले कभी न देखे गये जिस व्यक्ति पर विश्वास कर मन प्रसन्न हो जाता है वहाँ पूर्वजन्म की प्रीति ही कारण होती है। यद्यपि वर्तमान के हित से भी प्रेम उत्पन्न होता है परन्तु जिस व्यक्ति को आपने पहले कभी न देखा हो, उसके प्रति जो प्रेम उत्पन्न होता है, वह निश्चित ही पूर्वजन्म के संसर्ग के कारण होता है। यही इन ब्राह्मण-ब्राह्मणी एवं मेरे मध्य में प्रेम का कारण है।"¹

¹ बु. वि. का. 92 सर्ग सम्पूर्ण

इस प्रकार आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार न करते हुए भी भगवान् बुद्ध पुनर्जन्म को स्वीकार करते हैं ।
 पूर्वजन्म के सिद्धान्त को स्वीकार करके उन्होंने अपने से पूर्व की विधारधाराओं का ही समर्थन किया है ।
 धम्मपद में पुनर्जन्म के विषय में अपने से पूर्व के धार्मिक विश्वासों का वर्णन करते हुये कहा है—

" गब्भमेके उप्पज्जन्ति निरयं पापकम्मिनो ।

सग्गं सुगतिनो यन्ति परिनिब्बन्ति अनासवा ॥ "1

तथागत के इस मत की सम्पुष्टि महर्षि अराड के इस उपदेश से भी हो जाती है—

" अपेत्यापेत्य किं त्वेति दुःखमत्र पुनः पुनः ।

दुःखार्थमेव लोकोऽत्र प्रेत्य प्रेत्य प्रजायते ॥ "2

¹ ध.प.गा०, 126

² बु.वि.का. : 26/9

पञ्चम अध्याय

दार्शनिक सिद्धान्त एवं शिक्षाएँ

(क) प्रतीत्यसमुत्पाद :

'प्रतीत्यसमुत्पाद' बौद्ध दर्शन का प्रमुख सिद्धान्त है। प्रतीत्यसमुत्पाद का अर्थ 'प्रत्ययों के सहारे उत्पत्ति होने का नियम है।' विश्व की कोई भी वस्तु बिना कारण या बिना प्रत्ययों के सहारे उत्पन्न नहीं होती। इसके विपरीत प्रत्येक वस्तु की उत्पत्ति किसी कारण या प्रत्यय पर आधारित होकर ही सम्भव हो सकती है। संसार की कोई भी वस्तु स्वयंभू नहीं है। संसार की एक वस्तु विभिन्न कारणों पर आधारित होकर उत्पन्न होती है। इस सिद्धान्त को स्पष्ट करते हुये बुद्ध ने कहा है कि—

" इमस्मि सति इदं होति, इमस्स उत्पादा इदं उत्पज्जति ।

इमस्मि असति इदं न होति, , इमस्स निरोधो इदं निरुज्जति । "1

इस प्रकार प्रतीत्य समुत्पाद का विश्लेषण करने पर ज्ञात होता है कि यह दो शब्दों के योग से बना है— 'प्रतीत्य' और 'समुत्पाद'। 'प्रतीत्य' का अर्थ है 'किसी वस्तु के उपस्थित होने पर' और 'समुत्पाद' का अर्थ है 'किसी अन्य वस्तु की उत्पत्ति।' इसलिए प्रतीत्यसमुत्पाद का शाब्दिक अर्थ होगा कि 'एक वस्तु के उपस्थित होने पर किसी अन्य वस्तु की उत्पत्ति अर्थात् एक के आगमन से दूसरे की उत्पत्ति।'।

इस प्रतीत्यसमुत्पाद सिद्धान्त के द्वारा अनेक बौद्ध विचारधाराओं का विकास हुआ जिनमें संसार, आर्यसत्य, कर्म, पुर्नजन्म एवं निर्वाण मुख्य हैं। प्रतीत्यसमुत्पाद जहाँ मानव के जीवन-मरण के कारणों की व्याख्या करता है वहाँ वह उनके निरोध की भी चर्चा करता है। जीवन-मरण क्रम अर्थात् भव चक्र जिन कारणों से चलता है, वे कारण ही प्रतीत्यसमुत्पाद की बारह कड़ियाँ हैं। इन्हें बौद्ध दर्शन में द्वादश निदान के नाम से भी जाना जाता है। यथा—अविद्या, संस्कार, विज्ञान, नामरूप, षडायतन, स्पर्श, वेदना, तृष्णा, उपादान, भव, जाति एवं जरा मरण। ये सभी अन्योन्याश्रित तथा श्रृंखलाबद्ध होकर गतिशील बनी रहती हैं। मिलिन्दप्रश्न में जब राजा मिलिन्द, नागसेन से प्रश्न करते हैं कि भूत, भविष्य एवं वर्तमान का मूल क्या है? तब इसका उत्तर

¹ म.नि. -ना. सं.-भा.-3, पृ. 126-127

देते हुये नागसेन कहते हैं कि, " इसका मूल अविद्या है । अविद्या के होने से संस्कार, संस्कार के होने से षडायतन, षडायतनों के होने से स्पर्श, स्पर्श के होने से वेदना, वेदना के होने से तृष्णा, तृष्णा के होने से उपादान, उपादान के होने से भव, भव के होने से जन्म और जन्म के होने से जरा-मरण, शोक, विलापादि होते हैं । इस प्रकार इन दुःखों के क्रम के प्रारम्भ का ज्ञान नहीं होता ।"¹

इसके विपरीत इसके निरोध की भी चर्चा पालि ग्रन्थों में की गयी है । "यथा- अविद्या के निरोध से संस्कार का निरोध हो जाता है, संस्कार के निरोध से विज्ञान का निरोध, विज्ञान के निरोध से नामरूप का निरोध, नामरूप के निरोध से षडायतन का निरोध, षडायतन के निरोध से स्पर्श का निरोध, स्पर्श के निरोध से वेदना का निरोध, वेदना के निरोध से तृष्णा का निरोध, तृष्णा के निरोध से उपादान का निरोध, उपादान के निरोध से भव का निरोध, भव के निरोध से जन्म का निरोध, जन्म के निरोध से जरा-मरणादि का निरोध हो जाता है ।"²

अब यहाँ आलोच्य ग्रन्थ के अनुसार उनकी विस्तार से चर्चा अभीष्ट है :

1. अविद्या :

'अविद्या' जिसका शाब्दिक अर्थ है 'अज्ञानता'। इसमें प्राणी का ज्ञान, लोभ एवं मोह के वश में होकर क्लेशयुक्त रहता है । वस्तुतः सभी दुःख अविद्या के हेतु होते हैं तथा अविद्या के ही सहगामी होते हैं । ग्रन्थ-प्रणेता आलोच्य ग्रन्थ में अविद्या को परिभाषित करते हुए कहते हैं कि अविद्या अनादि काल से संचित क्लेशों की धारिका तथा अशान्ति की उत्पादिका है । इसी भाव को अभिव्यक्त करते हुये ग्रन्थकार का कथन है कि;

" अविद्या संचितानादिकालात् क्लेशरूपिणी ।

एतद्युक्ता हि संस्कारस्त्यजन्त्युपशमं क्षणात् ।।"³

¹ मि.प्र. : ल.प., पृ. 52-53

² महा. पृ. 3

³ बु.वि.का. : 37/44

आगे उनका कथन है कि इस अविद्या का कारण लोभ है । लोभ के कारण ही अज्ञानता होती है । आकांक्षा एवं लोभ में आसक्त यह संसार महानरक है । इनसे पराङ्मुख होकर ही इस संसार रूपी नरक का पार करने का उपदेश ग्रन्थ-प्रणेता ने दिया है -

" इच्छालोभसमासक्तो लोको हि नरको महान् ।

नरकं हितरेदेतं लोभेच्छायां पराङ्मुखः ॥" ¹

2. संस्कार :

संस्कार पूर्वजन्म की वह दशा है जिसके कारण ही प्राणी शुभ-अशुभ कर्मों को करने के लिए प्रेरित होता है । ग्रन्थकर्ता का कथन है कि ध्यान-बल से तथागत ने संस्कारों से स्वयं को मुक्त कर लिया तथा तभी उनकी तृष्णाओं का अन्त हो गया -

" संस्कारचारकान्मुक्तं विविक्तं विमलं मम ।

विसंस्कारगतं चित्तं तृष्णानां क्षयमध्यगात् ॥ " ²

3. विज्ञान :

यह जीवन की वह दशा है जब प्राणी माता के गर्भ में प्रवेश करता है और चैतन्य को प्राप्त करता है । आलोच्य ग्रन्थ के अनुसार विज्ञान चेतना धर्म से युक्त होता है तथा स्पर्श में आगत धर्मों में व्याप्त होकर उनका ज्ञान कराता है :

" विज्ञानं केवलं सर्वं चेतनाधर्मसंयुतम् ।

स्पर्शोपगतं धर्माणामभिव्याप्यावबोधकृत् ॥ " ³

4. नामरूप :

गर्भ के भ्रूण की कलल या बुदबुद आदि अवस्था ही नामरूप है । प्रस्तुत आलोच्य ग्रन्थ में नामरूप का

¹ बु.वि.का. : 43/48

² वही, 68/7

³ वही, 70/11

वर्णन करते हुये ग्रन्थकार कहते हैं कि नाम रूप पर आश्रित है । काय प्राणियों का पृथक्-पृथक् दिखलाई देने वाला रूप ही है । संसार में विना काय के नाम की स्थिति का अनुभव नहीं होता । नाम से वियुक्त काय पूतिभाव को प्राप्त हो जाता है विना नाम के रूप की कायरूपिणी स्थिति नहीं है । पृथिवी, जल, तेज तथा वायु यह चार प्रकार का, कठोर, स्निग्ध, उष्ण तथा कम्पन स्वभाव वाला रूप बाह्य है । सभी प्राणियों की चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा तथा काय नाम की जो इन्द्रियाँ हैं वही रूप है । रूप, शब्द, गन्ध, रस तथा स्पर्श से देखता, सुनता, सूँघता तथा स्पर्श करता हुआ नाम युक्त प्राणी इन्द्रियों द्वारा बाह्य विषयों का ज्ञान करता है । नाम से रहित प्राणी समाप्त हो जाता है । रूप भी एक वस्तु नहीं है वह क्रियाओं के भेद एवं गुणों के सम्बन्ध वाला है ।¹ नाम के विस्तृत स्वरूप का वर्णन करते हुये ग्रन्थकार का कथन है कि नाम ही चित्त, मन एवं विज्ञान कहलाता है :

" नामापि नैकमत्रास्ति तत् पर्यायेर्निगद्यते ।

चित्तं मनोऽथ विज्ञानं विज्ञप्तिरिति सान्वयम् ।।"²

5. षडायतन :

आयतन का अर्थ है ' इन्द्रियाँ ' । यह उस अवस्था का सूचक है जब भ्रूण माताके उदर से निःसृत हो जाता है । उसके अंग-प्रत्यंग तैयार हो जाते हैं परन्तु वह अभी उनका प्रयोग नहीं करता । चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा, काय तथा मन— ये ही षडायतन हैं । इन षडायतनों की उत्पत्ति के विषय में कहा गया है कि अशान्त संस्कारों के द्वारा चंचल विज्ञान नामरूप में परिवर्तित होकर षडायतनों को उत्पन्न करने वाला होता है—

" अशान्तैः सर्वसंस्कारैर्विज्ञानं मलिनं चलम् ।

नामरूपमयं भूत्वा षडायतनकारकम् ।।"³

6. स्पर्श :

स्पर्श शैशव की वह दशा है, जब शिशु बाह्य जगत के सम्पर्क में आता है । वह अपनी इन्द्रियों द्वारा

¹ बु.वि.का. : 70/2-9

² वही, 70/10

³ वही, 37/45

बाह्य जगत् को समझने लगता है किन्तु उस समय उसका ज्ञान धुंधला होता है । प्राणी शब्द, गन्ध, रस, स्पर्श को पृथक्-पृथक् रूपेण देखता, सुनता, सूँघता तथा स्पर्श करता हुआ अपनी इन्द्रियों द्वारा बाह्य विषयों का ज्ञान करता है । इसी भाव को व्यक्त करते हुए ग्रन्थकार का कथन है कि;

" पश्यन् शृण्वन् तथा जिघ्रन् रसयन्नथ च स्पृशन् ।

रूपं शब्दं तथा गन्धं रसं स्पर्शं पृथक्-पृथक् ॥

नामयुक्तो विजानाति बाह्यं विषयमिन्द्रियैः ।

नामहीनो मृतः सत्त्वः कायस्तस्य विलीयते ॥ "1

7. वेदना :

शिशु की वह दशा जब पाँच, छह वर्षों के अनन्तर सुख-दुःख की भावना से परिचित होता है, वेदना कहलाती है । स्पर्श में बाह्य जगत् का ज्ञान होता है और वेदना में अन्तर्जगत् का ज्ञान जागृत होता है । दस वर्ष तक शिशु के शरीर की प्रवृत्तियाँ बढ़ती हैं, परन्तु अभी तक उसे विषय सुखों का ज्ञान नहीं होता । यह वेदना सुख, दुःख, न सुख न दुःख रूप में त्रिविधा मानी गयी हैं । ग्रन्थ-प्रणेता का कथन है कि यहाँ क्रियाएँ ही क्रियाएँ हैं, जबकि उसका कोई एक कर्ता नहीं है । यहाँ वस्तुतः वेदनाओं का ही अस्तित्व है, जबकि वेदक कोई एक नहीं है :

" कारकः कोऽपि तन्नैकः क्रिया एवात्र केवलाः ।

वेदको न तथा चैको वेदना एव वस्तुतः ॥" 2

8. तृष्णा :

वेदना के उत्पन्न होने पर इस सुख को मुझे पुनः प्राप्त करना चाहिये, इस प्रकार के निश्चय का नाम ही तृष्णा है । ग्रन्थ-प्रणेता ने तृष्णा का विस्तृत वर्णन प्रस्तुत आलोच्य ग्रन्थ में किया है जिसका वर्णन पूर्व

¹ बु.वि.का. : 70/ 7,8

² वही, 70/49

में चार आर्यसत्त्यों के सन्दर्भ में किया जा चुका है । ग्रन्थकार संसार में तृष्णा के व्यापक प्रसार को स्वीकार करते हैं :

" तृष्णयेवात्मधीर्लोके तृष्णयेवात्र कर्तृधीः ।

भोक्तृधीस्तृष्णयेवात्र सामग्रामेकधीर्यथा ॥ "1

9. उपादान :

उपादान का तात्पर्य है तृष्णा वैपुल्य अर्थात् तृष्णा का बाहुल्य । यह उपादान तीन प्रकार का होता है— कामोपादान, शीलोपादान एवं आत्मोपादान ।

10. भव :

जब प्राणी आसक्त भाव से अनेक प्रकार के अशुभ कर्मों का अनुष्ठान करता है, वह अवस्था भव कहलाती है । इन्हीं कर्मों के अनुसार प्राणी को नवीन जन्म प्राप्त होता है । इस नवजीवन का कारण, वर्तमान जीवन में सम्पादित कार्यकलाप होते हैं । भव पूर्वजन्म के संस्कार के समान ही होता है । इन दोनों में पर्याप्त सादृश्य है ।

11-12. जाति एवं जरामरण :

जाति का अर्थ है जन्म । यह अनागत जन्म में मनुष्य की दशा है, जब वह माता के गर्भ में जाता है और अपने सुकृत्यों अथवा दुष्कृत्यों के फलों को भोगने की योग्यता प्राप्त करता है ।

जरामरण अनागत जन्म में मनुष्य की वह अवस्था है, जब वह वृद्धावस्था को प्राप्त करता हुआ मृत्यु को प्राप्त हो जाता है । उत्पन्न स्कन्धों के परिपाक का नाम जरा है और उनके नाश का नाम मरण है । ग्रन्थ-प्रणेता के अनुसार हेतु-प्रत्ययों से उत्पन्न यह जन्म, स्थिति, जरा और मरण बुद्धि के द्वारा ही मापने योग्य हैं :

" प्रतीत्योत्पन्नधर्मेषु जन्मस्थितिजरालयम् ।

संस्कृतेषुधिया कालक्षणेकानेकसंमितम् ॥ "2

1 बु. वि. का. : 37/50

2 वही, 70/46

इस प्रकार प्रतीत्यसमुत्पाद का उसके निदानों सहित वर्णन करते हुए ग्रन्थकार का मन्तव्य है कि भगवान् बुद्ध ने दुःख को जन्म द्वारा उत्पन्न जानकर, जन्म को भव से, भव को उपादान से, उपादान को तृष्णा से, तृष्णा को वेदना के द्वारा, वेदना को स्पर्श के द्वारा, स्पर्श को षडायतनों के द्वारा, षडायतनों को नामरूप के द्वारा, नामरूप को विज्ञान द्वारा, विज्ञान को संस्कार द्वारा तथा कर्मरूपी संस्कारों को अविद्या द्वारा उत्पन्न हुआ जान लिया है -

" दुःखं जन्मकृतं बुद्ध्वा जन्म ज्ञात्वा भवेन सः ।

भवं विदित्वोपादानाद् उपादानं च तृष्णया ॥

तृष्णां च वेदनोत्पन्नां वेदनां स्पर्शकारिताम् ।

स्पर्शं ह्यावागमच्छाथ षडायतन संभवम् ॥

षडायतनकं बुद्ध्वा नामरूपसमुद्भवम् ।

नामरूपं च विज्ञाय विज्ञानप्रभवम् तथा ॥

विज्ञानमुदगतं ज्ञात्वा संस्कारेभ्यो व्यबुध्यत् ।

संस्कारांश्च समुद्भूतान् कर्मरूपानविद्यया ॥ "1

आगे प्रतीत्यसमुत्पाद का अनुलोम एवं प्रतिलोम विधि से ज्ञान प्राप्त करने की चर्चा है-

" स प्रतीत्यसमुत्पादं विमृशन्नादिनक्तगे ।

अनुलोम प्रतिलोमं यामे याम् उदानयत् ॥ "2

तदनन्तर उल्लेख है कि जब ध्यानस्थ मुनियों को हेतु धर्मवाले इस सिद्धान्त का ज्ञान हो जाता है तब उनके सभी संशय समाप्त हो जाते हैं :

" यदा प्रादुर्भवन्त्यत्र धर्मा वै ध्यायतो मुनेः ।

सहेतुधर्मविज्ञानात् संशयोलीयते तदा ॥

यदा प्रादुर्भवन्त्यत्र धर्मा वै ध्यायतो मुनेः ।

1 बु. वि. का. : 37/40-43

2 वही, 38/10

प्रत्ययक्षयबोधेन संशयो लीयते तदा ।।" ¹

सभी संशयों की समाप्ति पर तथागत ने अनुलोम एवं प्रतिलोम विधि द्वारा हेय एवं उपादेय तत्त्वों का अपने चित्त में सम्यक् ज्ञान प्राप्त किया । इसी गम्भीर भाव की अभिव्यक्ति अधोलिखित श्लोक से होती है -

" अस्मिन् सतीदं भवतीत्यवगम्यानुलोमतः ।

असत्यस्मिन्निदं नेति तदेव प्रतिलोमतः ।।

हेयोपादेयतत्त्वस्य सोपायस्य महामुनिः ।

विबोधं कृतवान् सम्यक् स्वचेतसि समाहिते ।।" ²

इस प्रकार प्रस्तुत निदानों में मानव जीवन के तीनों जन्मों को लेकर भव-चक्र की व्याख्या की गयी है । अविद्या तथा संस्कार में ये दोनों मानव के अतीत जीवन से सम्बद्ध है । विज्ञान से लेकर भव पर्यन्त आठ निदान मानव जीवन के वर्तमान जीवन से सम्बद्ध है । जन्म एवं जरामरण ये दोनों मानव के भावी जीवन से सम्बद्ध हैं । प्राचीन कालसे ही भारतीय चिन्तक दुःख तथा उससे मुक्ति, बन्धन तथा उससे मोक्ष के गूढ़ प्रश्नों पर चिन्तन करते रहे हैं । उन चिन्तकों के द्वारा जो विश्लेषण एवं अन्वेषण हुए हैं, वे गम्भीर एवं विद्वत्पूर्ण होते हुए भी कहीं-कहीं व्यावहारिक, सारगर्भित एवं मनोवैज्ञानिक नहीं हो पाये हैं किन्तु इस सिद्धान्त के द्वारा दुःख और उससे मुक्ति के प्रश्न का समाधान व्यावहारिक एवं सुगम बना दिया गया है ।

(ख) अनित्यता :

बौद्ध दर्शन की आधार भित्ति 'अनित्य, अनात्म एवं दुःख' त्रिलक्षण में अनित्यता का प्रमुख स्थान है । संसार में कोई भी वस्तु इस त्रिलक्षण से अछूती नहीं है । 'अनिच्चा वत संखारा- सभी संस्कार अनित्य हैं' यह उपदेश भगवान् तथागत द्वारा अपने शिष्यों को दिया गया है । अंगुत्तरनिकाय में बुद्ध का कथन है

¹ बु.वि.का. : 38/11-12

² वही, 38/30-31

कि संसार के सभी पदार्थ अनित्य, दुःख एवं परिवर्तनशील है—

" सब्बे भवा अनिच्चा दुक्खा विपरिणामधम्मा ।"¹

इसके अतिरिक्त भगवान् ने इस जीवन को पानी के बुलबुले एवं मृगमरीचिका के समान सारहीन एवं नश्वर माना है । वे अनित्यता का स्मरण करते हुये कहते हैं :

" यथा बुब्बुलकं पस्से यथा पस्से मरीचिकं ।

एवं लोकं अवेस्खन्तं मच्चुराजा न पस्सति ॥ "²

बुद्ध के अनुसार यह संसार धू-धू कर जलने वाला है, यहाँ कहीं हास, उपहास और कहीं आनन्द ? अर्थात् इस संसार में सर्वत्र दुःख ही दुःख है । इसलिए इस नश्वर संसार में बुद्ध का उपदेश है कि प्रदीप की खोज करे —

" कौनु हासो किमानन्दो निच्चं पज्जलिते सति ।

अन्धकारेण ओनद्धा पदीपं न गक्खेस्सथ ॥ "³

मानव जीवन की उपमा कुम्भकार निर्मित मिट्टी के अनित्य बर्तनों से देते हुए वे कहते हैं कि—

" यथापि कुम्भकारस्स कता मत्तिक भाजना ।

सब्बे भेदन परियन्ता एवं मच्चान जीवितं ॥ "⁴

कुशीनगर में महापरिनिर्वाण के समय बुद्ध का भिक्षुओं को अन्तिम उपदेश भी सभी वस्तुओं की अनित्यता की ओर संकेत करता है । दीघनिकाय के महापरिनिर्वाण सुत्त में बुद्ध का कथन है कि—

" व्ययधम्मा सङ्खारा अप्पमादेन सम्पादेथा ॥ "⁵

¹ अंगु. नि.-ना.सं.-भा.-2, पृ. 188

² ध.प.-गा. /170

³ वही, गा. / 146

⁴ सु.नि.-स.सु., गा.4 पृ. 156

⁵ दी.नि.-ना.सं.-भा.-2, पृ. 119

आलोच्य ग्रन्थ में ग्रन्थ-प्रणेता अनित्यता का वर्णन करते हुये कहते हैं कि जो वस्तु नष्ट हो गयी है, वह पुनः उत्पन्न नहीं होगी और उत्पन्न निश्चित रूप से नष्ट हो जाती है । इसलिए इस संसार में जो सुख है उसी के लिए ही प्रयत्न करना बुद्धिमानी है । संसार में एक के साथ वियोग तथा दूसरे के साथ संयोग होता है । चतुर्भूतमय अनित्य शरीर को आश्रित कर आत्मा चतुर्भूतमय होकर उन-उन स्थानों पर प्रवर्तित होता रहता है । जब तक व्यक्ति को यह ज्ञान नहीं होता कि सभी संस्कार अनित्य हैं, तब तक भयरहित वैराग्य का बोध नहीं हो सकता । ¹ संसार में जिसका समुदय है उसका निरोध निश्चित ही है । संसार के उदय एवं व्यय का सिद्धान्त स्पष्ट ही है :

" लोके समुदयो यस्य निरोधस्तस्य निश्चितः ।

उदयव्ययवानस्य संसारः प्रकटोभवत् ।। "2

परिणामशील होने से यहाँ सभी कुछ अनित्य एवं असार होने से शून्य है । वशवर्ती न होने के कारण यह अनीश्वर है । आलोच्य-ग्रन्थ में कथन है कि प्राणियों की संसार के प्रति तो रति है परन्तु अनित्यता को जानते हुए भी उसमें वैराग्य के प्रति रति का सर्वथा अभाव है । पृथिवी पर तथागत उत्पन्न हों अथवा नहीं, यह सम्पूर्ण संसार अनित्य है एवं दुःख निकेतन है । ³ उत्पन्न हुआ कोई भी प्राणी अमर्त्य नहीं है, उत्पन्न हुए व्यक्ति की मृत्यु अवश्यम्भावी है :

"अमर्त्यः कोऽपि नास्त्येव जायमानः कथंचन ।

जातस्य नियतो मृत्युरिति दध्यौ सदैव सा ।। "4

आगे उनका कथन है कि इस संसार में उत्पत्ति एवं विनाश से अनभिज्ञ मनुष्यों के जीवन के सौ वर्ष भी व्यर्थ हैं, जबकि उत्पत्ति एवं विनाश के सिद्धान्त से अभिज्ञ मनुष्यों का एक दिन भी श्रेयस्कर

¹ बु.वि.का. : 37/21-23

² वही, 42/2

³ वही, 49/18, 54/31 , 82/16

⁴ वही, 83/4

है :

" अपश्यतां वृथा वर्षशतमत्रोदयव्ययम् ।

अहरेकमपि रेयः पश्यतामुदयव्ययम् ॥ "1

आगे ग्रन्थकार अनित्यता की विशद व्याख्या करते हुये कहता है कि यहाँ कोई एक कुल, ग्राम, नगर ही नहीं अपितु सकल संसार ही अनित्य है । संसार में पुण्यवानों का यश ही चिरकाल तक स्थायी रहता है अन्य सभी कुछ उत्पन्न हो-होकर शीघ्र ही नष्ट हो जाता है । मनुष्य परीक्षा के द्वारा सभी संस्कारों को अनित्य तथा दुःखमय देखता हुआ सभी तत्त्वों को अनात्म समझकर उनके प्रति अनासक्त हो जाता है ।² महापरिनिर्वाण के समय शिष्यों को दिये गये बुद्ध के उपेदश को संस्कृत भाषा में श्लोकबद्ध करते हुए कहते हैं कि, "हे शिष्यो, अप्रमादी होकर साधना करो क्योंकि सभी पदार्थ व्ययधर्मा हैं -

" समवेतानथोवाच शिष्यान् सर्वान् महावने ।

व्ययधर्मा हि संस्काराः साध्यताप्रमादतः ॥ "3

(ग) अनात्मवाद एवं पञ्चस्कन्ध :

अनात्मवाद बौद्ध दर्शन का प्रमुख एवं आधारभूत सिद्धान्त है । सभी आस्तिक दर्शनों ने आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार किया है । आत्मवाद के आधार पर ये पुनर्जन्म को भी मानते हैं परन्तु बौद्ध धर्म आत्मा की सत्ता को स्वीकार न करते हुये भी पुनर्जन्म को मानता है । यह इस दर्शन का अन्य दर्शनों से वैशिष्ट्य है बौद्ध दर्शन में ' अनात्म ' शब्द का तात्पर्य केवल आत्मा का ही अभाव नहीं है, अपितु सभी वस्तुओं की सत्ता का अभाव है । तथागत ने आत्मवाद का प्रतिपादन आध्यात्मिक जीवन में सहायता देने के लिए किया था । अनात्मवाद के द्वारा उन्होंने जीवन में उस आदर्श की प्रतिष्ठा की जिसमें राग के कारण संकट नहीं है

¹ बु. वि. का. 90/15

² वही, 90/16, 92/44, 98/37

³ वही, 99/25

तथा द्वेष एवं मोह के कारण संघर्ष नहीं है । पुद्गल नैरात्म्य एवं सत्कायदृष्टि भी अनात्मवाद के ही पर्याय हैं ।

बुद्ध के 'सर्वम् अनात्म' की सम्पुष्टि के सन्दर्भ में भगवान् बुद्ध एवं वच्छगोत्र के संवाद को यहाँ उद्धृत करना उचित ही होगा । इस संवाद में भगवान् तथागत से आत्मा के विषय में वच्छगोत्र उनके विचार जानने की जिज्ञासा प्रकट करता है । इस पर तथागत मौन रहे । उसने पुनः पुनः इस प्रश्न को दुहराया, तब भी तथागत मौन रहे । अपने प्रश्न का उत्तर न पाकर वच्छगोत्र वहाँ से चला गया । वच्छगोत्र के चले जाने पर आनन्द ने भगवान् से प्रस्तुत प्रश्न के उत्तर में मौनधारण का कारण पूछा । इस पर तथागत ने आनन्द को समझाते हुये कहा कि, " यदि मैं आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार करता तो मैं श्रमणों एवं ब्राह्मणों में प्रचलित आत्मा का समर्थन करता और यदि मैं उसका विरोध करता तो भी उनके निर्वाण के सिद्धांत का समर्थन करता । अतः इस विषय में शान्त रहना ही मैंने श्रेयस्कर समझा ।

मिलिन्द प्रश्न में आचार्य नागसेन ने इसी अनात्मवाद का प्रतिपादन अत्यन्त सुन्दर ढंग से किया है । राजा मिलिन्द नागसेन से पूछते हैं कि 'आपका क्या नाम है ? ' आचार्य उत्तर देते हैं 'नागसेन' । तब राजा पुनः प्रश्न करते हैं कि क्या केश, नख, दन्त, त्वक्, मांस, शरीर एवं पञ्चस्कन्ध पृथक्-पृथक् नागसेन हैं ? नागसेन उत्तर देते हैं कि, ' नहीं, महाराज इनमें से कोई भी नागसेन नहीं है । ' तदनन्तर राजा पूछते हैं कि, " क्या पञ्चस्कन्धों के अतिरिक्त कोई अन्य वस्तु नागसेन है ? " तब नागसेन फिर नकारात्मक उत्तर देते हैं । तब राजा प्रश्न करते हैं कि, " फिर नागसेन क्या है ? " इस पर आचार्य नागसेन राजा मिलिन्द से प्रश्न करते हैं कि, " आप यहाँ पैदल आए हैं । " राजा उत्तर देते हैं कि, " मैं रथ पर आया हूँ । " इस पर नागसेन उनसे प्रश्न करते हैं कि ' ये रथ क्या है ? क्या रथ के बाँस, धुरा, पहिये, रस्सी, जुआ, पहियों के डण्डे लाठी ये सभी पृथक्-पृथक् रथ हैं । " राजा उत्तर देते हैं, " नहीं ये रथ नहीं है । " तदनन्तर नागसेन प्रश्न करते हैं कि, 'क्या रथ इनसे भिन्न कोई वस्तु है ? " राजा उत्तर देते हैं 'नहीं' ।

¹ म. नि. : ना. सं., भा. -2, पृ. 176-183

इस पर नागसेन राजा मिलिन्द को समझाते हुये कहते हैं कि जिस प्रकार रथ के बाँस, पहिए, रथ का ढाँचा, लकड़ी, धुरी आदि सभी अंगों पर रथ का अस्तित्व निर्भर है और 'रथ' शब्द केवल व्यवहार मात्र के लिए है उसी प्रकार पञ्चस्कन्धों पर मेरा अस्तित्व निर्भर है । 'नागसेन' शब्द केवल व्यवहारमात्र है । परमार्थ रूप से व्यक्ति की उपलब्धि नहीं होती ।¹

इस प्रकार आचार्य नागसेन की अनात्मवाद की यह व्याख्या अत्यन्त महत्वपूर्ण है ।

आलोच्य ग्रन्थ में भी ग्रन्थकार ने आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार नहीं किया है । उनका भिक्षु कौण्डिन्य के प्रति कथन है कि संसार में आत्मा का जो व्यवहार होता है उसके आश्रय पञ्चस्कन्ध हैं । यह आत्मा व्यवहार में सिद्ध होते हुए भी परमार्थ में असिद्ध है । वे रूप को आत्मा स्वीकार नहीं करते हैं । इसीभाव को व्यक्त करते हुए वे कहते हैं—

"आत्मोपचारो यो लोके पञ्चस्कन्धसमाश्रयः ।

व्यवहारप्रसिद्धोऽपि न सिद्धः परमार्थतः ॥

नात्मा रूपं तदात्मा चेद् भवेदाज्ञापरायणम् ।

एवं भवेति प्रोक्तं तत् तथैव स्याद संशयम् ॥"²

आगे रूप आत्मा नहीं है । इसके समर्थन में उनका कथन है कि रूप पीड़ादायक है, परिवर्तनशील रूप की अनित्यता जगत् प्रसिद्ध है, वह उदय एवं व्यय धर्म वाला है, इसलिए उसमें किसी सुख की आशंका करना व्यर्थ है ।³ रूप को आत्मा समझने वाले को मूढ़ की संज्ञा देते हुए दुःख का पात्र माना है—

"रूपे न कस्याप्यैश्वर्यबाधकं परिणामी तत् ।

यस्य तत्रात्मबुद्धिः स्यात् स मूढो दुःखभाजनम् ॥"⁴

¹ मि.प्र. : ल.प., पृ. 31-36

² बु.वि.का. 43/5-6

³ वही, 43/8-9

⁴ वही, 43/10

ग्रन्थकार के अनुसार चित्त भी आत्मा नहीं है क्योंकि चित्त अपने धर्मों सहित क्षण भर में ही अन्य प्रकार का हो जाता है । चित्त के ऊपर जिसका प्रभुत्व है उसे ही वे परमेश्वर मानते हैं ।¹ सधर्मक चित्त को आत्मा समझने वाले प्राणी सदा दुर्गति को प्राप्त होते हैं -

"चित्तं सधर्मकं ह्यात्मेत्याश्रित्य वहवो जनाः ।

चित्तस्य वशमापन्ना नित्यमत्यन्तदुःस्थिताः ।।"²

आगे वे कहते हैं कि वेदना, संज्ञा, संस्कार तथा चित्त इनमें से कोई भी आत्मा नहीं है । प्राणी इन स्कन्धों का आश्रय लेकर ही आत्मा का व्यवहार करते हैं परन्तु परमार्थ में आत्मा नहीं है ।³ आत्मा तथा आत्मीयता के भाव से विहीन प्राणी संसार से मुक्त हो जाता है तथा स्वयं मुक्त होकर वह अन्य प्राणियों को भी दुःख से मुक्त करने का प्रयत्न करता है ।

"आत्मात्मीय प्रपंचेन रहितस्य न विद्यते ।

संयोजनं किमप्यत्र संसारेण सुमेधसः ।।

क्षीणसंयोजना मुक्ता अपि नोदासते जनाः ।

दिशन्ति मुक्तये मार्गं परं दुःखमुमुक्षवः ।।"⁴

ग्रन्थ प्रणेता ने जहाँ आत्मभाव से रहित प्राणियों को दुःख से मुक्त माना है वहीं दूसरी ओर उनका कथन है कि तथागत स्वयं 'सर्वमेतद्नात्मकम्'⁵ ऐसा ध्यान किया करते थे । वेदान्त दर्शन में श्रवण, मनन एवं निदिध्यासन को ब्रह्म की प्राप्ति का साधन माना गया है वहीं बुद्ध के लिए यह अनात्म ही श्रवण, मनन एवं

¹ बु.वि.का. : 43/14

² वही, 43/15

³ वही : 43/16-17

⁴ वही. 43/31-32

⁵ वही, 79/24

निदिध्यासन का विषय था ।

अतः बुद्ध के मतानुसार ' आत्मा अनित्य है ' । तथागत के इस नियम को मानने पर यह प्रश्न उपस्थित होता है कि जब आत्मा परिवर्तनशील है तो इस आत्मा से पुर्नजन्म कैसे सम्भव है ? इसका उत्तर है कि पुर्नजन्म एक आत्मा का दूसरे शरीर में प्रवेश करना नहीं है अपितु विज्ञानप्रवाह की अविच्छिन्नता है । जिस प्रकार एक दीपक से दूसरे दीपक को जलाया जा सकता है, उसी प्रकार वर्तमान जीवन की अन्तिम अवस्था से भविष्य जन्म की प्रथम अवस्था का विकास सम्भव है । अतः नित्य आत्मा के बिना भी बुद्ध पुनर्जन्म की व्याख्या करने में सफल हो जाते हैं । बुद्ध आत्मा को विज्ञान का प्रवाह स्वीकार करते हैं तथा पञ्चस्कन्धों का संघात मात्र मानते हैं । जिस प्रकार नदी में जल की बूँदे निरन्तर परिवर्तित होती रहती हैं, फिर भी उसमें एकमयता बनी रहती है । उसीप्रकार आत्मा के विज्ञान के निरन्तर बदलते रहने पर भी उसमें एकमयता बनी रहती है ।

इस प्रकार अनात्मवादी बौद्ध-धर्म आत्मा की सत्ता को स्वीकार न करते हुये मानसिक वृत्तियों की स्थिति को स्वीकार करते हैं । भगवान् बुद्ध आत्मा को पञ्चस्कन्धों का संघात मात्र मानते हैं । स्कन्ध का तात्पर्य है समुदाय । ये हैं— रूप विज्ञान, वेदना, संज्ञा एवं संस्कार । पुद्गल अर्थात् जीव इन पञ्चस्कन्धों का संघात मात्र है । जीव नाम एवं रूप का ही समुच्चय है । नाम का तात्पर्य है 'मानसिक वृत्तियाँ' एवं रूप शरीर के भौतिक भाग की ओर संकेत करता है । मानसिक वृत्तियों पर तथा रूप पर ही जीव की स्थिति होती है । 'नाम' के अन्तर्गत वेदना, संज्ञा, संस्कार तथा विज्ञान नामक चार मानसिक वृत्तियाँ संगणित है । आलोच्य ग्रंथ में ग्रन्थकार इसी भाव को व्यक्त करते हुए कहते हैं कि नाम रूप पर आश्रित है और काय सत्त्व का पृथक्-पृथक् दिखलाई देने वाला रूप है । संसार में बिना काय के नाम की स्थिति का अनुभव सम्भव नहीं है । नाम का संयोग न होने पर इस काय का कोई ¹ महत्त्व नहीं है । नाम के बिना रूप की काय रूपिणी स्थिति भी कहीं नहीं देखी गयी है—

" पूतिभावमुपैतीह कायो नामवियोगतः ।

विना नाम्ना न रूपस्य कायरूपा स्थितिः क्वचित् ।। "²

¹ बु. वि. का. : 70/2- 3

² वही 70/

आगे उनका कथन है कि न रूप एक है और न नाम एक है ये तो केवल धर्म ही है । इन धर्मों की पाँच राशियों को ही पञ्चस्कन्ध समझना चाहिए -

" रूपं नैकं न नामैकं धर्मा एवं हि केवलाः ।

स्कन्धास्ते पञ्च विज्ञेया धर्माणांपञ्च राशयः ।" ¹

इन पञ्चस्कन्धों का विवरण निम्न है :

1. रूप स्कन्ध :

मनुष्य का भौतिक शरीर ही रूप नाम से व्यवहृत होता है । रूप शब्द की व्युत्पत्ति दो प्रकार से होती है । प्रथम, 'रूप्यन्ते एभिर्विषयाः' अर्थात् इन्द्रियाँ जिनके द्वारा विषयों का निरूपण किया जाए । द्वितीय, 'रूप्यन्ते एभिर्विषयाः' इस व्युत्पत्ति के अनुसार, " रूप विषयों से युक्त इन्द्रियों तथा शरीर का वाचक है । " आलोच्य ग्रन्थ में रूप को परिभाषित करते हुए ग्रन्थकार का अभिकथन है कि क्रियाओं के भेद तथा गुणों के सम्बन्ध वाला रूप निश्चय ही रूप स्कन्ध है -

" रूपमेकं न विज्ञेयं तस्यैवं विचयः कृतः ।

रूपस्कन्धो हि रूपं नु क्रियाभेदगुणान्वयम् ।।" ²

आगे वे रूप स्कन्ध की चर्चा करते हुए कहते हैं कि पृथिवी, जल, तेज तथा वायु के रूप में चतुर्विध यह रूप बाहर से स्निग्ध, उष्ण तथा कम्पन स्वभाव वाला ही प्रतीत होता है । काय के अन्तर्गत जो रूप है, वह प्राणियों की चक्षु, घ्राण, श्रोत्र, जिह्वा तथा काय नाम की इन्द्रियाँ ही हैं । ³ आगे वे कहते हैं कि रूप स्कन्ध चतुर्भूतमय है तथा मन्दगति वाला है जबकि नाम के अन्तर्गत संगणित स्कन्ध तीव्र गति वाले हैं -

" चतुर्भूतमयो रूपस्कन्धोऽक्षिप्रप्रवर्तनः ।

विज्ञानवेदना संज्ञास्कन्धाः क्षिप्रप्रवर्तनाः ।।" ⁴

¹ बु.वि.का. : 70/43

² वही, 70/9

³ वही, 70/4,6

⁴ वही, 70/44

2. विज्ञान :

' अहं भाव ' एवं इन्द्रियजनित रूप, रस आदि विषयों का ज्ञान इसी विज्ञान स्कन्ध के द्वारा होता है । इस स्कन्ध के द्वारा (बाह्य तथा आभ्यन्तर) दोनों ज्ञानों का ग्रहण होता है । विज्ञान स्कन्ध की चर्चा करते हुए ग्रन्थकार का कथन है कि विज्ञान ही चेतना धर्म युक्त होता है और स्पर्श में आये हुये धर्मों में व्याप्त होकर उनका ज्ञान कराता है । वह वेदना शक्ति से सम्पन्न होकर निरन्तर प्रवृत्त होता रहता है तथा अन्य विषयों के साथ निरन्तर परिणाम को प्राप्त होता रहता है ।¹ पृथक्-पृथक् रूप, शब्द, गन्ध, रस एवं स्पर्श तथा आध्यात्म में स्थित कुशल-अकुशल, कुशल-अकुशल रहित अव्याकृत धर्म, चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा, काय तथा मन इन बारह के प्रत्यय से ही विज्ञान उत्पन्न होता है—

" रूपं शब्दस्तथा गन्धो रसः स्पर्शः पृथक्-पृथक् ।

धर्माःस्थिता तथाध्यात्मं कुशलाकुशलद्वयाः ।।

चक्षुः श्रोत्रं तथा घ्राणा जिह्वा कायो मनस्तथा ।

प्रतीत्य द्वादशैतानि विज्ञानमुपजायते ।। "2

आगे उनका अभिकथन है कि यहाँ विज्ञाता का सर्वथा अभाव है, यहाँ सर्वत्र विज्ञान ही विज्ञान है । यहाँ कर्ता, वेदिता तथा ज्ञाता का व्यवहार मोह तथा राग का ही कारण है—

" विज्ञाता कोऽपि नैवात्र विज्ञानान्येव सर्वथा ।

मोहरागोद्भवा कर्तृवेदितृज्ञातृसंवृतिः ।। "3

3. वेदना :

बाह्य वस्तु का ज्ञान हो जाने पर उसके संसर्ग का चित्त पर जो प्रभाव पड़ता है, वही वेदना है । यह सुख, दुःख एवं न सुख न दुःख रूप से त्रिविधा है । प्रिय वस्तु के स्पर्श से सुख, अप्रिय के स्पर्श से

¹ बु. वि. का. : 70/11-12

² वही, 70/37-38

³ वही, 70/50

से दुःख तथा प्रिय से भिन्न वस्तु के स्पर्श से न सुख न दुःख की जो अवस्था है, वही वेदना स्कन्ध है ।
आलोच्य ग्रन्थ में ग्रन्थ-प्रणेता वेदना को परिभाषित करते हुये कहते हैं कि जिससे अनुभव हो, वही वेदना है-

" वेदनाऽनुभवत्मिका " ¹

ग्रन्थकार की यह भी मान्यता है कि वेदनाओं की संसार में सर्वत्र व्यापकता है, जबकि वेदक का सर्वथा अभाव है । इसी तथ्य को अधोलिखित श्लोक में दर्शाया गया है-

" वेद्यते सकलं लोके द्वादशयतनाश्रयात् ।

न कोऽपि वेदकः किं तु क्वचिदप्युपभ्यते ।।" ²

4. संज्ञा :

इस सुख दुःखात्मक वेदना के आधार पर प्राणी उन वस्तुओं के यथार्थ को जानने में समर्थ होते हैं और उनके गुणानुसार ही उनका नामकरण करते हैं । इसी को संज्ञा-स्कन्ध कहा जाता है । 'संज्ञा-स्कन्ध' के विषय में उनका कथन है कि वस्तु के स्वरूप को ग्रहण कराने के कारण ही उसे संज्ञा कहा गया है-

" निमित्तग्राहिणी संज्ञा " ³

यह स्कन्ध तीव्र गति वाला है । इसकी चर्चा रूप स्कन्ध के अन्तर्गत प्रस्तुत अध्याय में की जा चुकी है ।

5. संस्कार :

अनेक मानसिक वृत्तियों को संस्कार स्कन्ध में समाविष्ट किया गया है किन्तु राग एवं द्वेष ही प्रमुख हैं । वस्तु का संज्ञा द्वारा ज्ञान होने पर उसके प्रति आकांक्षा अथवा द्वेष का उदय हो जाता है । रागादि क्लेश

¹ बु. वि. का. 70/18

² वही, 70/40

³ वही, 70/18

मद, मानादि उपक्लेश तथा धर्म-अधर्म आदि को इसी स्कन्ध के अन्तर्गत ही स्वीकार किया गया है ।
आलोच्य ग्रन्थ में ग्रन्थकार ने सभी चैतसिक धर्मों का अन्तर्भाव संस्कार स्कन्ध में माना है -

" प्रवर्तमानः संस्कारस्कन्धो धर्माः परेऽखिलाः ।

अन्तर्भवन्ति धर्मेषु चैताश् चित्तप्रवृत्तयः ॥ "1

इस प्रकार भगवान् बुद्ध ने पञ्चस्कन्धों को दुःख माना है, जिसका संकेत उनके प्रथम उपदेश में ही मिल जाता है :

" संखित्तेन पञ्चुपादानखन्धा दुक्खा ।"2

इसके अतिरिक्त उन्होंने धम्मपद में किसी कुलकन्या को उपदेश देते हुये कहा कि पञ्चस्कन्ध के समान कोई भी दुःख नहीं है-

" नत्थि रागसमो अग्नि, नत्थि दोससमो कलि ।

नत्थि खन्धसमा दुक्खा नत्थि सन्ति परं सुखं ॥ "3

आलोच्य ग्रन्थ के प्रणेता ने जहाँ पञ्चस्कन्धों को दुःख माना है, वहीं उन्होंने पञ्चस्कन्धों पर ही लोक के अस्तित्व होने की चर्चा की है । ये पञ्चस्कन्ध तृष्णा को उत्पन्न करने वाले हैं । ग्रन्थकार ने इसी तथ्य को स्वीकार करते हुये इनसे मुक्त प्राणी को ही वास्तव में मुक्ति प्राप्ति करने वाला माना है -

" पञ्चस्कन्धमयो लोकः पञ्चस्कन्धाश्रयांतृषम् ।

नित्यं तर्पयितुं बद्धस्तत्रातृष्णो विमुच्यते ॥ "4

1 बु.वि.का. : 70/45

2 महा., पृ. 13

3 ध.प.गा., 202

4 बु.वि.का., 12/5

निर्वाण

भारतीय दर्शन परम्परा का अन्तिम लक्ष्य मोक्ष अथवा निर्वाण की प्राप्ति है । तथागत की सम्पूर्ण शिक्षाओं का भी एकमात्र उद्देश्य निर्वाण का अधिगम ही है । सम्पूर्ण बौद्ध दर्शन की शिक्षाओं का सार प्राणियों को निर्वाण की ओर उन्मुख करना है । वैदिक और श्रमण, बौद्ध और जैन, शैव एवं वैष्णव आदि सभी सम्प्रदायों की साधनाएँ एक अखण्ड आध्यात्मिक सत्य की ओर अग्रसर करती हैं । यद्यपि साधनाएँ भिन्न-भिन्न हैं किन्तु लक्ष्य के विषय में सर्वत्र मतेक्य दिखाई देता है । महाभारत, गीता तथा उत्तरकालीन साहित्य में भी ब्रह्मनिर्वाण¹ जैसे शब्दों का प्रयोग मिलता है । बौद्ध धर्म में भी निर्वाण को अन्तिम लक्ष्य के रूप में स्वीकार किया गया है । यह बुद्ध के धर्म-विनय का सार है । भगवान् बुद्ध ने जहाँ कहीं भी, जब कहीं भी, जो कुछ कहा है, वे समस्त उपदेश निर्वाण की ओर झुके हुए हैं, वे निर्वाणोन्मुख, निर्वाण-प्रवर एवं निर्वाण परायण हैं । जिस प्रकार विभिन्न नदियाँ, विभिन्न दिशाओं में प्रवाहित होती हुई अन्त में सागर में अन्तर्भूत हो जाती हैं, उसी प्रकार भगवान् तथागत की सभी देशनाएँ निर्वाण में ही जाकर पर्यवसित हो जाती हैं ।² भगवान् तथागत ने इसके महत्त्व पर प्रकाश डालते हुये कहा है कि, " जिस प्रकार महासमुद्र का एक लवण रस होता है उसी प्रकार समस्त धर्म-विनय का एक ही रस है, जिसे विमुक्ति रस कहा जाता है ।

" सेय्यथापि भिक्खवे महासमुद्दो एकरसो लोणरसो, एवमेव खो

भिक्खवे अयं धम्मविनयो एक रसो विमुक्ति रसो ।। "³

इस प्रकार बौद्ध परम्परा के अनुसार मानव जीवन की श्रेष्ठतम उपलब्धि निर्वाण की प्राप्ति है । तथागत स्वयं निर्वाण प्राप्ति के अनन्तर चारिका करते रहे । निर्वाण शब्द की अनेक व्युत्पत्तियों की गई हैं -

- 1- निर्वाण शब्द की व्युत्पत्ति 'नि' उपसर्गपूर्वक 'वान' धातु से हुई । जिसमें 'नि' निषेध अर्थ का द्योतक है तथा 'वान' का तात्पर्य है 'तृष्णा' । 'तृष्णा' का निषेध ही निर्वाण है ।

¹ श्रीमद्. : 2/72, 5/24-26

² खु. नि. - उदा. - ना. सं., पृ. 27

³ वही, पृ. 28

- (2) 'वान' का तात्पर्य है - 'बुनना' जैसे जुलाहा तन्तुओं का ताना-बाना बुनकर वस्त्र बनाता है ।
उसी प्रकार 'वान'- तृष्णा नामक धर्म भी वर्तमान प्रत्युत्पन्न भव का अनागत भव से संयोग कराता है ।
- (3) 'वान' का अर्थ 'वन' भी किया गया है । यहाँ 'वन' सघन जंगल के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है । पञ्च स्कन्ध रूपी सघन जंगल से निकलना ही निर्वाण है ।
- (4) 'नि' उपसर्ग पूर्वक 'वा' धातु से 'निर्वाण' की व्युत्पत्ति बताई गई है । इसमें 'वा' का अर्थ है- 'प्रज्ज्वलित' होना । 'निब्बान' प्रज्ज्वलित होने के निरोध का द्योतक है । इसलिए अविद्या रूपी प्रज्वलित दीप के बुझ जाने को ही निर्वाण कहा जाता है । यथा- 'निब्बन्ति धीरा यथायं पदीपो'¹
पदीप्ससेव निब्बानविमोक्खो अहु चेतसो '² ।
- (5) कुछ विद्वानों ने निर्वाण शब्द को 'निर्' उपसर्ग पूर्वक 'वा' धातु में 'क्त' प्रत्यय से निष्पन्न माना है जिसका तात्पर्य है 'बुझना' । क्योंकि निर्वाण में तृष्णा रूपी अग्नि बुझ जाती है ।
- (6) 'निर्वाण' शब्द की व्युत्पत्ति 'नि' और 'वाण' से भी देखी जा सकती है । यहाँ 'वाण' का तात्पर्य 'शल्य' से है । 'सुत्तनिपात' में सुत्तसत्त से प्रकट होता है कि राग, द्वेष, मोह, मान, मिथ्या, दृष्टि आदि विभिन्न प्रकार के शल्य-प्रकृत प्रभस्वर चित्त को भेदकर मलिन बना देते हैं । वह मलिन चित्त दुःख का आह्वान करता है ।³

तथागत ने निर्वाण के स्वरूप को त्रिपिटक में यत्र-तत्र व्यक्त करते हुये उसे परम सुख स्वीकार किया है । यथा-

'निब्बानं परमं सुखं', 'निब्बानं सुखा परं नत्थि' 'सच्छाकासिं पदं शिवं,' नत्थि सन्ति परं सुखं,' करणीय अत्थ कुसलेन यं तं सन्तं पदं अभिसमेच्च ।"⁴

¹ खु.नि. - खु.पा.-ना.सं., पृ. 8

² खु.नि.-थेरी.: गा. 116

³ सु.नि. :स.सु., पृ. 156-158

⁴ ध.प. : गा. 204, थेरी.गा., 478, ध.प.गा.-202, सु.नि.-मे.सु.गा.1

इस निर्वाण रूपी अन्तिम लक्ष्य की प्राप्ति के लिए बुद्ध ने साधना पथ के तीन आनुक्रमिक चरण-शील, समाधि एवं प्रज्ञा का निर्देश किया है, जिसकी चर्चा पञ्चम अध्याय में की जायेगी। निर्वाण की प्राप्ति होने पर सम्पूर्ण दुःख की परिसमाप्ति हो जाती है। मिलिन्द प्रश्न में राजा मिलिन्द भदन्त नागसेन से उसकी प्रव्रज्या का कारण पूछते हैं। भदन्त नागसेन राजा के प्रश्न का उत्तर देते हुये कहते हैं कि "वर्तमान दुःखों की परिसमाप्ति एवं अनागत में दुःखों के न प्राप्त करने के लिए ही मेरी यह प्रव्रज्या है।"

आलोच्य ग्रन्थ में भी निर्वाण के लिए 'योगक्षेमं हि निर्वाणं,' 'अमृतं, परमं सौख्यं' आदि विशेषणों का प्रयोग किया गया है।¹ त्रिपिटक में विभिन्न स्थलों में पर्यायभेद से निर्वाण की सुन्दर चर्चा की गयी है। उसके विभिन्न पक्षों के उद्भासन से उसके भावरूप, अभावरूप, अनिर्वचनीय रूप प्रकट होते हैं।

भावरूप निर्वाण :

दार्शनिक निर्वाण को भले ही निषेधात्मक स्वीकार करें परन्तु पालिसाहित्य एवं परवर्ती बौद्ध साहित्य में निर्वाण का स्वरूप निषेधात्मक या अभावात्मक नहीं है। निर्वाण सुख है, निर्वाण शान्ति है। निर्वाण का कथन करते हुए पिटक साहित्य में उसे 'निब्बानं परमं पदं,' 'निब्बानं परमं सुखं, निब्बानं अभयपदं, निब्बानं सन्तं पदं' आदि विशेषणों से सम्बोधित किया गया है तथा एक परम सुख पद अवस्था के रूप में उसका कथन किया गया है। अष्टाङ्गिक मार्ग का अनुसरण करते हुए तृष्णा-क्षय होने पर ही अमृतपद² की प्राप्ति होती है। इसे ही बौद्ध परम सुख, परमानन्द और परमशान्ति कहते हैं। इसलिए निर्वाण को भावरूप कहा गया है।

प्रस्तुत आलोच्य ग्रन्थ में भावरूप निर्वाण का वर्णन करते हुए ग्रन्थकार का कथन है कि निर्वाण ही योग-क्षेम है क्योंकि इससे वितृष्णा उत्पन्न होती है और तृष्णा के उच्छेद से ही साधक योग-क्षेमी भी होता है—

"योगक्षेमं हि निर्वाणं तद् वितृष्णस्य जायते।

तृष्णावियोगतो योगक्षेमी भवति योगतः ।।"³

¹ बु.वि.का. : 43/49, 59/49, 62/13,

² खु.नि.-थेर.-ना.सं.-गा., 900, पृ. 365

³ बु.वि.का. : 45/22

आगे उनका अभिकथन है कि तृष्णा के क्षय द्वारा ही मोक्ष प्राप्त हो जाता है । सभी धर्मों को जानकर मनुष्य जो सुख-दुःख का अनुभव करता है तथा असुख-अदुःख का अनुभव करता है, उससे ही वह बन्धन मुक्त होता है । अनित्य वेदनाओं के उपादान से रहित संयमी व्यक्ति वैराग्य की चरम सीमा पर पहुँचने से मोक्षलाभी होता है । दीर्घनख नामक ब्राह्मण को उपदेश देते हुए तथागत कहते हैं कि संसार में सुख के कारण ही यह संसार बन्धन युक्त है । दुःख एवं अनित्यता के होते हुए भी प्राणियों की वैराग्य में रति नहीं है ।¹ संसार में उपादान रहित चित्त वाले व्यक्ति का परम वैराग्य के द्वारा वेदनाओं के पाशरूपी बन्धनों से मोक्ष हो जाता है—

" वेदनापाशबद्धस्य विमुक्तिरूपजायते ।

विरागेण परेणात्र निरूपादानचेतसः ।। "2

तदनन्तर उनका अभिकथन है कि जब साधक तृष्णा का परित्याग कर देता है तब वह आत्मा एवं अनात्मा से रहित, सभी क्लेशों से रहित अमृत पद को प्राप्त कर लेता है ।³ संसार में बुद्ध के शासन में मन्त्रों से विहीन परिशुद्ध मन वालों को ही मोक्ष की प्राप्ति ग्रन्थकार ने बताई है—

" बुद्धशासनमागम्य विशुद्धमनसामिह ।

विमुक्तेः परमं सौख्यं स्वस्ति सत्येन तेन वः ।। "4

अभाव रूप निर्वाण :

निर्वाण का शाब्दिक अर्थ 'निब्बापेति' है जिसका तात्पर्य है बुझना, विनाश अथवा अभाव । अभाव रूप निर्वाण प्रदीपवत् बुझ जाने के समान है । यह प्रज्ज्वलित अग्नि की बुझी हुई अवस्था के समान है— आदि पद निर्वाण को अभावात्मक स्वीकार करते हैं ।⁵ 'अग्निवच्छगोत्त सुत्त' में तथागत वच्छगोत्त से प्रश्न करते हैं

¹ बु.वि.का. 5 4/22,24,30,31

² वही 54/33

³ वही, 59/49

⁴ वही, 62/13

⁵ खु.पा. : गा. 15, पृ. 8, सु.नि.गा., 15, पृ. 303

हैं कि" हे बच्छ ! यदि कोई आपसे पूछे कि आपके सामने यह जो अग्नि बुझ गयी है वह यहाँ से किस दिशा में चली गयी है-पूर्व, पश्चिम, उत्तर या दक्षिण । इस प्रश्न का आप क्या उत्तर देंगे ? हे गौतम, यह दृष्टांत ठीक नहीं है क्योंकि जो अग्नि जल रही थी, उसका ईंधन समाप्त हो गया है नया ईंधन प्राप्त नहीं हुआ । इसलिए वह बुझ गई और इसलिए उसको 'निब्बुतो' कहा जाता है ।¹ भगवान बुद्ध का यह संवाद निर्वाण के अभावात्मक स्वरूप को स्पष्ट करता है ।

पालि ग्रन्थों में निर्वाण के इस रूप के विषय में अनेक संदर्भ मिलते हैं । निर्वाण के इस स्वरूप को महाकवि अश्वघोष ने दीप-दृष्टान्त से स्पष्ट करते हुये कहा है कि बुझा हुआ दीपक न तो पृथ्वी में जाता है, न अन्तरिक्ष में, न किसी दिशा में अपितु तेल के क्षय होने से वह बुझ जाता है उसी प्रकार ज्ञानी न तो पृथ्वी पर, न अन्तरिक्ष में, न दिशा में न विदिशा में अपितु क्लेश-क्षय हो जाने के कारण वह शान्ति को प्राप्त कर लेता है-

" दीपो यथा निवृत्तिमभ्युपेतो नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम् ।

दिशं न काञ्चिद् विदिशं न काञ्चिद् स्नेहक्षयात् केवलमेति शान्तिम् ।।

तथा कृती निवृत्तिमभ्युपेतो नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम् ।

दिशं न काञ्चिद् विदिशं न काञ्चिद् क्लेशक्षयात् केवलमेति शान्तिम् ।।²

इसी क्लेशाभाव रूप निर्वाण का उल्लेख करते हुए ग्रन्थकार का कथन है कि विरागी अर्हत् के लिए बन्धन का नवीन बीज उत्पन्न नहीं होता तथा पुरातन बीज रूपी बन्धन के क्षीण हो जाने पर उसका निर्वाण ही जाता है-

" विरागस्य नवं नास्ति बन्धनबीजमिहार्हतः ।

प्रत्ने क्षीणे स निर्वाति स्वस्ति सत्येन तेन वः ।।³

¹ म. नि. : ना. सं. , भा. -2, पृ. 181

² सो. न. : 16/28-29

³ बु. वि. का. : 62/21

आगे उनका कथन है कि पाप की समाप्ति और पुण्य अभिवृद्धि होने पर वैराग्य रूपी सम्पत्ति से परिशुद्ध हुआ प्राणी ही मोक्ष-प्राप्ति में समर्थ होता है—

" पुण्यचेतनया पापेविलीने प्रसूते शुभे ।

वैराग्यसम्पदा शुद्धः प्राणी मोक्षाय कल्पते ।। "1

अनिर्वचनीय निर्वाण :

अनिर्वचनीय का तात्पर्य है कि ' उसके सम्बन्ध में किसी प्रकार का वाचा-विन्यास न होना ।' जिस प्रकार कोई आम्ररस का पान किया हुआ व्यक्ति केवल इतना ही कह सकता है कि मैंने आम्ररस का पान किया । उसका स्वाद किस रस से मिलना है, उसे अभिव्यक्त नहीं कर सकता है । उसी प्रकार मन के भाव को एक निमित्त स्तर तक ही शब्द व्यक्त कर सकते हैं परन्तु निर्वाण का सुख असीम है । पालिपिटकों में निर्वाण के अनिर्वचनीय रूप के अनेक प्रसंग दृष्टिगोचर होते हैं । ' धम्मपद ' में निर्वाण की अनिर्वचनीयता को सिद्ध करते हुए कहा गया है कि;

" यस्य पारं अपारं वा पारापारं न विज्जति । "2

इस प्रकार निर्वाण के स्वरूप का उल्लेख करते हुए ग्रन्थकार का कथन है कि अल्प उदर वाला, मिताहारी, स्वल्पेच्छ, अलोभी तथा आकांक्षा रहित को ही निर्वाण की प्राप्ति होती है—

" ऊनोदरो मिताहारः स्वल्पेच्छः स्यादलोलुपः ।

विगतेच्छस्य निर्वाणं विगतेच्छोहि निर्वृत्तः ।। "3

तदनन्तर निर्वाणाभिप्सु के गुणों का उल्लेख करते हुये वे कहते हैं कि त्याज्य एवं ग्रहणीय धर्मों के प्रति श्रद्धावान, धर्मोपदेश बुद्ध के प्रति श्रद्धालु, अकुपित, वात, पित्त एवं कफ के वैषम्य से रहित, शीत तथा

¹ बु. वि. का. 73/35

² ध. प. - गा. 385

³ वही, 43/49

उष्ण को सहन करने में समर्थ नित्य उत्साही को ही निर्वाण प्राप्ति होती है ।

" श्रद्धधानः सदा बुद्धे विद्याचरणसंयुते ।

हेयोपादेयधर्मस्य साभ्युपायस्य ज्ञास्तरि ॥

सम प्रकृतिरक्षुब्धैर्वातपित्तबलासकैः ।

शीतोष्णक्षान्तिसम्पन्नः सदोत्थानपरायणः ॥ " ¹

आगे अन्य गुणों का वर्णन करते हुये कहते हैं कि चमत्कारादिसे रहित सर्वदा गुरु तथा अपने सहवासियों के प्रति कुटिलता का त्याग, पुण्यचित्तोत्पादी, करुणामय, बलिष्ठ, वीर्यवान्, श्रमशील, स्वल्पहारी, निरामिष, मद्यपान परित्यागी, निद्रा एवं प्रमाद पर विजय प्राप्त कर लेने वाला व्यक्ति 'सभी कुछ दुःख है,' ऐसा ध्यान करता हुआ ही निर्वाण लाभ का अधिकारी है -

" अमायाव्यशठो नित्यं गुरौ सब्रह्मचारिषु ।

शुभचित्तसमुत्पाद योगवान् करुणामृदुः ॥

" बलवान् वीर्यवान् श्राम्यन् स्वल्पहारो निरामिषः ।

विजितालस्यसंवेशो जागरूकौ ह्यमद्यपः ॥

दुःखं सर्वमिदं ज्ञात्वा प्राप्तवैराग्यमानसः ।

सप्तभिः शरदां ध्यायन् प्राप्नोति कृतकृत्यताम् ॥" ²

तदनन्तर वह कहते हैं कि व्यापाद आमगन्ध है उच्छिष्ट राग है । इनका त्याग करने वाला व्यक्ति संसार में सिद्धि को प्राप्त कर लेता है । पाखण्ड के द्वारा वह सिद्धि को प्राप्त करने में कदापि समर्थ नहीं हो सकता ।

¹ बु. वि. का. 73/36-37

² वही, 73/38-40

निर्वाण की अवस्थाएँ :

बौद्ध परम्परा में निर्वाण की दो अवस्थाएँ मिलती हैं— सोपाधिशेष एवं अनुपाधिशेष ।

(क) सोपाधिशेष निर्वाण :

उपाधि का तात्पर्य पञ्चस्कन्ध से है । पञ्चस्कन्ध सहित अर्हत् का अस्तित्व ही सोपाधिशेष निर्वाण है । निर्वाण की इस अवस्था में अर्हत् स्वयं को सांसारिक प्रपञ्चों से दूर रखता है । वेदान्त में इसे ही जीवन्मुक्ति के नाम से अभिहित किया जाता है ।

इस अवस्था में उपादान कारण विद्यमान रहता है । अतः प्राणी में कभी भी तृष्णा रूपी अग्नि प्रज्वलित हो सकती है । भगवान् बुद्ध ने बोधिवृक्ष के नीचे इसी निर्वाण को प्राप्त किया था । उनकी इस अवस्था में चित्त के समस्त संस्कार नष्ट हो गये थे और तृष्णा का समूल उच्छेद हो गया था । सम्बोधि प्राप्ति के अनन्तर अधोलिखित उदान से भी इस कथन की सम्पुष्टि हो जाती है—

" गहकारक दिट्ठोसि पुन गेहं न काहसि ।

सब्बा ते फासुका मग्गा , गहकूटं विसंखतं ।। " ¹

भगवान् बुद्ध ने 45 वर्ष तक जनसामान्य में अपने उपदेश दिए । बुद्ध का यह कृत्य पुण्डरीकवत् था । जैसे पुण्डरीक पंक में उत्पन्न होते हुए भी सर्वथा निर्मल एवं सुन्दर होता है उसी प्रकार बुद्ध भी सांसारिक जनों को उपदेश देते हुए अनासक्त भाव से विचरण करते रहे।

अनुपाधिशेष निर्वाण :

इस अवस्था में निर्वाणलाभी के पञ्चस्कन्धों की परिसमाप्ति हो जाती है । दूसरे शब्दों में यही उसकी मृत्युत्तर अवस्था है । बुद्ध की इसी अवस्था को महापरिनिर्वाण की अवस्था कहा गया है । इसे ही वेदान्त में विदेह मुक्ति के नाम से जाना जाता है ।

प्रस्तुत आलोच्य ग्रन्थ में यद्यपि तथागत के महापरिनिर्वाण का उल्लेख किया गया है परन्तु अनुपाधि शेष निर्वाण का शब्दतः उल्लेख नहीं किया गया है ।

¹ ध.प. — गा. , 154

बौद्ध धर्म में दस संयोजनों के उच्छेद के अनन्तर ही अर्हत् की अवस्था को माना गया है । यदि कोई साधक इन सभी संयोजनों का उच्छेद नहीं कर पाता है तो इसमें निराशा की कोई बात नहीं है । क्रमशः धीरे-धीरे संयोजनों का उच्छेद कर सकता है । इसलिए भगवान् बुद्ध ने साधकों की चार अवस्थाओं का निर्देश किया है ।

आलोच्य ग्रन्थ में भी निर्वाणाभिप्सु साधकों की चार अवस्थाओं की चर्चा प्राप्त होती है । जिनकी विवेचना यहाँ इष्ट है :

(क) स्रोतापन्न :

स्रोतापन्न साधना का प्रथम सोपान है । स्रोतापन्न का शाब्दिक अर्थ है- 'धारा में आ पड़ने वाला अर्थात् 'स्रोत में- प्रवाह में स्वयं को फेंक देना ।' इस प्रवाह में पड़कर उसे मुक्ति की प्राप्ति अवश्यम्भावी है । इसमें वह लोभ, द्वेष एवं मोह इन तीनों संयोजनों का उच्छेद कर देता है । भगवान् तथागत ने परलोक या स्वर्ग की अपेक्षा स्रोतापन्न की अवस्था को अति महत्त्व प्रदान किया है । उन्होंने पृथ्वी के एकछत्र राज्य तथा सभी लोकों के आधिपत्य से स्रोतापत्ति के फल की श्रेष्ठता को स्वीकार किया है-

" पथव्या एकरज्जेन, सग्गस्स गमनेन वा ।

सब्बलोकाधिपच्चेन सोतापत्तिफलं वरं ।। "1

इसी भाव की अभिव्यक्ति आलोच्य ग्रन्थ में मिलती है जहाँ राज्यलाभ एवं स्वर्गलाभ से स्रोतापत्ति के फलको श्रेष्ठ बताया है । यहाँ पर उनका यह भी कथन है कि उसका आठवीं बार जन्म लेने की सम्भावना नहीं रहती -

" राज्यादपि महालाभं स्वर्गादपि परं पदम् ।

स्रोतापत्तिमाप्तस्य भवो भवति नाष्टमः ।। "2

1 घ. प. - गा. 78

2 बु. वि. का. : 49/27

कहने का तात्पर्य यह है कि स्रोतापन्न अधिक से अधिक सात जन्मों के अन्दर मुक्त हो जाता है । आगे ग्रन्थकार का अभिकथन है कि आत्मग्राह एवं असत्याभिनिवेश इन दोनों दोषों से मुक्त होने पर मनुष्य स्रोतापन्न हो जाता है । स्रोतापन्न की महत्ता को स्वीकार करते हुये कवि उसे राजा से भी श्रेष्ठ एवं पूजनीय मानते हैं ।

" एतोभ्यामेव दोषाभ्यां मोक्षस्रोतः विधीयते ।

स्रोतापद्यते धीरो यदा दोषौ निरस्यति ।।

निर्वृत्तेः स्रोतापन्नं यथार्चन्ति मुनीश्वरम् ।

पृथिव्यां न तथा लोका ऊर्चन्ति पृथिवीश्वरम् ।। "1

(ख) सकृदानामी :

यह साधक की द्वितीय अवस्था है । इसका तात्पर्य है 'एक बार आने वाला ।' जब साधक राग, द्वेष एवं मोह के अतिरिक्त कामराग और व्यापाद दोषों का समूल उच्छेद न करे किन्तु उनको दुर्बलकर दे, तब उन्हें इस संसार में एक बार से अधिक नहीं आना पड़ता ।

आलोच्य ग्रन्थ में ग्रन्थकार इस अवस्था का वर्णन करते हुये कहते हैं कि दोषों से रहित, सभी प्राणियों के हिताभिलाषी साधक के हृदय से क्रोध एवं हनन-भाव सर्वथा समाप्त हो जाता है । क्रोध के शान्त हो जाने पर मानव में सुबुद्धि की उत्पत्ति होती है, तदनन्तर उसके सभी सन्देहों का निवारण हो जाता है-

" दोषद्वयविहीनस्य सर्वसत्त्वहितैषिणः ।

निर्यातिहृदयत्सर्वः प्रतिघः क्रोधलक्षणः ।। "2

इस प्रकार काम एवं राग रहित होने पर उनका एक बार भी जन्म नहीं होता है । इसी गूढ़भाव

¹ बु.वि.का. : 49/25-26

² वही, 49/28

को श्लोकबद्ध करते हुए ग्रन्थकार का कथन अति मनोरम है :

" शिथिलं कामरागोऽस्य भवमत्रेकमावहन् ।

नाधिकं बन्धनं कर्तुं सकृदागामिनः क्षमः ॥ "1

(ब) अनागामी :

यह साधक की तृतीय अवस्था है । अनागामी का तात्पर्य है कि साधक को इस संसार में जन्म नहीं लेना पड़ता ।¹ इस अवस्था में साधक राग, द्वेष, मोह, कामराग एवं व्यापाद संयोजन का पूर्णरूपेण उन्मूलन कर देता है । ये शुद्धावास देवताओं में उत्पन्न होते हैं और वहाँ से भी परिनिवृत्त हो जाते हैं । प्रस्तुत आलोच्य ग्रन्थ में ग्रन्थ-प्रणेता का साधक को उपदेश है कि वह हृदय में अवस्थित काम राग का प्रयत्न के साथ उन्मूलन कर दे । वह केश, नख आदि शरारावयवों के प्रति होने वाले कामराग का भी उन्मूलन कर दे तथा कामनाओं से रहित हो जाने पर उसका इस पृथ्वी पर जन्म नहीं होता ।² तब वह अनागामी की अवस्था को प्राप्त करता है जो निर्वाण के पार्श्ववर्ती है :

" नागन्ता स भुवं भूयः सर्वकामेषु निस्पृहः ।

अनागामी भवन् पार्श्वचारी भवति निर्वृतेः ॥ "3

(च) अर्हत् :

जिसने अपने समस्त क्लेशों को शान्त कर स्वयं निर्वाण प्राप्त कर लिया हो, वह अर्हत् है । निर्वाण को प्राप्त कर वह परम शान्ति का अनुभव करता है । व्यक्तिगत निर्वाण पद प्राप्ति अर्हत् का प्रधान ध्येय है । इसी अर्हत् पद की प्राप्ति हीनयान का मुख्य आदर्श है । आलोच्य ग्रन्थ में दूषित चित्त वृत्तियों से रहित

¹ बु.वि.का. : 49/30

² वही, 49/31-32

³ वही, 49/33

प्राणी अर्हत् है क्योंकि उसका क्लेश रूपी अरि समाप्त हो चुका है-

" हीन क्लेश मलो लोकेर्हन्त लोकाः प्रपूजितः ।

अरिन्तर्हतस्तस्य बहिर्धा नास्त्यरिर्मुनेः ॥ "1

ग्रन्थकार के इस कथन के अनुसार इस अवस्था में साधक सभी संयोजनों का क्षय कर लेता है । बौद्ध परम्परा में इन्हें कहीं बन्धन, हीं ओष, कहीं अनुशय कहा गया है । इन संयोजनों रूपी बन्धन की समाप्ति पर साधक को निर्वाण की प्राप्ति हो जाती है । अब उसके पतन की सम्भावना हो ही नहीं सकती । धम्मपद में इसी भाव की अभिव्यक्ति अधोलिखित गथांश से हो जाती है-

" अभब्बो परिहानाय, निब्बाणस्सेव सन्तिके ॥ "2

ग्रन्थकार आचार्य शान्तिभिक्षु शास्त्री ने कहा है कि अर्हत् बन्धन मुक्त हो जाता है और उसे निर्वाण की प्राप्ति हो जाती है-

" विरागस्य नवं नास्ति बन्धनबीजमिहार्हतः ।

प्रप्ते क्षीणे स निर्वाति स्वस्तिसत्येन तेन वः ॥ "3

(ड.) मौनेय पद की अवधारणा :

बौद्ध धर्म में मितभाषी एवं मौनधारियों के महत्त्व की चर्चा मिलती है । बुद्ध स्वयं मितभाषी एवं मौन धारण किया करते थे । इसलिए बौद्ध साहित्य में उन्हें मुनि, महामुनि, मुनीन्द्र आदि शब्दों से सम्बोधित किया गया है । वाचाल एवं प्रलापी व्यक्तियों के असत्य एवं सद्वचनों के प्रयोग की आशंका बनी रहती है । इससे मानव की मानव के प्रति कटुता बढ़ती है । ऐसे कटु वचनों से मानव की भलाई किसी प्रकार सम्भव नहीं है, बुद्ध ने मानव की भलाई में सहायक न होने वाले प्रश्नों का उत्तर देना उचित नहीं समझा । उन्होंने इन प्रश्नों

1 बु .वि. का. : 49/43

2 ध. प. गा. : 32

3 बु.वि.का. : 62/21

को अव्याकृत कहा है । अव्याकृत प्रश्नों से दूर रहने की बुद्ध की शिक्षा को समझने के लिए मांलुक्य पुत्र के साथ उनका संवाद जानना उचित होगा । मांलुक्य पुत्र ने तथागत से प्रश्न किया कि, " आप अन्य आचार्यों की तरह जगत के आदि-अन्त, मूल कारण के विषय में एवं निर्वाण के विषय में कुछ नहीं कहते हैं, इसलिए मैं आपका शिष्य नहीं रह पाऊँगा । " इस पर बुद्ध उत्तर देते हुए कहते हैं कि, " जब मैंने तुम्हें शिष्य बनाया, तब ऐसा क्या वचन दिया था कि ऐसे अव्याकृत प्रश्नों का मैं तुम्हें उत्तर दूँगा ? तुमने भी क्या ऐसा कहा था कि ऐसे प्रश्नों के उत्तर आप नहीं देंगे तो मैं आपका शिष्य नहीं रह पाऊँगा ? " मांलुक्य पुत्र ने कहा कि " ऐसा कोई समझौता नहीं हुआ । " उन्होंने आगे एक ऐसी बोधक उपमा दी, जो बुद्ध के दृष्टिकोण को स्पष्ट करती है । बुद्ध ने कहा कि, " किसी को विष बाण लग गया हो, उसके मित्र और सम्बन्धी उसे तत्काल चिकित्सक के पास ले जाते हैं, पर उसका कहना है कि मैं तब तक बाण नहीं निकालवाऊँगा जब तक मुझे यह पता न चल जाए कि बाण वाला किस वर्ण, नाम और गोत्र का था ? उसका शारीरिक आकार कैसा था ? वह बाण किस प्रकार बनाया गया था ? धनुष की प्रत्यंचा कैसी थी ? आदि । इन प्रश्नों का प्रत्युत्तर मिलने तक क्या व्यक्ति बच पायेगा ? " मांलुक्य पुत्र कहता है- " नहीं " । इस पर बुद्ध कहते हैं कि " इन गूढ़ एवं अनिर्णीत प्रश्नों के उत्तर के साथ ब्रह्मचर्य वास या समय साधना या विशुद्धि के प्रयत्न का क्या सम्बन्ध है ? मैं तुम्हें बताता हूँ कि निर्वाण प्राप्ति के लिए इन प्रश्नों का कोई महत्त्व नहीं है । उपर्युक्त संवाद में उपमा कौशल से बुद्ध ने स्पष्ट कर दिया है कि प्रश्न अव्याकृत इसलिए हैं कि इनका मानव जीवन की उन्नति से कोई सरोकार नहीं है ।¹ इसी प्रकार की बातें उन्होंने शिंशपा कानन में विहार करते समय की थीं । बुद्ध शिंशपा की कुछ पत्तियाँ लेकर पूछते हैं कि, " भिक्षुओं, मेरे हाथ की पत्तियाँ अधिक हैं या वृक्ष पर । भिक्षुओं का उत्तर था 'वृक्ष पर' । बुद्ध ने भिक्षुओं को अपनी बात समझाते हुए कहा- " इसी प्रकार जिन तत्त्वों को मैंने स्पष्टतया अनुभव कर तुम्हें बताया है वे हैं वृक्ष की पत्तियाँ । जो नहीं बताया है पवित्र जीवन के लिए उनको जानने की कोई आवश्यकता नहीं है, न वह किसी भी प्रकार आध्यात्मिक जीवन में सहायक हैं । मैंने तुम्हें वही बताया है जो पूर्णत्व की ओर जाने वाला है ।²

¹ म.नि.-ना.सं.- भा. 2, पृ. 110-111

² भा.द. रु., पृ. 138

बुद्ध ने जितने उपदेश दिए, उनमें मानवता का हित ही सर्वोपरि है । वे मानवीय हित एवं शान्तिप्रदायक एक पद के कथन को श्रेष्ठ मानते हैं, हजारों प्रयोजन रहित पदों के कथन को नहीं—

" सहस्समपि चे वाचा अनत्थपदसंहिता ।

एकं अत्थपदं सेव्योयं सुत्वा उपसम्मति ॥ "1

तदनन्तर तथागत का कथन है कि यदि तुम स्वयं को कौंसे के समान निःशब्द कर लोगे तो तुम्हारे लिए प्रतिहिंसा की भावना नहीं रहेगी—

" सचे नेरेसि अत्तानं कंसो उपहतो यथा ।

एस पत्तोसि निब्बानं सारम्भो ते न विज्जति ॥ "2

प्रस्तुत आलोच्य ग्रन्थ में असित मुनि के भागिनेय 'नालक' ने भगवान् तथागत से मौनेय पद का उपदेश करने का सविनय अनुरोध किया । इस पर धीर विप्रर्षि नालक मुनि से भगवान् ने मौनेय पद की व्याख्या करते हुए कहा कि " जो मनुष्य जानते हुए बहुत बोलता है परन्तु अत्यन्त महान परमतत्त्व को जानते हुए नहीं बोलता । ज्ञान तथा वाणी में संयमी मुनि मौनेय पद के योग्य होता है ।³ मूर्ख अर्द्धपूरित घट है, विद्वान् आपूरित घट है, जो घट आपूरित नहीं है वह बहुत शब्द करता है, जो आपूरित है वह शान्त है, शब्दरहित है—

" अर्धपूर्णघटो बालः परिपूर्णघटः सुधीः ।

अपूर्णः सस्वनो भूरि पूर्णः शान्तो गतस्वनः ॥ "4

आगे ग्रन्थकार का कथन है कि सदैव एकान्त आसन में रमने वाला, सदैव एकाकी रमण करने वाला मुनि अद्वितीय मौनेय पद को प्राप्त करता है । कहीं अपशब्द सुनने को मिलता है, कहीं वन्दना होती है ।

1 घ.प. : गा. 100

2 वही, गा. 134

3 बु.वि.का. : 43/38-41

4 वही, 43/42

दोनों अवसरों पर समता की बुद्धि करके मुनि को ग्राम में विचरण करना चाहिए । आगे वे कहते हैं कि वह मुनि निरर्थक प्रलाप का त्याग करके सुभाषितों का आनन्द से श्रवण करता है तथा उनकी रचना करता है ।¹ मिथ्याभाषण का परित्याग करके वह जैसा जानता है, वैसा बोलता है अथवा करुणाभाव के कारण मौन धारण कर लेता है—

" मृषावादं परित्यज्य यथा जानाति तादृशम् ।

सत्यं वदति काष्ण्यान्मौनं वा संप्रपद्यते ॥ "2

आगे मौन के महत्त्व की चर्चा करते हुए वे कहते हैं कि दूसरे व्यक्तियों के परुषवचन का भागी होने पर वह उन्हें कटु वचन नहीं बोलता अपितु प्रियवचनों का आश्रय लेकर मितभाषी होता है । अन्यो पर अनुग्रह करने की मनोभावना से युक्त हो, पिशुनता से विरत³ रहता है । यहाँ वह वही वचन बोलता है, जिससे हित होता है । ग्रन्थकार ने करुणानिधान मुनि तथागत को चतुर वक्ता होते हुए भी मौनी बताया है—

" परार्थ एव स्वार्थोऽभून्मुनेर्नित्यं कृपानिधेः ।

षडिन्द्रियाणामीशस्य वाग्मिनोऽप्यत्र मौनिनः ॥ "4

¹ बु.वि.का. : 43/43-44, 49/39

² वही, 49/40

³ वही, 49/41-42

⁴ वही, 47/12

(ब) तथागत की दार्शनिक शिक्षाएँ :

भगवान् बुद्ध ने समाज के विभिन्न वर्गों को उपदेश दिये थे । उन्होंने चारिका करते हुये जिस-जिस को उपदेश दिये उसे वे उपमा एवं दृष्टान्तों के माध्यम से स्पष्ट कर देते थे । समाज के विभिन्न वर्गों में भिन्न-भिन्न स्तर के व्यक्तियों का होना स्वाभाविक ही है । इसलिए उन्होंने अपने उपदेश ग्रहण करने की क्षमता का ध्यान रखते हुए ही दिये थे । उन्होंने समस्त उपदेश जनसाधारण की भाषा मागधी में दिए थे जिससे सभी सामान्य जन उन्हें अनायास ही ग्रहण कर लेते थे । विश्व साहित्य में तथागत के दृष्टान्त एवं उपमा शैली का नमूना मिलना अत्यन्त दुर्लभ है । भगवान् बुद्ध का सदैव यही प्रयत्न रहता था कि प्रश्नकर्ता स्वयं अपने प्रश्नों के उत्तर को ढूँढे । इसलिए प्रश्नकर्ता को उत्तर देने के स्थान पर वे उससे ही प्रश्न करने लगते थे । प्रश्न के उत्तर में किसी धर्म का या सत्य का अभिकथन करने के स्थान पर वे प्रश्नकर्ता को क्रमशः उस श्रेणी तक ले जाते थे जहाँ उसे अपने प्रश्न का उत्तर स्वयं ही प्राप्त हो जाता था । प्रस्तुत आलोच्य ग्रन्थ में उल्लेख है कि बुद्ध ने अपनी दार्शनिक शिक्षाओं के माध्यम से समाज के विभिन्न वर्ग के व्यक्तियों को दुःख से मुक्ति दिलाई । कुछ प्रमुख शिक्षाओं का विवेचन यहाँ इष्ट है :

(क) अनित्यता की शिक्षा :

1. किसा गौतमी को उपदेश :

तथागत ने किसान गौतमी को बौद्ध दर्शन का आधारभूत सिद्धान्त 'सर्वम् अनित्यम्' अर्थात् जीवन की क्षणभंगुरता का उपदेश दृष्टान्त के माध्यम से दिया । ग्रन्थकार ने आलोच्य ग्रन्थ के 90वें सर्ग में किसान गौतमी की उक्त कथा को उद्धृत किया है । बालक के मरणोपरान्त सभी उसे महावैद्य भगवान् बुद्ध के पास जाने की सलाह देते हैं । बुद्ध उस समय जेतवन के विहार में निवास कर रहे थे । किसान गौतमी ने वहाँ जाकर बुद्ध को प्रणाम किया तथा अपने पुत्र को पुर्नजीवित करने की दवा की अभियाचना की । इस पर तथागत ने गौतमी से स्वाभाविक रूप में कहा कि यदि वह किसी घर से पीली सरसों ले आए तो उसका बालक जीवित किया जा सकता है । इसके साथ ही तथागत ने यह कहा कि जिस घर से वह पीली सरसों लाए उस घर में आज तक किसी की मृत्यु न हुई हो । इस पर गौतमी नगर में परिभ्रमण करते हुये यह पूछती रही कि

क्या तुम्हारे यहाँ मृत्यु हुई है ? परन्तु उसे कोई भी घर ऐसा न मिला जहाँ मृत्यु न हुई हो । तब उसे अचानक ही भान हुआ और वह बिना सरसों प्राप्त किए ही भगवान् बुद्ध को प्रणाम कर उनकी शरण में आ गयी । इस पर भगवान् ने शोक में निमग्न उसको सम्पूर्ण जगत् की अनित्यता का उपदेश दिया । भगवान् तथागत ने दीघनिकाय के महापरिनिर्वाण सुत्त में अपने महापरिनिर्वाण के समय भी भिक्षुओं को ऐसा ही उपदेश दिया है :

" व्ययधम्मा संखारा अप्पमादेन सम्पादेथा ।"¹

इस प्रकार ग्रन्थकार ने प्रस्तुत सर्ग में विस्तार से किंसा गौतमी की कथा को उद्धृत करते हुये भगवान् को महावेद्य सिद्ध किया है । बुद्ध द्वारा जीवन की अनित्यता का यह उपदेश कवि के द्वारा देववाणी संस्कृत के माध्यम से अत्यन्त मनोरम एवं प्रभावी बना दिया गया है ।

2. क्षेमा को उपदेश :

राजा बिम्बसार की पत्नी क्षेमा को भी भगवान् बुद्ध ने शरीर की क्षणभंगुरता का उपदेश दिया है । ग्रन्थकार ने 68वें सर्ग में क्षेमा के कथानक द्वारा जीवन की क्षणभंगुरता के सम्बन्ध में विस्तार से चर्चा की है । कथा के अनुसार अपने रूप के प्रति मतवाली क्षेमा की मान्यता है कि तथागत रूपश्री का अभिभव करते हैं :

" रूपश्रियं निगृह्यति भगवान् समुपागताम् ।

इति भीता न साद्राक्षीद् रूपमत्ता तथागतम् ।। "²

इसी मान्यता के आधार पर वह भगवान् तथागत के दर्शनों के लिए वेणुवन में नहीं गयी । तब राजा बिम्बसार ने क्षेमा को रक्षा पुरुषों के द्वारा तथागत के दर्शनार्थ बलपूर्वक लाने का आदेश दिया । क्षेमा के आ जाने पर बुद्ध ने अपने ऋद्धि बल से एक अति सुन्दर स्त्री को वहाँ उपस्थित कर दिया । क्षेमा उस अति सुन्दर स्त्री को देखकर अत्यन्त आश्चर्यचकित हुई और उसका रूपमद विलीन हो गया । तथागत के ऋद्धि बल द्वारा क्षेमा क्रमशः विरूप एवं वृद्ध हो गयी । उसके अंग-प्रत्यंगों की सुन्दरता विलीन हो गयी । रूप एवं यौवन

¹ दी.नि. : ना.सं.-भा. 2 , पृ. 119

² बु.वि.का. : 68/5

की ऐसी अनागत दुर्गति देखकर उसे वैराग्य हो गया । वैराग्य प्राप्ति होने पर बुद्ध ने उसको धर्मोपदेश देते हुए कहा कि क्षेमा, तू जहाँ सार देख रही है वहाँ सार नहीं है :

" धर्मोपदेशयोग्यां तां विरक्तां वीक्ष्य सर्ववित् ।

प्राह क्षेमे न सारोऽत्र सारं त्वं यत्र पश्यति ।। "1

यह शरीर तो रोगग्रस्त है, मल एवं पीब से आपूरित है । मूर्खजनों की ही इसके प्रति अभिलाषा होती है—

" आतुराशुचिपूत्याद्यं पश्य क्षेमे समुच्चयम् ।

क्षरन्तमध ऊरु, ध्वं च प्रार्थितं बालमूढकैः ।। "2

बुद्ध की शरीर की नश्वरता की इस शिक्षा को सुनकर, उसका मन संसार से विमुक्त हो मोक्ष के स्रोत में चला गया । कवि शान्तिभिक्षु शास्त्री इस संसार को मकड़ी के जाले के समान मानते हैं और क्षेमा को उपदेश देते हुए कहते हैं कि सुधीजन सभी दुःखों को पारकर मुक्तिगामी हो जाते हैं :

" जालं कृत्वोर्णनाभेन तुल्यो रक्तो विषीदति ।

मुच्यतेच्छिन्नजालोऽत्र सर्वदुःखातिगः सुधीः ।। "3

इस उपदेश द्वारा क्षेमा का राग-जाल उच्छिन्न हो गया और उसने राजा बिम्बसार की अनुमति से प्रव्रज्या ग्रहण कर ली—

" श्रुत्वैतद् वचनं क्षेमाच्छिन्नजालाभवत् क्षणात् ।

नृपेणानुमता लब्धप्रव्रज्या मुमुदे परम् ।। "4

यहाँ आचार्य शान्तिभिक्षु शास्त्री ने केवल क्षेमा को ही जीवन की असारता का ज्ञान नहीं कराया अपितु

1 बु.वि.का. : 68/23

2 वही, 68/24

3 वही 68/27

4 वही, 68/28

मकड़ी के जाले का दृष्टान्त देकर इस दार्शनिक शिक्षा को अति बोधगम्य बना दिया है जो उनकी मौलिकता का परिचायक है ।

3. पेशस्कारसुता को उपेदेश :

83 वें सर्ग में उल्लेख है कि बुद्ध ने 18वें वर्षावास आरवी में किया था । इस वर्षावास से पूर्व बुद्ध का आरवी में आगमन हुआ था । तभी एक पेशस्कार सुता (बुनकर की पुत्री) ने भगवान् से धर्मोपदेश ग्रहण किया था । उसने अपनी मरणानुस्मृति को भी दृढ़ कर लिया था कि जो कोई भी उत्पन्न हुआ है, उसकी मृत्यु अवश्यम्भावी है । ऐसा वह निरन्तर ध्यान करने वाली थी—

" अमर्त्यः कोऽपि नास्त्येव जायमानः कथंचन ।

जातस्य नियतो मृत्युरिति दध्यौ सदैव सा ॥ " ¹

18वें वर्षावास के प्रारम्भ में बुद्ध के आगमन को सुनकर वह अत्यन्त प्रसन्न हुई तथा उनके दर्शनार्थ गई । यहाँ उल्लेख है कि भगवान् बुद्ध दानानुमोदना के समय उसी पेशस्कार सुता की प्रतीक्षा कर रहे थे । उस पेशस्कार सुता के प्रणाम करने पर भगवान् ने उससे कुछ गूढ़ एवं दार्शनिक प्रश्न पूछे, जिनका विवरण यहाँ संवादात्मक शैली में दिया गया है :

भगवान् ने उस पेशस्कार सुता से पूछा कि, " तुम कहाँ से आई हो ? "

वह बोली — 'भगवन् मैं नहीं जानती ।'

— "शुभे, कहाँ जाओगी ?"

— " मुझे पता नहीं । "

— " क्या तुम सत्य में नहीं जानती कि तुम कहाँ जाओगी ? "

— " भगवन् मैं जानती हूँ । "

— " क्यातुम सचमुच जानती हो ? "

— " भगवन् मैं नहीं जानती । "

¹ बु. वि. का. : 83 /4

उनके इस प्रकार के संवाद को सुनकर वहाँ उपस्थित जनसमुदाय को कन्या की वाचालता अनुचित प्रतीत हुई परन्तु तथागत उसके उत्तरों से अत्यन्त प्रसन्न हुए । तदनन्तर तथागत ने कहा कि, " पुत्री तुम मुझे अपने उत्तरों का अभिप्राय विस्तार से समझाओ । जब मैंने पूछा कि, 'तुम कहाँ से आई हो ?' तुमने कहा कि 'मैं नहीं जानती' । ऐसा तुमने क्यों कहा ? वह बोली, ' भगवन् जानते हैं, मैं पिता के घर से आई हूँ परन्तु आपके प्रश्नों का विशेष अभिप्राय जानकर मैंने कहा कि मैं किस लोक से च्युत् होकर आई हूँ, यह मैं नहीं जानती ।' तदनन्तर तथागत बोले कि, ' मैंने प्रश्न किया कि, ' कहाँ जाओगी ?' तो तुमने 'पता नहीं' यह उत्तर क्यों दिया ?' तब वह बोली कि 'भगवन् जानते हैं कि मैं पिता के पास कर्मशाला जाऊँगी परन्तु इसका विशेष अभिप्राय है कि इस लोक से च्युत् होकर दूसरे किस लोक में जाऊँगी, यह मैं नहीं जानती ।' भगवान् का यह प्रश्न- ' क्या सचमुच नहीं जानती हो ?' तब मेरा उत्तर था, ' मैं जानती हूँ ।' इसका अभिप्राय है कि मृत्यु निश्चित है, यह मैं जानती हूँ । इसके अतिरिक्त भगवान् का यह प्रश्न था कि 'क्या तुम सचमुच जानती हो ?' मेरा उत्तर था, 'मुझे पता नहीं ।' इसका तात्पर्य है कि मैं उत्पन्न हुई हूँ, मेरी मृत्यु निश्चित है, यह तो मैं जानती हूँ परन्तु यह नहीं जानती कि कब, किस क्षण, इस शरीर को त्याग दूसरे शरीर को प्राप्त करूँगी । " इस प्रकार उस पेशस्कार सुता ने तथागत के प्रश्नों का उत्तर देकर उनकी वन्दना की ।¹

उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट है कि पेशस्कार सुता ने अपनी मरणानुस्मृति को दृढ़ कर लिया था । उसके अनुसार, " जो उत्पन्न हुआ है, उसका मरण निश्चित है । " ऐसी ध्यान वाली पेशस्कार सुता को भगवान् ने अपने ऋद्धि बल से जान लिया था । तभी उन्होंने उससे प्रश्न पूछे थे जबकि बुद्ध तो सभी के प्रश्नों के उत्तर देते थे । बुद्ध ने उसके ज्ञान एवं योग्यता के आधार पर ही प्रश्न किये थे तथा उसने भी भगवान् के प्रत्येक प्रश्न के दो-दो उत्तर दिये थे । प्रश्नका एक उत्तर सकारात्मक था तथा एक उत्तर नकारात्मक था । उसके ये उत्तर व्यावहारिक एवं उचित ही थे तथा बौद्ध मत के (अनित्यता के सम्बन्ध में) अनुकूल थे ।

¹ बु.वि.का. : 83 सर्ग सम्पूर्ण

(ख) निर्वाण सम्बन्धी शिक्षा :

(1) डाकू अंगुलिमाल को उपदेश :

अंगुलिमाल डाकू मार्ग में जाने वाले पथिकों का वध कर देता था तथा उनकी एक अंगुली काटकर माला में सूत्रवत् कर लेता था । इसलिए उसे अंगुलिमाल कहा जाता था । कोई भी मनुष्य उस क्रूर डाकू के भय से वन में प्रवेश करने का साहस नहीं कर पाता था । यह अंगुलिमाल डाकू कोसल देश के महाराजा के भार्गव नामक पुरोहित का पुत्र था । वह तक्षशिला में गुरु से शिक्षा प्राप्त कर उनका प्रियतम शिष्य बन गया । गुरु तथा शिष्य की एकता को उच्छिन्न करने हेतु अन्य शिष्यों ने यह दुष्प्रचार कर दिया कि यह शिष्य तो 'गुरुतल्पग' है । इससे गुरु को बड़ा आघात लगा और उन्होंने गुरुदक्षिणा के रूप में सहस्र मनुष्यों का वध करने के लिए कहा । साथ ही यह भी कहा कि सहस्र मनुष्यों का वध करने पर ही तुम्हारी विद्या की सिद्धि हो सकेगी -

" मनुष्याणां सहस्रं त्वं मदर्थे जहि सुव्रत ।

मदवाप्ता ततो विद्या तव सिद्धा भविष्यति । "1

तदनन्तर उस डाकू के वृत्तान्त को जानकर भगवान् बुद्ध स्वयं उस वन में गये । वन में निर्भय होकर विचरण करते हुये तथागत को देखकर अंगुलिमाल तलवार लेकर उनकी ओर दौड़ा परन्तु उनके ऋद्धिबल से वह उन तक न पहुँच सका । तब परिश्रान्त हुआ वह डाकू तथागत से बोला "ठहरो, ठहरो ।" इसके प्रत्युत्तर स्वरूप तथागत ने कहा कि, " मैं तो नित्य ठहरा हुआ हूँ, अब तुम भी ठहरो ।" इसी भाव की अभिव्यक्ति आलोच्य ग्रन्थ के निम्नलिखित श्लोक में दृष्टव्य है :

" नित्यं स्थितोऽस्मि तं प्राह क्राम्यन्नेव तथागतः ।

भ्राम्यन् भ्राम्यन् परिश्रान्तस्तिष्ठत्वमपि साम्प्रतम् ।। "2

1 बु.वि.का. : 86/19

2 वही, 86/36

अंगुलिमाल के लिए तथागत का यह कथन प्रहेलिका के समान था । वह इस कथन की गम्भीरता का अवबोधन नहीं कर पाया कि ' तुम अब ठहरो ' । व्याकुल हुए उसने तथागत से इसके भाव को जानने की इच्छा प्रकट की । तब बुद्ध ने क्रूर एवं हिंसक उस डाकू अंगुलिमाल को अहिंसा वृत्ति का उपदेश देते हुए कहा—

" प्राणघाताद् यतोऽस्मीति यत एव सदा स्थितः ।

भ्राम्यसि त्वं स्थितोऽप्यत्र प्राणघातविमूर्छितः ॥ "1

इस श्लोक में बुद्ध ने प्राणिहिंसा से विरत रहने वाले को स्थित बताया है जबकि प्राणिहिंसा करने वाले अंगुलिमाल को अज्ञान के कारण भ्रमण करने वाला बताया है । बुद्ध के इस उपदेश से शस्त्र त्यागकर वह तथागत के चरणों पर गिरकर उनकी शरण में चला गया । जिस क्रूरतम डाकू को कोसलराज प्रसेनजित् अपने सैन्य बल द्वारा वश में न कर सका उसे तथागत ने अपनी इस दार्शनिक शिक्षा से वशीभूत कर लिया । यह शिक्षा यह दर्शाती है कि प्राणी हिंसक प्रवृत्ति के कारण अज्ञान में डूबकर आवागमन के चक्र में फँसा रहता है, जो अविद्या रूपी अन्धकार का नाश कर लेता है, वही इस जीवन—मरण के चक्र से मुक्त हो जाता है । भगवान् बुद्ध ने हिंसावृत्ति के परित्याग को निर्वाण पद माना है जिसे प्राप्त कर शोक के लिए कोई अवकाश नहीं रहता—

" अहिंसका ये मुनयो निच्चं कायेन संवृता ।

ते यन्ति अच्युतं ठानं यत्थ गन्त्वा न सोचरे ॥ "2

2. यक्षों को उपदेश :

आलोच्य ग्रन्थ के 42 वें सर्ग में उल्लेख मिलता है कि सात एवं हैमवत् यक्षों ने पृथ्वी पर विराजमान भगवान् तथागत को देखा । वे दोनों यक्ष अन्य यक्षों के साथ वनप्रस्थ नामक स्थान पर आये जहाँ तथागत

¹ बु. वि. का. : 86/38

² ध. प. गा. : 225

स्थित थे । सभी ने उनको प्रणाम किया । तब हैमवत् नामक यक्ष ने कुछ प्रश्नों का समाधान चाहा । उसने भगवान् तथागत से अपनी जिज्ञासा के समाधानार्थ पूछा कि, " भगवन्! यह लोक कहाँ उत्पन्न हुआ है ? कहाँ इसका अस्तित्व है ? इसका हेतु क्या है ? इस लोक का अन्त कहाँ है ? :

" कुत्र लोकः समुत्पन्नः कुरुते कुत्र संस्तवम् ।

किमुपादाय लोकोऽयं कुत्र लोको विहन्यते ।। " ¹

तथागत ने उसकी इस जिज्ञासा का समाधान करते हुये कहा कि यह संसार छः इन्द्रियों में उत्पन्न हुआ है, छः इन्द्रियों में यह घनिष्ठता करता है । यह संसार छः इन्द्रियों के कारण उत्पन्न होता है तथा छः इन्द्रियों में ही यह समाप्त हो जाता है । श्रोत्र, काय, चक्षु, जिह्वा, घ्राण ये पाँच इन्द्रियाँ तथा मन ये सभी वेदक हैं । शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध तथा मन ये पाँच वेद्य हैं । ये वेदक और वेद्य परस्पर सहायता की अपेक्षा रखते हैं तथा इससे ही सिद्ध होते हैं । इन छः इन्द्रियों में आसक्ति ही लोकोत्पत्ति का कारण है -

" षडध्यात्मं बहिर्धा षण् मनःपंचैन्द्रियाणि च ।

धर्मोऽथ विषयाः पंचेत्यात्मदृष्टिव्यपोहनम् ।।

× × × ×

षट्सु लोकः समुत्पन्नः कुरुते षट्सु संस्तवम् ।

षडुपादाय लोकोऽयं षट्सु लोको विहन्यते ।। " ²

इस उपदेश से आत्मतत्त्व के ग्राह्य से रहित होते हुये पुनः जिज्ञासा प्रकट करते हुये उस यक्ष ने भगवान् से पूछा कि, 'वह उपादान कौन है, जहाँ लोक निहत होता है ? निर्याण एवं दुःख मुक्ति का मुझे

¹ बु. वि. का. : 42/20

² वही, पृ. 42/21, 23

उपदेश दें -

" कतमत्तदुपादानं यत्र लोको विहन्यते ।

निर्याणं ब्रूहि मे पृष्टः कथं दुःखात्प्रमुच्यते ।। "1

अन्य यक्षों सहित उस हैमवत् नामक यक्ष को निर्वाणगामी स्रोत को प्राप्त कराते हुए भगवान् ने कहा, "लोक में जो पाँच कामगुण हैं, वह उपादान है तथा इसी से सकल जगत् आबद्ध है ।" भगवान् उन्हें दुःख से मुक्ति का उपाय बताते हुए कहते हैं कि सभी अभिलाषाओं एवं आसक्तियों को छोड़ने पर ही प्राणी मुक्त हो जाता है, यही दुःख से मुक्ति है अर्थात् निर्वाण का अधिगम है :

" विरज्यच्छन्दमुत्सृज्य दुःखान्मुक्तः प्रजायते ।

आख्यातमेतन्निर्याणमेतद् दुःखात्प्रमोचनम् ।। "2

तदनन्तर वह यक्ष भगवान् से पूछता है कि, " कौन बाढ़ को पार करता है ? संसार को कौन पार करता है ? आलम्बन रहित तथा स्थितिविहीन गहराई में इस संसार में कौन नहीं डूबता ? इन प्रश्नों के माध्यम से भगवान् बुद्ध उसे निर्वाण का उपदेश देते हैं । तथागत का कथन है कि जो शील युक्त समाधि में स्थित एवं प्रज्ञावान है, ऐसा अध्यात्म का चिन्तन करने वाला जागरूक बाढ़ एवं संसार रूपी सागर को पार कर जाता है । इस प्रकार बौद्ध साधना के तीनों चरणों का उल्लेख करते हुये निर्वाण लाभी को ही गहराई में डूबने से मुक्त मानते हैं । कामसंज्ञा से विरत, संयोजनों का उच्छेद तथा भवतृष्णा की परिसमाप्ति वाला ही निर्वाणलाभी है, गहराई में न डूबने वाला है :

" विरक्तं हि यदा चित्तं लोकधर्मपराङ्मुखम् ।

तदा तल्लोकदुःखेन प्रविविक्तं विमुच्यते ।। "3

¹ बु. वि. का. : 42/26

² वही, 42/29

³ वही, 42/46

इस प्रकार तथागत ने उस यक्ष की आत्मदृष्टि विलीन कर उसे धर्मदृष्टि वाला बना दिया । तथागत की यह सम्पूर्ण शिक्षा निर्वाण की ओर अग्रसर करती है । इसके अतिरिक्त यह तथागत की अद्भुत उपदेश शैली को दर्शाती है कि केवल मनुष्य ही नहीं अपितु स्वयं यक्षों ने भी आकर तथागत से ज्ञान ग्रहण किया ।

3. कृषि भारद्वाज को प्रदत्त उपदेश

भगवान् तथागत दक्षिणागिरि के एकनाला ग्राम में वर्षावास कर रहे थे । एक दिन वे ब्राह्मण कृषि भारद्वाज के पास गये जब वह बीज बोने का कार्य कर रहा था । भारद्वाज ने बुद्ध के आगमन को भिक्षार्थ जानकर उनसे कहा कि, "श्रमण, जिस प्रकार मैं प्रयत्नपूर्वक खेत जोतता हूँ, बोता हूँ, तत्पश्चात् भोजन करता हूँ, उसी प्रकार तुम्हें भी कार्य करना चाहिये ।" इस प्रकार भगवान् ने कहा कि, " मैं भी तुम्हारे समान ही कृषि कार्य करता हूँ ।" इस पर आश्चर्यचकित होते हुए भारद्वाज ने पूछा कि कृषिकार्य में उपयोगी कोई भी वस्तु मुझे तुम्हारे पास दिखाई नहीं देती ।

" कथं बत विजानामि विनोपकरणैरहम् ।

कृषकत्वं प्रतिज्ञातं भवतः शब्दमात्रतः ॥ "1

तदनन्तर वह ब्राह्मण बोला कि "श्रमण मुझे न तो तुम्हारा जुआ दिखाई देता है, न हल, न फाल, न पनेठ और न बैल दिखाई देते हैं । मैं तुम्हारे वचन मात्र से कैसे स्वीकार कर लूँ कि तुम कृषक हो ।" तब भगवान् ने कृषि में उपयोगी वस्तुओं के माध्यम से निर्वाण रूपी कृषि करने की घोषणा की—

" तमेवं वादिनं प्राह लक्षणालंकृतो मुनिः ।

निरूपयन् परं तत्त्वं रूपकालंकृतिं श्रितः ॥ "2

बुद्ध ने कहा कि 'तप वृष्टि, प्रज्ञा जुआ सहित फल, पश्चात्ताप की भावना हरस, मन नथना तथा स्मृति फाल सहित पनेठ हैं । मैं शरीर से रक्षित हूँ, वचन से रक्षित हूँ तथा संयत उदर वाला हूँ । सत्य

¹ बु.वि.का. 80/10

² वही, 80/11

मेरे लिए हंसिए का कार्य करता है तथा उदारता मेरा लवन है । योग-क्षेम को उत्तमता से पूर्ण करने वाला मेरा उत्साह वृषभ के समान है । मेरे द्वारा की गयी कृषि अमृत की फसल देती है । इस कृषि के द्वारा व्यक्ति सर्व दुःखों से मुक्त हो जाता है :

" एषा मम कृषिः कृष्टा विरत्यमृतं फलम् ।

एतां कृष्ट्वा कृषिं लोकः सर्वदुःखात् प्रमुच्यते ॥ "1

भगवान् तथागत के इन वचनों को सुनकर उसने उन्हें ही वास्तविक कृषक माना । अमृत को उत्पन्न करने वाली कृषि के उपदेश से कृषि भारद्वाज ब्राह्मण से प्रव्रज्या ग्रहण कर अर्हत्त्व के पद को प्राप्त कर लिया । तथागत ने अमृत रूपी फसल को ही निर्वाण कहा है । इस प्रकार तथागत ने अपने समस्त उपदेशों के माध्यम से प्राणियों को निर्वाण-प्राप्ति की शिक्षा दी है । उपमाओं एवं सरल भाषा में निबद्ध यह उपदेश सभी प्राणियों के लिए बोधगम्य है ।

4. इन्द्र को प्रदत्त उपदेश :

आलोच्य ग्रन्थ के 82 वें सर्ग में वर्णन है कि भगवान् बुद्ध जैत्रवन् में आसनस्थ थे, तभी इन्द्र का आगमन होता है । इन्द्र उन्हें प्रणाम कर उनसे ये चार प्रश्न पूछते हैं :

" दान किमुत्तमं श्रेष्ठो रसः कः का रतिर्वरा ।

सर्वतृष्णाक्षयो नाथ कस्मादत्र महीयते ॥ "2

इन प्रश्नों में अन्तिम प्रश्न - " सभी तृष्णाओं का क्षय क्यों पूजनीय है ?" निर्वाण की ओर संकेत करता है । बौद्ध धर्म में सभी तृष्णाओं के क्षय को ही निर्वाण, परम शान्ति, शिव पद, अमृत पद तथा परम पद कहा गया है । ग्रन्थकार इसी तृष्णा क्षय को अपने शब्दों में अभिव्यक्त करते हुए कहते हैं कि अध्यात्म के सकल दुःखों को क्षण भर में शान्त करने वाला, शान्ति का अद्वितीय साधन यह तृष्णाओं का क्षय सर्वाधिक

¹ बु.वि.का. : 80/15

² वही, 82/3

विजयी है :

" अध्यात्मं यानि दुःखानि तानि संशमयन् क्षणात् ।

शमैकसाधनस्तृष्णाक्षयो विजयतेतराम् ॥¹

इन्द्र ने अन्य तीन प्रश्न भी निर्वाण को लक्ष्य करके ही पूछे थे । वे हैं -

1. उत्तम दान क्या है ?
2. श्रेष्ठ रस क्या है ?
3. सर्वोत्तम रति क्या है ?

भगवान् ने इन प्रश्नों का उत्तर देते हुये धर्म को उत्तम दान, धर्म को ही श्रेष्ठ रस तथा धर्म की रति को ही सर्वोत्तम रति बताया है -

" दानानामुत्तमं दानं धर्मदानं सुरोत्तम ।

रसेषु सकलेष्वत्र धर्मस्येव रसो वरः ॥

अतिशेते रतीः सर्वा धर्मस्य रतिरुत्तमा ॥²

इस प्रकार भगवान् बुद्ध ने स्वयं इन्द्र को भी निर्वाण का उपदेश दिया ।

5. नागराज को उपदेश :

45वें सर्ग में वर्णन है कि एरकपत्र नामक नागराज ने प्रतिज्ञा की कि जो मेरी पुत्री के द्वारा पूछे गये गीतों का उत्तर देगा उसी के साथ मैं अपनी पुत्री का विवाह करूँगा । उत्तर नामक एक विप्र माणवक नागकन्या की गीतियों का उत्तर देने के लिए तैयार हुआ । मार्ग में जाते हुये भगवान् बुद्ध से उसकी भेंट हुई । उसने भगवान् को प्रणाम किया, इस पर तथागत ने उससे पूछा कि, " उत्तर कहाँ जा रहे हो ?" तब उसने नागराज की प्रतिज्ञा का उल्लेख किया । इस पर तथागत ने कहा कि " तुम्हारे द्वारा रचित गीतियों से वह कदापि सन्तुष्ट नहीं होगा । मैं नागराज के परितोष के लिए उन गीतियों का उत्तर तुम्हें बताता हूँ । उन

¹ बु.वि.का. : 82/6

² वही, 82/4-5

गीतियों को कंठस्थ कर लो ।" भगवान् बोले नागकन्या का प्रथम गीत इस प्रकार है कि किसका अधिपति होने से राजा होता है ? वह कैसे रज का स्वामी होता है ? वह रज से कैसे विरहित होता है ? वह कैसे मूर्ख कहा जाता है—

" राजा किमाधिपत्येन स ईशो रजसः कथम् ।

कथं नु विरजस्कः स कथं बालः स उच्यते ।। "1

तथागत ने उसका प्रतिगीत बताते हुए उस उत्तर नामक माणवक से कहा कि, " जितेन्द्रिय राजा होता है । विजयी होने पर वह रज का स्वामी होता है । विरक्त होने पर वह रज से विरहित होता है तथा रागयुक्त होने पर उसे मूर्ख कहा जाता है । तदनन्तर कन्या का गीत होगा कि, " यहाँ मूर्ख किसके द्वारा प्रवाहित किया जाता है ? पण्डित कैसे पार निकलता है ? वह कैसे योग-क्षेम वाला होता है ? इसके प्रत्युत्तर स्वरूप गीति का कथन करते हुये तथागत बोले कि, ' इस लोक तथा परलोक में तृष्णा के प्रवाह द्वारा व्यक्ति बलात् प्रवाहित कर लिया जाता है । धर्म तथा अधर्म के क्षय से शुद्धचित्त वाले व्यक्ति की तृष्णा नष्ट हो जाती है । ग्रन्थकार शान्तिभिक्षु ने इसे ही योग एवं उपाय बताया है जिसके द्वारा व्यक्ति प्रवाह को पार कर जाता है । निर्वाण ही योग-क्षेम है, वह वितृष्ण को ही प्राप्त होता है । वितृष्ण ही योग-क्षेमी होता है—

" ओघेनहोत्थते बालो योगान्नुदति पंडितः ।

तृष्णायोगविसंयोगाद् योगक्षेमीति कथ्यते ।। "2

इस प्रकार उस उत्तर नामक छात्र ने इन्हीं प्रतिगीतों को भुजंगराज के समक्ष कहा । उन प्रतिगीतों को सुनकर नागराज 'भगवान् बुद्ध उत्पन्न हो गये हैं, ऐसा जान गया तथा छात्र के साथ भगवान् बुद्ध के समीप जाकर उनकी वन्दना की ।

1 बु. वि. का. : 45/3

2 वही, 45/24

(ग) आत्म-गवेषणा की शिक्षा :

1. भद्रवर्गीय कुमारों को उपदेश :

आलोच्य ग्रन्थानुसार वर्णन है कि तथागत ने तीस भद्रवर्गीय कुमारों को आत्म -गवेषणा की शिक्षा दी । इस उपदेश के अनुसार वे कुमार भगवान् से पूछते हैं कि, " क्या आपने किसी तरुणी को जाते हुये देखा है ?" तथागत ने उनके प्रश्न का उत्तर देने के स्थान पर उनसे प्रतिप्रश्न किया कि "अपने आप की खोज करना उत्तम है अथवा किसी अन्य स्त्री की ?" इस पर वे कुमार बोले कि अपने आपकी गवेषणा ही उत्तम है-

" आत्मानं वः किमन्वेष्टुं वरमन्यामथो स्त्रियम् ।

इत्युक्ता मुनिना प्रोचुर्वरमात्मगवेषणम् ।। "1

इस शिक्षा के माध्यम से उन्होंने प्रतिप्रश्नों के द्वारा स्वयं उनके मुख से उनके प्रश्नों का उत्तर ही नहीं दिलवाया अपितु अविद्या रूपी अन्धकार को नष्ट कर स्वयं की गवेषणा की दार्शनिक शिक्षा भी दी ।

¹ बु.वि.का. : 51/15

षष्ठ अध्यायबुद्ध का नैतिक एवं सामाजिक दर्शन

(क) पञ्चशील :

भगवान् तथागत ने निर्वाण प्राप्ति के लिए साधना पथ के तीन आनुक्रमिक चरण शील, समाधि एवं प्रज्ञा का अभिकथन किया है। शील इस त्रिचरण की आधारशिला है। इन शीलों में पञ्चशील, अष्टशील तथा दसशीलों का वर्णन बौद्ध साहित्य में प्राप्त होता है। जीवन के अभ्युदय के लिये तथागत ने पञ्चशीलों का उपदेश दिया -

1. प्राणातिपात विरति।
2. अदत्तादान विरति।
3. काममिथ्याचार विरति।
4. मृषावाद विरति।
5. सुरा-मय विरति।

दसशीलों में असमय में भोजन से विरति, माल्यगन्धविलेपनधारण मण्डन विभूषणादि से विरति, उच्चशय्या महाशय्या से विरति, स्वर्ण-रजत ग्रहण से विरति इनका भी समावेश है। इन दसशीलों का परिपालन भिक्षुओं के लिये बुद्ध ने आवश्यक बताया है। धम्मपद में पञ्चशीलों का पालन न करने वालों को बुद्ध नेस्वयं अपनी जड़ खोदना बताया है-

" यो प्राणमतिपातेति मुसावादं च भासति ।

लोकके अदिन्नं आदियति परदारं च गच्छति ।।

सुरा मेरय पानं न यो नरो अनुयुज्जति ।

इधेवमेसो लोकस्मिं मूलं खणति अत्तनो ।।"¹

1. प्राणातिपात - विरति :

प्राणातिपात विरति का तात्पर्य है- प्राणियों के वध से विरत अर्थात् किसी प्राणी की हिंसा न करना । बौद्ध मत में यही अहिंसा का अधिवचन है । आलोच्यग्रंथ में कहा गया है कि उपासकों को मनसा, वाचा, कर्मणा जीवों के प्रति दया, करुणा, प्रेम तथा मैत्रीभाव रखना चाहिये । इस संसार में धन, सम्पत्ति एवं अन्य भौतिक पदार्थों के लिए नित्यप्रति लूटपाट होती रहती है । आज मानव-मानव का शत्रु बन गया है । इसलिये वे हत्या जैसा पाप करने के लिये भी उद्यत हो जाते हैं जिससे उनका चित्त खिन्न हो जाता है । इसलिये उपासकों को इस प्रकार की निन्दनीय हिंसा को त्यागकर अहिंसा का पालन करना चाहिये । इस प्रकार अहिंसा पालन करने से मानव के मन में सुख की अनुभूति होती है ।²

इन पञ्चशीलों का विस्तृत विवेचन आलोच्यग्रंथ में करते हुए आचार्य शान्तिभिक्षु शास्त्री ने अहिंसा का मार्मिक वर्णन किया है-

"अहिंसा परमो धर्मः सत्त्वानामभयप्रदा ।

तथैव जीवनं लोके सर्वसत्त्वार्थमंगलम् ।।"³

इस श्लोक पर दृष्टिपात करने से विदित होता है कि जहाँ वेदों में यज्ञ हिंसा में बलि की प्रथा थी वहीं आचार्य प्रवर ने अहिंसा को सभी प्राणियों को अभय देने वाली तथा अभ्युदय के शिखर पर ले जाने वाली कहा है । अहिंसा के विषय में अपने उद्गार व्यक्त करते हुए वे कहते हैं कि, " जिसके हृदय में अहिंसा

¹ घ.प.-गा.सं. : 246-47

² बु.वि.का. : 39/31-37, 100/46

³ वही, 59/8

होती है, उसका कोई शत्रु नहीं होता । यहाँ उसे अपने से न कोई भय होता है, न पराये से । परन्तु यहाँ इस धरणीतल पर शस्त्रधारी सैनिक हिंसा से ही जीवनयापन करते हैं । वे हिंसक होते हुये भी इस पृथ्वी पर स्वयं को वीर मानते हैं, बहादुर समझते हैं । लूटपाट इत्यादि से धरणीतल पर जो हिंसा होती है तथा युद्ध में जो हिंसा होती है उसमें लोगों की हिंसा होती है । इस कारण से वह समानरूपा है एवं अति निन्दित है । पृथ्वी पर लोगों के ऊपर शासन करने वाला राजा मण्डल का नेता होता है अथवा गण नेता होता है किन्तु दोनों हिंसक होते हैं, सैनिकों पर निर्भर होते हैं । भूमि के लिये अथवा धन के लिये यहाँ नृप-नृप में लड़ाई होती है और पृथ्वी पर एक समुदाय दूसरे समुदाय के साथ युद्ध करता है, जिससे प्राणीपीड़ा होती है । जो सत्पुरुषों द्वारा निन्दित है, वह पाप कर्म है, मनुष्य को उसे कभी नहीं करना चाहिये । इसलिये सदैव ऐसे लोक जीवन से भय करना चाहिये, लोक में जहाँ कहीं हिंसा है, वहाँ धर्म नहीं है । जंगम तथा स्थावर जीवों के प्रति मैत्री से, अहिंसा को पालन करने वाला होना चाहिये, चोरी तथा असत्य से विमुख रहना चाहिये, कभी भी अपने हृदय में मार को ठहरने का अवसर नहीं देना चाहिये । धर्ममात्र के लिये अहिंसा सनातन क्षेत्रभूत है उसके बिना पृथ्वी पर धर्मप्रतिष्ठा नहीं होती । जो अहिंसा की सिद्धि करना चाहते हैं, उन्हें मांस का भोजन त्याग देना चाहिये क्योंकि पृथ्वी पर मांस के लिये ही प्राणी-हत्या होती है । जो युद्ध, मारकाट, मनुष्यों को बंधन में डालने का कार्य करते हैं वे निश्चय ही मानव-मुख वाले भेड़िये हैं ।¹ अहिंसा ही पृथ्वीतल पर महारत्नों की वह माला है जिसके द्वारा परिपूजित हो सर्व-प्रकारेण बुद्धों को सन्तोष होता है । प्राणीरक्षण को ही तथागत ने धर्म कहा है । पृथ्वीतल पर अहिंसा चित्त से बढ़कर कोई धर्म नहीं है । अहिंसकों को मृत्यु के अनन्तर भी अच्युत पद की प्राप्ति होती है । मन, वाणी तथा कर्म से यहाँ वह अहिंसा में स्थिर होकर सब लोगों का अवैरी होता है ।² ग्रन्थकार आचार्य शान्तिभिक्षु शास्त्री अहिंसा को ही

¹ बु.वि.का. 45/42, 48/15-19, 51/18, 59/7-8, 71/30, 75/22, 76/14

² वही, 88/28, 2/19-20, 96/36

लोक में सुख का सार बताते हुये कहते हैं कि-

"अहिंसैवात्र धर्मस्य सारो लोकसुखावहः ।

तथैव लोको नेतव्यो नेतृभिर्नविहिंसया ॥"¹

उनका यह भी कथन है कि अपने प्राणों के समान दूसरों के प्राणों को समझते हुये न प्राणियों की हत्या करे और न हत्या के लिये प्रेरित करे । ऐसे लोग मेरे लिये नमन के योग्य हैं-

"आत्मोपमान् प्रपश्यन्ति प्राणिनः प्रियजीवितान् ।

नमामि तान् कृपापूर्णान् घातयन्ति न हन्ति ये ॥"²

ग्रन्थकार का अहिंसा के प्रति यह भाव भगवान के वचन से अति साम्य रखता है । भगवान तथागत धम्मपद में कहते हैं कि सभी को मृत्यु से, दण्ड से भय है । इसलिये अपने जैसा जानकर किसी की हिंसा न करे और न हिंसा के लिये प्रेरित करे-

"सब्बे तसन्ति दण्डस्स सब्बे भयन्ति भच्चुनो ।

अत्तानं उपमं कत्वा न हनेय्य न घातये ॥"³

शीलवान लोग मनसा, वाचा, कर्मणा कभी भी पाप करने में प्रवृत्त नहीं हो सकते क्योंकि शील के होने पर ही अहिंसा की सिद्धि होती है-

"अहिंसैव सतां धर्मः सा शीले सति सिध्यति ।

शीलवन्तो न कुर्वन्ति पापं वाक्कायमानसेः ॥"⁴

¹ बु. वि. का. : 100/4

² वही, 2/21

³ ध. प. - गा. सं. : 129-130

⁴ बु. वि. का. : 51/20

अन्त में ग्रन्थकार अन्य यज्ञादि का विरोध करते हुये अहिंसा को ही महायज्ञ स्वीकार करते हैं—

"अयं यज्ञो महान यद्धि तपसात्मविशोधनम् ।

अविहिंसाप्रधानेन न यज्ञोऽन्यो मतो मम ॥"¹

2. अदत्तादान –विरति :

अदत्तादान विरति का तात्पर्य है— चौर्यकर्म से विरति । इस शील का आधार आचार्य शान्तिभिक्षु शास्त्री सम्यक् आजीविका को मानते हैं क्योंकि सम्यक् आजीविका से जीवन-यापन करने की प्रवृत्ति मानव की होगी, तो चोरी जैसा घृणित कार्य करने का प्रश्न ही नहीं उठता । जो प्राणी कभी भी अन्य प्राणियों के धन के अपहरण द्वारा अपनी वृत्तियों को दूषित नहीं करते वे ही यहाँ लोकपाल होते हैं, अन्य प्राणी नहीं । दुष्प्रवृत्ति एवं दुःशीलता से ही प्राणियों में चोरी इत्यादि की प्रवृत्ति उत्पन्न होती है । पुण्यात्मा प्राणी अन्य प्राणियों के श्रम एवं बुद्धिबल से उत्पन्न वस्तु को कदापि चौर्यकर्म के द्वारा ग्रहण नहीं करता । दूसरों को परिपीड़ित करने की प्रवृत्ति वाले संसार में अनेक मनुष्य हैं जो परस्पर की सम्पत्ति का हरण कर लेते हैं तथा स्त्रियों एवं बच्चों आदि का अपहरण कर लेते हैं ।² जो मनुष्य दूसरों की वस्तुओं का अत्यन्त लालची, आपस में चोरी का व्यवहार करने वाला, न दी गयी वस्तु को ग्रहण करने के चित्त वाला होता है, वह सचमुच हीन-मनुष्य होता है—

"लोलुपः परवस्तूनां स्तेयवृत्तिः परस्परम् ।

अदत्तादानचित्तो यः स सत्यमधमो जनः ॥"³

इसके अतिरिक्त आचार्य प्रवर अदत्तादान से विरत प्राणियों को नमस्कार करते हैं । उनका अभिकथन है कि जो प्राणी चोरी का मूलकारण परिग्रह को जानते हैं वे अदत्तादान के प्रति विरत रहते हैं । चौर कर्म

¹ बु. वि. का. : 32/11

² वही, 48/10, 51/22, 23, 53/27, 65/38

³ वही, 19/29

को हिंसा मानते हुये उनकी मान्यता है कि चौर कर्म से विरत रहने वाले नमन करने योग्य हैं।¹ तदनन्तर उनका आह्वान है कि जिसने परिश्रम से धनार्जन किया है वह धन उसी का ही है। चोरी से धन ग्रहण न करने वाले सज्जन मेरे हृदय में स्थित हों—

"यस्य श्रमेण संजात सत्स्वंतत्स्य वर्तते ।

तददत्तमनादानाः साधवः सन्तु मे हृदि ।।"²

3. काम-मिथ्याचार विरति :

'कामेषु मिच्छाचारविरति' शीलों में व्यवस्थित है जिसका अर्थ है— 'कामभाव एवं अशिष्ट आचरण का उपासकों द्वारा सर्वथा त्याग'। उपासकों को स्त्रियों के प्रति अत्यासक्ति का त्याग भी इसी के अन्तर्गत आता है। बौद्धग्रंथों में कामभाव का उल्लेख मार या शैतान के रूप में वर्णित किया गया है।

आचार्य प्रवर ने प्रस्तुत महाकाव्य में काम का वर्णन करते हुये सदैव उससे विरत रहने का उपदेश दिया है। उनका कथन है कि सर्वपरिग्रहों में कामिनी का परिग्रह मनुष्य को सर्वाधिक अपनी ओर आकर्षित करता है। इस परिग्रह से चित्त में जो आकर्षण उत्पन्न होता है उससे व्यक्ति कामुक होकर अनुचित आचरण करने लगता है। कवि उन कामुक व्यक्तियों से दूर रहने वालों को वन्दनीय मानता है—

"परिग्रहेण चैतेन कृष्ट चित्तस्य जायते ।

मिथ्याकामस्य चर्यात्र तामतीतान् नमाम्यहम् ।।"³

कवि का अभिमत है कि कामिनी एवं काञ्चन के प्रति अनासक्त की कौन वन्दना नहीं करता अर्थात् सभी के लिये वे वन्दनीय हैं। कवि स्वयं भी ऐसे व्यक्तियों को सन्त मानते हुये उनकी वन्दना करता है। तदनन्तर वर्णन है कि यदि संसार में सभी प्राणियों को अपनी भार्या मात्र से संतोष होने लगे तो काममूलक मिथ्याचार स्वतः ही समाप्त हो जायेगा परन्तु कामिनी के शरीर के सौन्दर्य के प्रति आकर्षित होने वालों के

¹ बु. वि. का. : 2/25

² वही, 2/26

³ वही, 2/29

के प्रति कवि की चेतावनी है कि कामिनी के ऊपर व्यय किये हुये धन के कारण ही वह गुणगान करने वाली होती है । वास्तव में वह सुखार्थी है, स्वार्थलिप्सु है । दरिद्रता एवं असमर्थता के होने पर वह विमुख कटुवाक्यों से ही अभिनन्दन करती है । सौभाग्य से यदि पतिव्रता स्त्री मिल जाती है, तो भी अल्पसुख की प्राप्ति होती है, अधिक सुख कभी प्राप्त नहीं होता । कालक्रम से जब व्यक्ति जीर्णविस्था को प्राप्त हो जाता है, तो उसकी स्त्री दुःखपूर्वक जीवन निर्वाह करती है । यदि स्त्री पहले मृत्यु को प्राप्त हो जाती है तो व्यक्ति को उसकी अस्थियों के प्रति क्या रति सम्भव है ? अर्थात् कदापि नहीं । इससे स्पष्ट है कि वह व्यक्ति स्व तथा पर शरीर में आसक्ति के कारण ही धनोपार्जन के निमित्त परिश्रम करता है, किन्तु उसे किसी प्रकार का आनन्द नहीं मिलता । अतः काम भोगों को त्यागकर स्त्री के प्रति अत्यासक्ति से पराङ्मुख होकर रहना चाहिये । कवि के अनुसार काम भोग तो सांसारिक झगड़े हैं ।¹ अर्थ एवं काम के प्रति अनासक्त भाव से ही धर्म की सिद्धि सम्भव है । चित्त की शुद्धि में काम-भाव शत्रुवत् कार्य करते हैं वे दुःख के मूल हैं, वैराग्य के द्वारा उनका त्याग करना चाहिये—

"चित्तस्य शोधने कामाः शत्रवः प्रबला इह ।

वैराग्येण विवर्ज्यस्ते सर्वदुःखैकहेतवः ।।"²

तदनन्तर कवि अर्थ एवं काम के प्रति आसक्ति को कीचड़ के समान मानता हुआ कहता है कि अनासक्त हुए विना प्राणियों का उद्धार सम्भव नहीं है—

"कामस्य कारणादेव द्वन्द्वं हि जगतीतले ।

अर्थकामेष्वसक्तस्य धर्मसिद्धिः प्रजायते ।।"³

¹ बु. वि. का. : 2/30, 48/9, 51/32-39, 66/12

² वही, 59/44

³ वही, 44/29

4. मृषावाद-विरति :

मृषावाद-विरति का तात्पर्य है असत्य भाषण से स्वयं को दूर रखना । मनुष्य को सदैव असत्य को त्यागकर सत्य धर्म का पालन करना चाहिये । राग-द्वेष, मोह, क्रोधादि दोषों से युक्त असत्य वचनों का त्याग तथा सर्वदा सत्य में दृढ़बुद्धि रखनी चाहिये । झूठ से बढ़कर कोई पाप नहीं है एवं सत्य से बढ़कर कोई पुण्य नहीं है- 'सत्यमेव जयते नानृतम्' । सत्यवादियों का यज्ञोगान तथा मृषावादियों की निन्दा अनेक ग्रन्थों में की गयी है । सत्यवादी के हृदय में ईश्वर का वास बताते हुये सत्य की महिमा का गान करते हुये कबीर कहते हैं-

'साँप बराबर तप नहीं, झूठ बराबर पाप ।

जाके हृदय साँच है, ताके हृदय आप ।"¹

बौद्ध धर्म में सत्यभाषण करने वालों को ही कार्य की सिद्धि बतायी गयी है । बुद्ध का कथन है कि उपासकों को सदैव झगड़ा, पिशुन-वचन, असम्बद्ध प्रलाप, कठोरवचन, रति राग के वचन, गर्वपूर्ण वचन, असत्य वचन एवं कटु सत्य वचनों का भी परित्याग करना चाहिये । असत्य के द्वारा कभी उत्तम कार्य की सिद्धि नहीं होती । इसलिये उपासकों को सर्वदा सत्य मार्ग का अवलम्बन कर निर्वाण-प्राप्ति के लिए अग्रसर होने का बुद्ध का उपदेश है ।

ग्रंथ प्रणेता कविवर शान्ति भिक्षु शास्त्री ने प्रस्तुत आलोच्य ग्रन्थ में सत्य को परिभाषित करते हुये कहा है कि आजीविका के अभाव में प्राणियों में चोरी जैसी दुष्प्रवृत्तियाँ उत्पन्न होती है, चोरी के कारण दण्ड-व्यवस्था प्रवृत्त होती है तथा दण्ड से बचने के लिये मनुष्य असत्य वचनों का आश्रय लेता है । इस प्रकार पाप में उत्तरोत्तर संवर्द्धन की सम्भावना बनी रहती है । जो प्राणी मृषावादी हैं उनके लिये कुछ भी अकार्य नहीं होता क्योंकि सभी पाप असत्य का आश्रय लेकर रहते हैं ।² कवि पादप्रक्षालन के पात्र की उपमा के द्वारा अपने मन्तव्य की सम्पुष्टि करते हुये कहते हैं कि मृषावादी पाद-पात्र में अवशिष्ट अल्प जल

¹ क. सा. सं. ,

² बु. वि. का. , 48/24 - 25

के समान है । जैसे पात्र में अवशिष्ट जल को फेंक दिया जाता है उसी प्रकार मृषावादी का श्रमणभाव उस जल के समान महत्त्वहीन है—

"क्षिप्तं मया जलं पश्य पात्रेऽल्पं यदभूतस्थितम् ।

श्रमण्यं क्षिप्तमेवं हि तेषां येऽनृतवादिनः ॥"¹

तदनन्तर कवि का कथन है कि उल्टे हुये पाद-पात्र के समान असत्यवादियों का सन्तभाव लज्जा से अधोमुखी हो जाता है —

"अधोमुखमिदं पात्रं लोचनाभ्यां विदांकुरु ।

त्रपयावाङ्मुखं सत्त्वं तेषां येऽनृतवादिनः ॥"²

तदनन्तर अन्य उपमाओं द्वारा असत्य भाव को समझाते हुये उन्होंने सत्यभाषण की महिमा का वर्णन किया है । संसार में कोई भी असत्यभाषणकर्ताओं का विश्वास नहीं करता । उसके द्वारा कही गयी सत्य बातें भी सभी को असत्य ही प्रतीत होती हैं । जिस प्रकार हाथी अपनी सूँड से अक्षम होने के कारण संग्राम के लिये उपयुक्त नहीं होता, उसी प्रकार मृषावादी आवश्यकता पड़ने पर व्यर्थ ही प्रतीत होता है । इसलिये जानकर कभी भी असत्य नहीं बोलना चाहिये, जो प्राणी असत्य बोलता है, वह पाप से भी दूर नहीं रह सकता । हास-परिहास में भी कदापि असत्य नहीं बोलना चाहिये । सत्य बोलने का ही प्रयास करना चाहिये सत्य बोलने का ही प्रयास करना चाहिये क्योंकि सत्य पर ही साधुता अवलम्बित रहती है । जिस प्रकार स्वच्छ दर्पण में अपना सम्यक् प्रतिबिम्ब दिखाई देता है, उसी प्रकार मनुष्यों को दोष रहित प्रमाण से सम्यक् ज्ञान होता है ।³ इसके अतिरिक्त जिस प्रकार दर्पण में देखकर मनुष्य अपने रूप की परीक्षा करता है उसी

¹ बु.वि.का. : 63/5

² वही, 63/6

³ वही, 63/7-12

प्रकार प्रमाण के द्वारा सत्य तथा असत्य की परीक्षा उसे करनी चाहिये—

"आत्मरूपं यथा दृष्ट्वा दृष्ट्वादर्थं परीक्ष्यते ।

प्रमाणेन तथा कार्यं सत्यासत्यपरीक्षम् ॥"¹

जो अहितकारी है, वह असत्य है तथा जो हितकारी है वह सत्य है । जिससे कोई अहित हो वैसा वक्तव्य नहीं देना चाहिये ।² कवि का आगे कथन है कि वही सत्य अभीष्ट होता है जहाँ मौन श्रेयस्कर हो । जो प्राणी सत्यकामी नहीं है, मृषावाद परायण है, पिशुन है, भेदकर्ता है, वह वास्तव में अधम मनुष्य है । इसके विपरीत जो सत्यवक्ता, सत्याभिलाषी एवं अवांचक होता है तथा सदैव सत्य बोलता है, वही प्राणी पुरुषोत्तम है । सत्यदर्शी को मनुष्य जन्म सुलभ होता है । देवता के रूप में जन्म भी दुर्लभ नहीं होता तथा अन्त में वैराग्य से उत्पन्न होनेवाली मुक्ति भी उसे प्राप्त हो जाती है । कवि ऐसे सत्यवादियों के प्रति नतमस्तक होते हुये कहता है कि—हिंसक, चौर कर्म में रत तथा कामासक्त मनुष्यों में सत्य की बुद्धि नहीं होती । सत्य में जिनका संकल्प है, उनकी मैं वन्दना करता हूँ ।³ इसके अतिरिक्त कोई ऐसा पाप नहीं है जिसे असत्यवादी न कर सकता हो । अतः असत्य से विरत मनुष्यों के प्रति मैं श्रद्धा धारण करता हूँ—

"असत्यवादिनः किञ्चिदकार्यं नास्ति पापकम् ।

असत्याद् विरतान् प्रीत्या वहामि निजमूर्धनि ॥"⁴

5. सुरा-मय-विरति :

सुरा-मय विरति का तात्पर्य है 'शराब इत्यादि मादक पदार्थों के सेवन से विरति ।' बुद्ध के पञ्चशीलों में यह अन्तिम है । ये मादक द्रव्य जहाँ प्राणियों के स्वास्थ्य को प्रभावित करते हैं, वहीं दूसरी ओर नशीले

¹ बु. वि. का. : 63/13

² वही, 63/16-17, 19/30

³ वही, 19/36, 62/17, 2/31

⁴ वही, 2/32

पदार्थों का क्रय-विक्रय करने वालों को करवञ्चना तथा असत्यभाषण को जन्म देते हैं । बुद्ध ने इन मादक द्रव्यों को सर्वथा त्याज्य बताया है । आचार्य प्रवर शान्तिभिक्षु शास्त्री ० मद्य की निन्दा करते हैं । वे मद्यपान को अतिनिन्दित कर्म मानते हुये सभी व्यसनों का मूल मानते हैं । मद्यपान मनुष्य को हिंसक एवं शीलदूषक बनाकर गर्त में गिरा देता है । वह व्यक्ति किसी भी प्रकार के पाप कर्म करने में लज्जा का अनुभव नहीं करता ।¹ मद्य सभी व्यसनों का मूल है । मतिमान् प्राणियों को उससे दूर रहना चाहिये । मद्य-व्यसनी किसीभी प्रकार के पापों को करने में लज्जा का अनुभव नहीं करता—

'मद्यं हि सर्वपापानां मूलं तन्न स्पृशेद बुधः ।

अकार्यं पापकं नास्ति मद्यपस्यात्र किञ्चन ।।"²

आचार्य प्रवर ने सभी उपासकों को उपदेश देते हुये कहा है कि— अपनी भार्या से सन्तुष्ट, मद्यपान से विमुख शीलवान् व्यक्ति लौकिक सत्य में स्थिरता को प्राप्त कर लेता है—

'स्वदारमात्रसंतुष्टो मद्यपानपराडः मुखः ।

शीलवानं लभते सत्ये प्रतिष्ठां लौकिके जनः ।।"³

कवि के लिये मद्यपान से विमुख व्यक्ति ही पूजनीय एवं नमन करने योग्य है ।⁴

¹ बु. वि. का. 48/26, 51/19

² बु. वि. का. 59/40

³ वही, 53/28

⁴ वही, 2/34

(ख) अपरिग्रह :

पञ्चशीलों के अतिरिक्त ग्रन्थ-प्रणेता आचार्य प्रवर शान्तिभिक्षु शास्त्री ने अपने महाकाव्य में भिक्षु और उपासकों को लोक के परिग्रह से दूर रहने का अपने महाकाव्य में भिक्षु और उपासकों को लोक के परिग्रह से दूर रहने का उपदेश दिया है क्योंकि लोक के प्रति परिग्रह अहिंसा का कारण है । भगवान् बुद्ध ने अपने उपदेशों में सभी प्राणियों से अपरिग्रही होने की प्रार्थना की । उन्होंने कहा कि मनुष्य को अत्यधिक धन एवं वस्तुएँ एकत्रित करने की तृष्णा को त्याग देना चाहिये । आचार्य प्रवर कहते हैं कि संसार में परिग्रह के कारण ही व्यक्तियों में हिंसक प्रवृत्ति उत्पन्न होती है । व्यक्तियों में परिग्रह के प्रति असीमित अभिलाषा होती है । उस असीमित परिग्रह के कारण ही अत्यधिक हिंसा उत्पन्न होती है । जो प्राणी अर्थ एवं कामभाव में अनासक्त है तथा कल्याणचित्त वाले हैं उनके द्वारा किये गये अल्पपरिग्रह में कोई दोष नहीं है । शरीर स्थिति के लिये जितनी वस्तु की आवश्यकता हो केवल उतना ही परिग्रह करना चाहिये । प्राणी को केवल भोजन, पानी, वस्त्र, आवास तथा कार्य हेतु उपकरण इन वस्तुओं की ही आवश्यकता होती है चाहे वह कोई नृप ही क्यों न हो ?¹ अन्य सभी वस्तुएँ प्राणियों में मद को उत्पन्न करती हैं । अतः जो प्राणी मद से निवृत्त होना चाहते हैं उन्हें अपरिग्रही होना चाहिये—

"विशेषा अपरे सर्वे जनयन्ति मदं भुवि ।

मदान्निवृत्तिकामानां तस्मात् कार्या न संग्रहः ।।"²

तदनन्तर आचार्य प्रवर शान्तिभिक्षु शास्त्री जी का कथन है कि गृहस्थ प्राणियों के लिये भिक्षु से अल्पाधिक संग्रह की ही आवश्यकता होती है । गृहस्थ को केवल दानार्थ ही संचय करना चाहिये ।³ गृहस्थों को अपने इन

¹ बु.वि.का. : 98/4-9

² वही, 98/10

³ वही, 98/11-12

कृत्यों के लिये संग्रह करते समय लोकपीड़न से सर्वथा बचना चाहिये—

" सुखार्थाय प्रवर्तन्ते प्राणिनः पृथ्वीतले ।

परिग्रहः परित्याज्यो यदि पीडा परिग्रहात् ।। "1

तदनन्तर उनका कथन है कि करुणार्द्र चित्त से दान देने वाला प्राणी अपरिग्रही एवं पापकर्म में कदापि प्रवृत्त नहीं होता तथा वही प्राणी पुरुषोत्तम है । प्राणियों में परिग्रह चित्त के उत्पन्न होने पर सर्वत्र हिंसा व्याप्त हो जाती है तथा भूमि एवं स्वर्णादि की प्राप्ति के लिये एक नृप दूसरे नृप पर आक्रमण करता हुआ देखा जाता है ।² ग्रन्थकार ऐसे अपरिग्रही प्राणियों को करबद्ध प्रणाम करता है—

" हिंसा प्रवृत्तं युद्धेषु भूदेशादिपरिग्रहात् ।

दृष्ट्वापरिग्रहप्रीतेरं विरतान् नौमि सांजलिः ।। "3

(ग) मांसभक्षण :

भगवान् बुद्ध ने जहाँ यज्ञीय हिंसा का विरोध किया है, वहीं भोजन अथवा अन्य किसी कार्य के लिये प्राणी वध की निन्दा की है । तथागत हिंसा के विरुद्ध थे और हिंसा तभी समाप्त हो सकती थी जब प्राणी अन्य प्राणियों के मांस भक्षण की रति को त्याग दे । भगवान् बुद्ध के समय की सामाजिक परिस्थितियाँ ऐसी थीं कि भिक्षुओं को गृहस्थों द्वारा यदा-कदा मांसदान दिया जाता था, तब परिस्थितिबश भगवान् ने यह नियम प्रतिपादित किया कि — भिक्षा में प्राप्त मांस-भक्षण में कोई दोष नहीं है, परन्तु कोई भिक्षु अपने स्वार्थ के लिये प्राणिवध न करे । यद्यपि तथागत ने परिस्थितिबश इसका समर्थन किया, परन्तु हृदय से वे मांस-भक्षण का आत्यान्तिक विरोध करते थे । उनके अनुसार प्राणियों की मांस भक्षण की तृष्णा के कारण ही वध होता है, यदि वह अपनी तृष्णा को त्याग दे तो संसार से हिंसा सर्वथा समाप्त हो जायेगी । उन्हें सभी सांसारिक प्राणियों के प्रति अपने हृदय में करुणा को उत्पन्न करना चाहिये । 'लंकावतार सूत्र' के मांस भक्षण परिवर्त में कहा है कि 'लाभ के लिये कसाई प्राणी की हत्या करता है तथा मांस के लिये व्यक्ति उसे धन

¹ बु. वि. का. : 98/13

² वही, 98/14-15, 19/35, 65/37

³ वही, 2/23

देते हैं, वे दोनों ही पापी हैं । बुद्ध का कथन है कि इन दोनों पापकर्ताओं को रौरव आदि नरकों की प्राप्ति होती है :

"लाभार्थं हन्यते सत्त्वो मांसार्थं दीयते धनम् ।

उभौ तौ पापकर्माणो पच्यते रौरवादिषु ॥"¹

लंकावतार सूत्र में त्रिकोटि परिशुद्ध मांस के विषय में भगवान् तथागत कहते हैं कि यह मांस भी बिना पकाये, बिना मांगे और बिना प्रेरणा के नहीं होता है, इसलिये यह मांस त्याज्य है :

" त्रिकोटिशुद्धमांसं वै अकल्पितमयाचितम् ।

अचोदितं च नैवास्ति तस्मान्मांसं न भक्षयेत् ॥ "²

मांस भक्षण की निन्दा करते हुये महाकाव्यकार आचार्य शान्ति भिक्षु शास्त्री ने प्रस्तुत आलोच्य ग्रन्थ में कहा है कि प्राणी मांसभक्षण के लिये स्वयं हत्या नहीं करता अपितु जो मांस के क्रय-विक्रय के द्वारा अपनी आजीविका चलाते हैं, वे ही मांस के लिये हत्या जैसा जघन्य-कर्म करते हैं । यदि संसार में मांसाहारी व्यक्ति निरामिष-भोजी हो जाँय, तो मांस हेतु होने वाली हिंसा स्वतः ही समाप्त हो जायेगी । संसार में यज्ञादि के लिये जो हिंसा की जाती है, वह भी प्राणियों के निरामिष हो जाने पर स्वतः ही समाप्त हो जायेगी । निरामिष प्राणी वध एवं बन्धन जैसे दुष्कृत्यों से विमुख रहते रहते हुये भी अन्य प्राणियों को अभयदान देते हैं ।³ कवि का यह भी कथन है कि अस्वादन के कारण ही प्राणियों की आमिष-भोजन में रति रहती है तथा आमिष प्राप्ति के लिये ही वे हिंसादि दुष्कृत्यों को करते हैं -

" रस्तृष्णापरस्यास्य लोकस्य रतिरामिषे ।

शक्यं न चामिषं लब्धुं प्राणिघातं विना भुवि ॥ "⁴

¹ लकां.सू. : गा./9, पृ. 104

² वही, गा. /12, पृ. 105

³ बु. वि. का. : 48/12-14, 51/21

⁴ वही, 58/19

तदनन्तर उनका कथन है कि धर्माचरण में रत प्राणियों के लिये मांसादि का भोजन सर्वदा त्याज्य है । यही नहीं उन्होंने भोजन में मात्रा को ध्यान रखने का भी परामर्श दिया है ।¹ ये भाव बुद्ध के धम्मपद में वर्णित भावों से अतिसाम्य रखते हैं :

" भोजनमिह च मत्तज्जुं सद्धं आरद्धवीरियं ।

तं ये नप्पसहति मारो वातो सेलं ब पब्बतं ।।"²

वैदिक धर्म में स्वर्ग की प्राप्ति होती है— इसी को अपना धर्म मानकर प्राणी सांसारिक जीव-जन्तुओं की हत्या करता है तथा मांस भक्षण के लिये जल, स्थल तथा आकाश में विचरण करने वाले प्राणियों की हत्या करता है :

" धर्मार्थं हन्ति लोकोऽत्र पुरुषाश्वगवात्यजान् ।

भोक्तुं मांसं तथा जीवाज्जलभूव्योमचारिणः ।।"³

तदनन्तर वर्णन है कि जो प्राणी स्वलाभ के लिये वधिक को वध हेतु पशु प्रदान करता है, वह अधम मनुष्य है तथा प्रथम हिंसक है । तदनन्तर जो प्राणियों की हत्या करता है वह अत्यन्त पापी तथा दूसरा हिंसक है । अन्त में जो मांस भक्षण करता है वह तीसरा हिंसक है क्योंकि सूनाकार उसी के निमित्त प्राणी हत्या करता है । इस सभी प्राणियों के हिंसक होते हुये भी जो मांस भक्षण करता है वह सर्वाधिक पापी है । यदि मनुष्य दयाचित्त को उत्पन्न कर मांस-भक्षण को त्याग दे तो हिंसा समाप्त हो जाएगी । जो विवेकहीन प्राणी मांसभक्षण करते हैं, वे पाप-भागी होते हैं । मांस-भक्षण की तृष्णा के कारण ही मनुष्य अपने जाति-बन्धुओं की हत्या कर देता है⁴:

" मांसस्य भक्षणात् क्रूरं नृणां चित्तं प्रजायते ।

अहिंसा नाधिगच्छन्ति क्रूरचित्ताः कथञ्चन ।।"⁵

¹ बु.वि.का, 59/39

² ध.प.गा./8

³ बु.वि. का. 65/36

⁴ वही, 75/24-30

⁵ वही, 75/31

कवि का मन्तव्य है कि मांस-भक्षण के द्वारा मनुष्य का चित्त क्रूर हो जाता है तथा वह कभी भी अहिंसा को प्राप्त नहीं होता । तदनन्तर तथागत ने मांसभक्षण को त्याग शाकाहारी भोजन करने का उपदेश दिया । उनका अभिकथन है कि बल एवं स्वास्थ्य-प्राप्ति के लिये शाकाहारी भोजन (मिश्री, दुग्ध एवं घृत युक्त चावल, गेहूँ) अत्युत्तम है । इस संसार में संसरण करता हुआ प्राणी अन्य मनुष्यों का पिता, माता, पुत्र, भ्राता, भार्या, बान्धव, सुहृद तथा प्रभु भी हो सकता है ।¹ इस कारण से मांस का भक्षण स्वजन का ही भक्षण है । इसलिये धर्मपरायण प्राणियों को मांस भक्षण नहीं करना चाहिये :

" मांसस्य भक्षणं तस्मात्स्वजनस्यैव भक्षणम् ।

ततो न भक्षयन्त्यत्र मांसं धर्मपरायणा ।।"²

तदनन्तर कवि का कथन है कि वैद्य भी शाकाहारी भोजन को आरोग्यता को प्राप्त करने वाला मानते हैं । वहीं भगवान् तथागत का कथन है कि सर्वदा मांस के परित्याग से , फल, अन्न एवं दुग्धाहार द्वारा ही धर्म की सिद्धि होती है क्योंकि मांस का त्याग मेरे अहिंसा धर्म का प्रधान अंग है ।³ इसी भाव को सरल संस्कृत में श्लोकरूप में निबद्ध करते हुये ग्रन्थकर्ता ने लिखा है कि;

" अहिंसा मम धर्मस्य सारभूता समासतः ।

अंगं प्रधानं तस्यात्र यन्मांसस्य विवर्जनम् ।।"⁴

(घ) स्वातन्त्र्य एवं स्वावलम्बन :

भगवान् बुद्ध ने प्राणियों की स्वतन्त्रता एवं उनके स्वावलम्बी होने का उपदेश दिया है । मनुष्य को मनसा, वाचा, कर्मणा सर्व प्रकारेण स्वतन्त्र होना चाहिये क्योंकि परतन्त्रता सर्वथा दुःखदायी होती है । स्वतन्त्र प्राणियों में ही विचार स्वातन्त्र्य देखा गया है । जो प्राणी पराधीन है वह कभी भी उन्नति के पथ पर अग्रसर

¹ बु.वि.का. : 75/32-34

² वही, 75/35

³ वही, 75/36-37

⁴ वही, 75/38

नहीं होता । सम्भवतः इसी को लक्ष्य कर गोस्वामी तुलसीदास ने कहा है कि पराधीन को स्वप्न में भी सुख प्राप्त नहीं होता—

" पराधीन सपनेहुँ सुख नाँही ।"¹

केवल भौतिक एवं आध्यात्मिक अभ्युदय का प्रश्न ही नहीं उठता । पराधीनता से मुक्ति के लिये जहाँ मनुष्य को अथक परिश्रम की आवश्यकता है वहीं उसे अपनी बुद्धि से विचार कर उस कार्य में प्रवृत्त होना चाहिये । भगवान् तथागत का धम्मपद में कथन है कि कार्य तो आपको करना है तथागत तो केवल मार्ग को बतलाने वाले हैं :

" तुम्हेहि किच्चं आतप्पं अक्खातारो हि तथागता "²

स्वातन्त्र्य या स्वतन्त्रता का अर्थ विचार स्वातन्त्र्य के साथ-साथ दासत्व से मुक्ति भी है । भगवान् बुद्ध का कालामो को दिया गया उपदेश विचार स्वातन्त्र्य एवं स्वावलम्बन के लिये अति प्रेरणादायक है । वे कालामो से कहते हैं कि—"एथ तुम्हे, कालामा, मा अनुस्सवेन, मा परम्पराय, मा इतिकिराय, मा पिटकसम्पदानेन, मा तक्कहेतु, मा नयहेतु, मा आकारपरिवितक्केन, मा दिट्ठिनिज्झानक्खन्तिया, मा भव्वरूपताय, मा समणो नो गुरुति ।"³

आचार्य शान्ति भिक्षु शास्त्री ने प्रस्तुत आलोच्य ग्रन्थ में स्वातन्त्र्यता एवं स्वावलम्बन पर बल देते हुये कहा है कि— जो मनुष्य स्वार्थलिप्सु है वे ही गोष्ठ में परतन्त्र किये गये पशुओं के समान मनुष्यों को दास बनाकर उन्हें पीड़ित करते हैं । संसार में कुछ मनुष्य स्वामित्व के अधिकार प्राप्त कर उन्मत्त हुये जीवनयापन करते हैं एवं कुछ मनुष्य दास होकर आत्माभिमान से रहित दुःखमयजीवन व्यतीत करते हैं । तदनन्तर कवि का कथन है कि इस संसार में पशुओं को परस्पर स्वजीवन समाप्ति का भय रहता है जबकि उन्हें एक दूसरे की दासता का कदापि भय नहीं रहता है । पशुओं की प्रवृत्ति मानव प्रवृत्ति से साधुतर है क्योंकि मनुष्यों को

¹ रा.मा., भा.0, चौ. / 102, पृ. 115

² ध.प.-गा. / 276

³ अंगु.नि. : भा.-1-ना.सं., पृ. 174

को परस्पर दासता एवं जीवन दोनों का भय बना रहता है ।¹ इसी तथ्य को उजागर करते हुये आचार्य प्रवर शान्तिभिक्षु शास्त्री कहते हैं :

" उभयं हि मनुष्याणां भयमन्योन्यनाशनम् ।

तथातिहीनचित्तानं मिथो दासत्वकारणम् ॥"²

कवि की मान्यता है कि पराधीन कदापि किसी प्रकार के सुख का लाभ नहीं होता । उनके अनुसार बाल एवं वृद्ध दोनों ही पराधीन है तब इस दुःखमय लोक में सुख कहाँ ? :

"दुःखं हि जीवनं यतः कृच्छ्रेण जीविका ।

बालवृद्धौ परायत्तौ परायत्तस्य किं सुखम् ॥"³

कवि ने केवल मानव की परतन्त्रता को ही दुःख की संज्ञा नहीं दी है अपितु स्त्रियों की परतन्त्रता भी उनकी दृष्टि से ओझल नहीं हो पायी है । इसी तथ्य को लक्ष्य करते हुये कवि का कथन है कि :

" युवत्यः परतन्त्रां हा दुःखा हि परतन्त्रता ॥"⁴

इस संसार में शक्तिशालियों या धनियों के द्वारा दास बनाये गये लोग अपने परिश्रम के द्वारा सम्पत्ति अर्जित करते हैं, वह वस्तुतः सम्पत्ति नहीं विपत्ति है, वहाँ शक्तिशाली स्वामियों द्वारा जय नहीं अपितु वह पराजय है । इसी तथ्य को कवि श्लोक के रूप में उद्घाटित करते हुये कहता है कि—

" प्रसूते विजयो वैरं दुःखं श्रेते पराजितः ।

उपशान्तः सुखं श्रेते हित्वा जयपराजयौ ॥"⁵

¹ बु. वि. का. : 44/18, 45/35-37

² वही, 45/37

³ वही, 49/19

⁴ वही, 49/20

⁵ वही, 76/16

कवि के अनुसार इस लोक में जयी एवं पराजयी दानों ही दुःख के भागी हैं केवल उपशान्त व्यक्ति ही परमसुख (निर्वाण) का लाभ है ।

इसलिये प्राणियों को अपने मानसिक धरातल में सुप्रवृत्तियों को उत्पन्न करना चाहिये जिसके द्वारा दासत्व एवं हिंसा की प्रवृत्ति का त्याग सम्भव हो । प्राणियों को परस्पर दास बनने के प्रयत्न को त्यागकर उनके साथ समानता का व्यवहार करना चाहिये तभी हम बुद्ध द्वारा कालामो को दिये गये उपदेश से कुछ प्रेरणा ग्रहण करने वाले माने जायेंगे ।

(ड.) जातिवाद - खण्डन :

बुद्ध के समय में वर्णव्यवस्था, यज्ञीय हिंसा, जातिवाद आदि का बोलबाला था । ऐसे समय में भगवान् बुद्ध ने इनका विरोध किया । यद्यपि बुद्ध के समय समाज जातिवर्ग में विभाजित था और वे इस जातिवाद का समूल नाश नहीं कर सके फिर भी जातिवाद के विरोध में बुद्ध द्वारा अभिव्यक्त विचार उनकी वैचारिक क्रांति के परिपोषक हैं । उनकी शिक्षायें जाँत-पाँत, ऊँच-नीच, लिंग, देश इत्यादि भेदभाव से परे थीं । बौद्ध धर्म में राजा और रंक सभी के लिये समान स्थान था । अधम जाति में उत्पन्न उपासि नापित भी प्रव्रज्या ग्रहण करके बौद्ध धर्म में उच्चपद पर प्रतिष्ठित हो सकता था और अन्य क्षत्रिय, ब्राह्मण, वैश्य इत्यादि भी उस पद को प्राप्त कर सकते थे । भगवान् बुद्ध के समय शूद्र वर्ण को समाज में हेय दृष्टि से देखा जाता था जबकि ब्राह्मण ही श्रेष्ठ समझे जाते थे । उस समय बुद्ध ने ब्राह्मणों की उस जन्मना श्रेष्ठता को अस्वीकार करते हुये सभी वर्णों को समान स्थान दिया था । सुत्तनिपात में कहा है न जन्म से कोई ब्राह्मण होता है, न जन्म से वृषल, बल्लिक कर्म से ही कोई नीच होता है और कर्म से ही ब्राह्मण -

" न जच्चा वसलो होति न जच्चा होति ब्राह्मणो ।

कम्मना वसलो होति कम्मना होति ब्राह्मणो ।।"¹

इसके अतिरिक्त बुद्ध ने ब्राह्मणों की जन्मना श्रेष्ठता को 'वासेट्ठ एवं अस्सलायन सुत्त'² में भी

¹ सु. नि. - व. सु. - गा. 27, पृ. 33

² म. नि. - ना. सं. भा. - 2, पृ. 403-11, 462-468

प्रत्याख्यान किया है । 'अम्बट्ठ सुत्त' में भी अम्बष्ठ को उपदेश देते हुये तथागत उसे मिथ्या जातिवाद के अभिमान को त्यागने के लिए कहते हैं :

" पहाय, रओ, अम्बट्ठ जातिवादविनिबद्धं च गोत्तवादविनिबद्धं च मानववाद विनिबद्धं ।

च आवाहविवाहविनिबद्धं च अनुत्तराय विज्जाचरणसम्पदाय सच्छिकिरिया होतीति ।।"¹

'धम्मपद' में भी भगवान ने योनि से उत्पन्न होने वाले को ब्राह्मण स्वीकार नहीं किया है । उनके अनुसार तो अपरिग्रही एवं त्यागी ही ब्राह्मण है :

" न चाहं ब्राह्मणं ब्रूमि योनिजं मत्तिसम्भवं ।

'भोवादि' नाम सो होति स चे होति सकिज्जनो ।

अकिज्जनं अनादानं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ।।"²

मनुष्य जाँत-पाँत के आधार पर उत्तम या अधम नहीं बनता अपितु अपने सुकर्मों के द्वारा उत्तम तथा दुष्कर्मों के द्वारा अधम बनता है । बुद्ध के जातिवाद के प्रति इन क्रांतिकारी विचारों के कारण ही बिना किसी भेदभाव के संघ में प्रवेश होने लगा । उनके अनुयायियों में उच्चवर्ण ब्राह्मण और महावीर के शिष्य भी थे ।

आचार्यप्रवर श्री शान्तिभिक्षु शास्त्री ने प्रस्तुत महाकाव्य में तथागत की जाति विरोधी शिक्षाओं का वर्णन करते हुये कहा है कि समाज में कुछ स्वाभिमानी व्यक्ति स्वयं को जन्म से उच्च समझते हैं तथा अन्य जन्म से हीन प्राणियों को अपमानित करते रहते हैं । इसलिये उन्होंने ऐसे व्यक्तियों को गुण-विहीन अतिमूढ़ माना है । उनका कथन है कि जो गुणी हैं वही उत्तम है ³ तथा दोषी स्वयंमेव अधम ही है । कवि के मतानुसार गुण एवं दोष का कारण कर्म ही होता है जाति नहीं :

"गुणवानुत्तमः सत्यं दोषवानधमः स्वतः ।

कर्मैव दृश्यते हेतुर्न जातिर्गुणदोषयोः ।।"⁴

¹ दी. नि. - ना. सं. - भा. 1, पृ. 87

² ध. प. - ग., 396

³ बु. वि. का. : 19/23-24

⁴ वही, 19/25

कविवर श्रान्तिभिक्षु शास्त्री उच्चावच्य का कारण कर्म को मानते हैं, जाति को नहीं क्योंकि कोई भी उच्च जाति में उत्पन्न होने के कारण सत्कार के योग्य नहीं है। जाति के उच्च होते हुये भी अधम कार्यों को करने वाला अपने कार्यों के कारण अधम ही कहा जाता है।¹ तथागत दोषी एवं अधम प्राणी की संज्ञा बृषल से देते हैं। उनके अनुसार दोषी एवं अधम प्राणी बृषल के समान है क्योंकि प्राणी जन्म द्वारा नहीं अपितु अपने कर्मों द्वारा बृषल होता है। बुद्ध के इसी भाव को श्लोकबद्ध करते हुये कवि का कथन भी कितना मनोरम है :

" दोषवान योऽधमो लोकः स एव बृषलः किल ।

जन्मना बृषलो नात्र कर्मणा बृषलो मतः ॥"²

तदनन्तर कवि का अभिकथन है कि प्राणी स्वकर्मों के द्वारा ही ब्राह्मणता को प्राप्त होता है जाति के द्वारा नहीं -

" एतादृगुत्तमो लोको यस्तु ब्राह्मण एव सः ।

जन्मना ब्राह्मणो नास्ति कर्मणा ब्राह्मणो मतः ॥"³

कवि आगे जातिवाद को वर्णित करते हुये लिखता है कि धर्मसिद्धि का एकमात्र कारण ज्ञान ही होता है, आयु एवं जाति नहीं। कवि जाति के कारण माने गये बान्धव भाव को एक प्रकार की प्रवञ्चना मानता है। वे समान जाति वालों को भी परस्पर विघातक मानते हैं।⁴ कवि की मान्यता है कि इस धरणीतल पर जाति-बान्धवों के न होते हुये भी, विश्वास के योग्य अल्पमनुष्य होते हैं तथा वे ही रक्षक होते हैं :

" रक्षायै कल्पते जातिर्विश्वासपरमो भुवि ।

सजाता अपि दृश्यन्ते परस्पर विघातकाः ॥"⁵

इस प्रकार जातिवाद के विरोध द्वारा तथागत ने समाज में एक प्रकार की वैचारिक क्रान्ति को जन्म दिया।

¹ बु. वि. का. : 19/26-27

² वही, 19/32

³ वही, 19/38

⁴ वही, 67/39, 88/20

⁵ वही, 88/21

(च) रोषी परिचर्या एवं सेवाभाव :

भगवान् बुद्ध ने 45 वर्षों तक चारिका करते हुये जनसामान्य को उपदेश दिये । इन उपदेशों में मानव के अभ्युदय के सूत्र भरे पड़े हैं । उन्होंने भिक्षुओं को सम्बोधित करते हुये कहा कि, 'हे भिक्षुओं ! बहुजनहिताय और बहुजनसुखाय चारिका करो ।' बुद्ध के इन उपदेशों में सेवाभाव का भी संकेत है । असहाय, दुःखी परिपीडितों की सेवा की बौद्ध धर्म में भूरि-भूरि प्रशंसा की गयी है । बौद्धधर्म में बोधिसत्त्व द्वारा पारमिताओं का अभ्यास भी सेवाभाव और परहित का आदर्श प्रस्तुत करता है । तथागत ने सार्वजनिक हित एवं सेवा को व्यक्तिगत हित-साधन से बढ़कर माना है । इसलिये बौद्धधर्म में संघ को व्यक्ति से बढ़कर माना गया है । जैसाकि इस कथानक से सुस्पष्ट है- "एक समय भगवान् बुद्ध कपिलवस्तु ने न्यग्रोधाराम नामक आश्रम में विहार करते थे । उस समय महाप्रजापति गौतमी नये धुस्से के जोड़े को लेकर भगवान् के पास आयीं और अभिवादन कर कहा- "भन्ते ! अपना ही काता, अपना ही बुना मेरा यह नया धुस्सा जोड़ा भगवान् को अर्पण है । भगवान् कृपा कर इसे स्वीकार करें ।"¹ इस प्रकार गौतमी द्वारा प्रार्थना किये जाने पर तथागत ने कहा कि- "गौतमी इसे संघ को प्रदान कर दो । संघ को देने से मैं भी पूजित होऊँगा तथा संघ भी ।"²

इसी प्रसंग में आगे उपदेश देते हुये तथागत ने कहा, " किसी प्रकार भी संघ विषयक दक्षिणा से व्यक्तिगत दक्षिणा को मैं अधिक फलदायक नहीं मानता ।"³ तदनन्तर एक बार उपदेश देते हुये तथागत ने कहा कि, " ऐसा नहीं समझना चाहिये कि एक रोगी की सेवा में उतना पुण्य नहीं है और एक व्यक्ति को मरता हुआ छोड़ बहुत से रोगियों की सेवा की उपेक्षा करे । रोगी की सेवा व्यक्तिगत हो अथवा सामूहिक, सभी में अतिपुण्य होता है ।"⁴

भगवान् बुद्ध ने स्वयं अपने हाथ से रोगियों की सेवा की थी और कहा था कि जो रोगियों की सेवा करता है, वह मेरी ही सेवा करता है- "यो, भिक्खवे, मं उपट्ठहेय्य सौ गिलानं उपट्ठहेय्य ।।"⁵

¹ म. नि. - ना. सं. - भा. - 3, पृ. 339

² वही, पृ. 339

³ वही, पृ. 342

⁴ महा. : ना. सं., पृ. 317

⁵ वही, पृ. 317

तथागत उपदेशानुसार प्राणी को व्यक्तिगत भोग-लिप्सा में न पड़कर, आत्म-शुद्धि के साथ सार्वजनिक सेवा की ओर ध्यान देना चाहिये । परहित को ध्यान में रखकर, सर्वदा संसार की भलाई के लिये धर्म का आचरण करना चाहिये । प्रस्तुत आलोच्य ग्रंथ में ग्रन्थ-प्रणेता का अभिकथन है कि अग्रजों की सेवा ही अनुजों का कर्तव्य है । आलोच्य ग्रंथ में भगवान तथागत ने जहाँ धनपति ब्राह्मण के पुत्रों को अपने पिता की सेवा करने की आज्ञा दी है वहीं गुरु को भी अपने रोगी शिष्य की सेवा का उपदेश दिया है । इसके अतिरिक्त उन्होंने दुःखी प्राणियों की सेवा करने का आदेश भी संघ को दिया -

" बुद्धानां दुःखिसेवैव धर्मो यस्मात्सनातनः ।।" ¹

उनका कथन है कि संघ में परस्पर भिक्षुओं को एक-दूसरे की सेवा करनी चाहिये । भिक्षुओं को उपदेश देते हुये वे कहते हैं कि तुम सभी ने गृहत्याग कर धर्म की शरण ली है । अतः तुम स्वयं ही बन्धु-बान्धव हो । रुग्णों की सेवा के विषय में तथागत का कथन है कि रोगी सेवा करने वाला प्राणी तथागत की ही सेवा करता है । इस प्रकार तथागत के मत में रोगी सेवा ही वास्तविक बुद्धोपासना है :

" रोगिणं सेवते योऽत्र सेवते स तथागतम् ।

परिचर्यावतुराणां हि सुगतोपासनोत्तमा ।।" ²

आगे कविवर शान्तिभिक्षु शास्त्री की मान्यता है कि प्राणी सेवा-भाव से पराङ्मुख बौद्ध होते हुये भी अबौद्ध ही है-

" बौद्धमन्योऽपि नामानि बुद्धस्यात्र जपन्नपि ।

अबौद्ध एव ज्ञातव्यो रोगिसेवापराङ्मुखः ।।" ³

तदनन्तर उनका कथन है कि परिचर्या में संलग्न व्यक्ति को रोगी के प्रति करुणाभाव आवश्यक है क्योंकि निष्ठुर व्यक्ति के द्वारा की गयी सेवा निष्फल होती है । करुणा-चित्त के द्वारा की गयी सेवा भेषज्य का कार्य

¹ बु. वि. का. : 93/13

² वही, 91/14

³ वही, 91/15

करती है ।¹ उनकी मान्यता है कि निष्पूर-भाव से की गयी सेवा रोगियों के लिये सुखदायी नहीं होती जबकि निष्कपट भाव से की गई सेवा रोगी के लिये संजीवनी का कार्य करती है—

" मनसा निश्छलेनैव कर्तव्यम् रोगिसेवितम् ।

अमायया कृता सेवा रोगिसंजीवनी यतः ।।"²

यही नहीं उनका कथन है कि रोगी-सेवा करने वाले को ही बोधिचित्त की प्राप्ति होती है । अन्य प्राणियों के दुःख से दुःखी होने वाला, दयालु तथा परार्थ हितेच्छु द्वारा की गयी परिचर्या ही सफलता की द्योतक है ।³

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि बौद्ध धर्म शीलोपासक है । बुद्ध के पञ्चशीलों का परिपालन आजद्रुतगामी जीवन में अतिआवश्यक है । आज हिंसा, चोरी, लूटपाट, व्यभिचार, मादक द्रव्यों का सेवन चतुर्दिक् दिखाई देता है । आज हमारी दुर्गति का पार नहीं है । जिस दिन से भगवान् तथागत का अहिंसा का सन्देश हमारे द्वारा विस्मृत कर दिया गया, उसी दिन से हमारा चित्त संकीर्ण हो गया है, हृदय अपवित्र, नीच एवं मलिन हो गया है । भेदबुद्धि हिंसा, झुठरा एवं मत्सरता से चित्त जर्जरित हो गया है । वैसे तो आज पञ्चशीलों की आलोचना करने वालों की कमी नहीं है, तथापि यदि हम पञ्चशीलों का परिपालन करें तो हमारा दृष्टिकोण परिवर्तित हो सकता है । पञ्चशील हिंसा का निषेध करते हैं क्योंकि यदि हम किसी को जीवन प्रदान नहीं कर सकते तो उसे अपहरण करने का भी अधिकार नहीं है । अपने परिश्रम एवं सद्कर्म से उपार्जित सम्पत्ति से ही सन्तुष्ट रहना चाहिये । पञ्चशीलों में असंयम और असत्य की निन्दा है । इसके अतिरिक्त तथागत ने सुरा आदि मादक द्रव्यों के सेवन का भी निषेध किया है । इनके परिपालन सेमानव समाज का भौतिक एवं आध्यात्मिक अभ्युदय अवश्यम्भावी है । मानवीय मूल्यों की पुर्नस्थापना के लिये भगवान् बुद्ध की अहिंसा के अतिरिक्त अन्य कोई विकल्प आज उपलब्ध नहीं है ।

प्रायः सभी धर्मग्रन्थों में अहिंसा की महिमा का गुणगान किया गया है । सभी अहिंसा की प्रशंसा करते हैं,

¹ बु.वि.का. : 91/18

² वही, 91/19-21

किन्तु आज अहिंसा का अर्थ अति संकुचित कर दिया गया है । आज मनुष्येतर प्राणी का मांस खाने वाले भी स्वयं को अहिंसक कहते हैं और हिंसा को हिंसा से रोकना चाहते हैं, यह तो अहिंसा की विडम्बना मात्र है । शास्त्रकारों, महापुरुषों एवं धर्माचार्यों ने तो प्राणिमात्र की हिंसा को हिंसा कहा है और उससे सर्वथा बचने को ही अहिंसा माना है ।

भगवान् बुद्ध ने व्यक्ति, समाज एवं धर्म के क्षेत्र में प्रचलित हिंसा का आत्यान्तिक विरोध किया । उन्होंने हिंसक राजाओं, और ब्राह्मणों के मध्य उपस्थित होकर हजारों यज्ञीय पशुओं को मुक्त कराया, यज्ञ यूपों को नष्ट करवाया तथा पशुबलि को बन्द करा दिया । उन्होंने 'कूटदन्त सूत्त' में केवल यज्ञीय हिंसा की निन्दा ही नहीं की अपितु राजा महाविजित के यज्ञ में आहुति दी जाने वाली सामग्री को भी समाज के विकास में बाधक माना । यहाँ राजा महाविजित को उनके पुरोहित द्वारा दिये गये कथा के रूप में उपदेश को उद्धृत करना अति प्रासंगिक होगा । "महाविजित नामक राजा जो सकल सुख एवं समृद्धि को प्राप्त था, उसने यह निश्चय किया कि वह एक महायज्ञ करेगा । कथानुसार इस यज्ञ में दुधारु पशु और राष्ट्रीय सम्पत्ति की आहुति देनी थी इस सकल व्यय का भार अन्ततः जनता पर ही पड़ता क्योंकि अधिक कर लगाकर ही इन व्यर्थ के कार्यकलापों का व्यय निकाला जाता । कथा यह भी संकेत देती है कि राज्य सत्ता की अनभिज्ञता के कारण राज्य की बिगड़ती हुई आर्थिक स्थिति ऐसे व्यर्थ के व्यय में और अधिक जर्जर हो जाती । इस कथानुसार राजा के पुरोहित ब्राह्मण ने उन्हें परामर्श दिया कि इस प्रकार के प्रयोजन रहित कार्य के स्थान पर आर्थिक स्थिति को सुधारने वाली अधिक रचनात्मक नीतियाँ बनायीं जाये । पुरोहित ब्राह्मण ने राजा को परामर्श देते हुये कहा कि— "आपका राज्य पीड़ायुक्त है, जिसमें ग्रामों, निगमों और नगरों में लूट दिखाई दे रही है । आप इस प्रकार की दशा वाले राज्य से कर ग्रहण करते हैं इसलिये आप भी अकृत्यकारी हैं । अपना यह विचार हो सकता है कि लूटपाट रूपी कील का वध, बन्धन हानि और निर्वासन से उन्मूलन हो जायेगा परन्तु यह सम्भव नहीं है क्योंकि इस प्रकार के दुष्टों में से कुछ के अवशिष्ट रह जाने पर वे कालान्तर में राज्य को उत्पीड़ित करेंगे ।" इसके उन्मूलन का उपाय बताते हुये पुरोहित राजा से कहते हैं कि— "जो व्यक्ति राजा के राज्य में पशुपालन और खेती करने के लिये उत्साहित हैं उन्हें राजा पूँजी प्रदान करें, जो राज्य की सेवा के लिए उत्साहित हैं उन्हें आप वेतन दें तथा जो वाणिज्य में उत्साहित हैं उन्हें आप पूँजी प्रदान करें । इस प्रकार स्व-स्वकर्मों में संलग्न वे व्यक्ति

राजा के राज्य को कभी नहीं सतायेंगे तथा राज्य क्षेमयुक्त, अकण्टक तथा पीड़ाविहीन हो जायेगा । पुरोहित के परामर्शानुसार राजा ने वैसा ही किया । इस कारण समग्र राज्य समृद्ध, अकण्टक एवं पीड़ाविहीन हो गया ।¹

इस प्रकार उक्त कथा से स्पष्ट हो जाता है कि भगवान् तथागत ने अपने अनेक अनुयायियों को अहिंसा पूर्ण आचार एवं व्यवहार में परिपक्व करने के लिए अत्यधिक प्रयत्न किया जिससे वे हिंसक समाज में जाकर धर्मानुकूल व्यवहार करें और मृत्युपर्यन्त अहिंसक वृत्ति का परित्याग न करें । यज्ञीय हिंसा के विरोध के साथ ही समाज की आर्थिक स्थिति को भी सुदृढ़ करने का सूत्र भी उन्होंने प्रदान किया है । इसके अतिरिक्त तथागत ने अपरिग्रही होने का जो उपदेश दिया है, वह भी आज समाज के लिए अनुकरणीय है । अधिक मात्रा में संग्रह प्राणियों में असमानता के साथ-साथ वर्ग संघर्ष को जन्म देती है ।

समाज की सुव्यवस्था के लिये आज अपरिग्रही होना आवश्यक है । आज मानव मात्र की यह प्रवृत्ति है कि वह दैनिक उपयोग में आने वाली आवश्यक वस्तुओं का संग्रह कर लेता है । ऐसे परिग्रही व्यक्ति को तो कुछ आर्थिक लाभ हो जाता है परन्तु इससे जनसामान्य में सामान्यतया खाद्य-वस्तुयें न मिलने पर अत्यधिक कठिनाईयों का सामना करना पड़ता है । बुद्ध का अपरिग्रह का सिद्धान्त जहाँ स्वयं नैतिकता से परिपूर्ण है वहीं समाज को समरसता एवं शान्ति से आपूरित करने का माध्यम भी है । इसी को लक्ष्य कर ग्रन्थ प्रणेता ने कहा है कि :

“ पृथिव्या वैभवं भूरि स्वल्पैरेवोपभुज्यते ॥

जनतन्त्रात्मके राज्ये बहुत्र वितते सति ।

धनादयैः क्रियते भूरि प्रजानां परिशोषणम् ॥”²

इसके अतिरिक्त भगवान् बुद्ध ने समाज में व्याप्त जन्मना जातिवाद की कुरीति की भर्त्सना की है । बौद्ध धर्म में सभी मनुष्य समान हैं । ऊँच-नीच का कोई भेद नहीं है । तथागत के अनुसार उच्च जाति में जन्म लेने से कोई भी प्राणी उच्च नहीं होता अपितु अपने सत्कर्मों द्वारा ही महान होता है । बुद्ध ने अपने जातिगत

¹ दी.नि. - ना.सं.-भा-1, पृ. 114-17

² बु.वि.का. : 100/14, 34

विचारों को स्वयं व्यवहार रूप में अपनाया है । बौद्ध ग्रन्थों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि उन्होंने सभी धर्म, सम्प्रदायों, वर्ण एवं जाति के मनुष्यों को संघ में प्रवेश दिया था । वे दलितों को अपने संघ में प्रवेश के लिये प्राथमिकता देते थे । यदि उन्हें समानाधिकार की स्थापना में अग्रगण्य स्वीकार किया जाये तो अनुचित न होगा । जातिवाद रूपी विषके शमन के लिये बुद्धोपदेश एक अचूक औषध है । बुद्ध के जातिगत विचार आधुनिक समाज में जितने प्रासंगिक हैं उतने अपने समय में नहीं थे । बुद्ध के समय में दलितों पर इतना अत्याचार नहीं होता था जितना कि आज हो रहा है । जन्मना वर्ण-व्यवस्था को दूर करने के लिये भगवान् तथागत के जातिगत विचारों का अनुसरण करना आवश्यक है । समाज में एकता स्थापित करने में बुद्ध का निम्न कथन अवश्यमेव सहायक होगा—" जिस प्रकार अनेक नदियाँ { गंगा, यमुना, अचिरवती, सरयू, मही } महासमुद्र में मिलकर अपने पूर्व के नाम को छोड़ देती हैं और उनकी संज्ञा समुद्र हो जाती है । इसी प्रकार बौद्ध संघ में प्रवेश करने पर प्राणी अपनी जाति के अस्तित्व को खो देते थे ।¹

उदान की इस गाथा से स्पष्ट हो जाता है कि बुद्ध के विचारों का अनुसरण करने से वर्णभेद, जातिभेद, ऊँच-नीच की भावना से सामाजिक एकता अवश्यम्भावी है । स्पृश्यता के पाप से बचने के लिये तथागत के जातिगत विचारों का अनुसरण करना आज अत्यावश्यक है ।

बौद्ध परम्परा ईश्वर एवं आत्मा की सत्ता को स्वीकार नहीं करती । इन सत्ताओं के अभाव में मानव कैसे अपनी जीवन यात्रा पूर्ण करे ? इस पर भगवान् बुद्ध ने कहा कि "तुम स्वावलम्बी बनो — अत्ता ही अत्तनो नथो, अत्तदीपा भवथ अत्तसरणा ।² यह कर्म सिद्धान्त बौद्धों का प्रमुख सिद्धान्त है । इस सन्दर्भ में वक्कलि का उदाहरण देना प्रासंगिक है । वक्कलि नामक भिक्षु तथागत के पास बैठकर इन्हें देखा करते थे और समझते थे कि तथागत के दर्शन मात्र से मुझे मुक्ति मिल जायेगी । इस पर तथागत ने उन्हें डाँटते हुये कहा कि— "वक्कलि जो धर्म को देखता है, वह मुझे देखता है ।"³ इस प्रकार उन्होंने वक्कलि को परावलम्बन से दूर रहकर स्वावलम्बी बनने की शिक्षा दी ।

¹ उ. : ना.सं., पृ. 127

² ध.प.-गा. : 188-189

³ संयु. नि. - ना.सं.-ख.व., पृ. 341

बुद्ध ने विचार स्वातन्त्र्य की शिक्षा भी अपने शिष्यों को दी है जिसका हम पूर्व में वर्णन कर चुके हैं । बुद्ध ने आग्रह के साथ कहा है कि जो उनके उपदेश का श्रवण करें वे उनका अन्धानुकरण न करें अपितु अपना स्वतन्त्र मत बनायें । उन्होंने बार-बार कहा है कि हम उतना ही स्वीकार करें जितना हम स्वयं उसे उचित समझते हैं । 'मज्झिमनिकाय' के 'अलगद्दूपमसुत्त' में भिक्षुओं को दिया गया उपदेश उन्हें उच्चकोटि का स्वतन्त्र विचारक सिद्ध करता है । उपमा के माध्यम से प्रदत्त यह उपदेश मानव जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में सभी के लिये समान रूप से उपयोगी है । बुद्ध भिक्षुओं को सम्बोधित करते हुये कहते हैं कि कोई मनुष्य गम्भीर शास्त्रों का अध्ययन करे, कण्ठ करे परन्तु उनके अर्थ को प्रज्ञा से न परखे, मात्र उनका उपयोग ख्याति प्राप्ति के लिये, आजीविका के लिये करे तो वह तोते जैसा ज्ञान हानिकारक हो सकता है । जिस प्रकार कोई सपेरा भयंकर सर्प को पकड़ ले, परन्तु उसकी देह या पूँछ का मर्दन न करे, तो वह सर्प बलवान और दक्ष सपेरे को भी काट लेगा, उसकी पकड़ व्यर्थ हो जायेगी । इसी प्रकार प्रज्ञा से जिन शास्त्रों का वास्तविक अर्थ और भाव न समझा हो, ऐसे शास्त्रों का लाभ अपनी ख्याति के लिये उपयोग करने वाला मनुष्य अन्ततः दुर्गति को प्राप्त होता है । इसके विपरीत जो प्रज्ञा द्वारा शास्त्रों के अर्थ को सम्यक् रूपेण ग्रहण करता है वह कुशल सपेरे के समान है ।¹ इसके अतिरिक्त विचार स्वातन्त्र्य की शिक्षा का अति उत्तम उदाहरण 'अंगुत्तरनिकाय' में मिलता है । कालामो को दिया गया उपदेश उन्हें उच्चकोटि का स्वतन्त्र विचार सिद्ध करता है । वे कालामो से कहते हैं कि—'किसी उपदेश को वह परम्परागत है, ऐसा समझकर सत्य मत मानना । किसी बात को इसीलिए नहीं मानना चाहिये कि उसके उपदेष्टा हमारे गुरु हैं । किसी बात को इसीलिए नहीं मानना चाहिये कि उसे बहुसंख्यक लोग मानते हैं अपितु कालामो तुम्हें अपनी बुद्धि से विचार करना चाहिये कि यह बात सर्वहित की है । जो बात हितकर होगी, वह सुखदायक होगी । उसका पालन करने पर कल्याण होगा ।'²

बुद्ध के स्वातन्त्र्य एवं विचार स्वातन्त्र्य सम्बन्धी उक्त उपदेश आज समाज के लिये अनुकरणीय है, तभी मानव जीवन सुखी एवं समृद्ध हो सकेगा । आलोच्यग्रंथ में ग्रन्थ-प्रणेता का यह कथन है कि संसार में पशुओं को स्वजीवन समाप्ति का भय तो रहता है किन्तु दासता का भय नहीं रहता । इसलिये पशुओं की प्रवृत्ति मानव

¹ म. नि. - ना. सं. - भा. 1, पृ. 178

² अंगु. नि. - ना. सं. - भा. -1, पृ. 174

प्रवृत्ति से साधुतर है । उनके इस कथन पर चिन्तन करने पर यही तथ्य उजागर होता है कि उन्होंने पशु को साधुतर कहकर स्वावलम्बी बनने के लिये प्रेरित किया ।

नारी की दासता से भी ग्रन्थ-प्रणेता का मन उद्वेलित हो रहा है । नारी सर्वथा उपेक्षित रही है, बौद्धकाल में नारी की दशा शोचनीय थी । बुद्ध का नारियों के प्रति दृष्टिकोण भी उपेक्षित रहा है । आलोच्य ग्रंथ में ग्रन्थकर्ता का नारियों की परतन्त्रता को दुःख मानना भी युगों से परिपीड़ित नारी को समाज में सम्मान दिलाने का एक प्रयास है ।

.....

सप्तम अध्याय

बौद्ध योग साधना

भारतीय दर्शन में मोक्ष अथवा निर्वाण प्राप्ति को जीवन का चरम लक्ष्य स्वीकार किया गया है । वैदिक एवं श्रमण, बौद्ध एवं जैन, शैव एवं वैष्णव सभी सम्प्रदायों की साधनाओं का एकमात्र लक्ष्य अखण्ड आध्यात्मिक सत्य की प्राप्ति रहा है । सैद्धान्तिक एवं आचारिक मतभेद होते हुए भी सभी दर्शनों में एक सार्वभौम योग मार्ग की व्याप्ति देखी जा सकती है । योग आध्यात्म विद्या का अन्तरंग साधन है और उसकी परम्परा ही भारतीय आध्यात्मिकता का वास्तविक इतिहास है । बौद्ध धर्म में आध्यात्मिक सत्य के अधिगम का मार्गशील, समाधि एवं प्रज्ञा है । यही मध्यम मार्ग है तथा बौद्ध योग साधना का विषय भी यही है ।

डॉ. सुरेन्द्रनाथदासगुप्ता ने योग शब्द की व्युत्पत्ति तीन प्रकार से की है— 'युजिर् योगे' एक साथ मिलने या युक्त होने के अर्थ में, 'युज् समाधी' एकाग्रता के अर्थ में, 'युज् संयमने' नियन्त्रित या निरुद्ध होने के अर्थ में ।¹ योग को पालि पिटकों में बन्धन का पर्यायवाची स्वीकार किया गया है । 'चत्वारो योगा' चत्वारो आसवा— काम, भव, दिट्ठि एवं अविद्या नामक योग एवं आश्रव हैं । इसके अतिरिक्त पालि ग्रन्थों में 'योग' शब्द अभ्यास एवं प्रयत्न के अर्थ में भी प्रयुक्त हुआ है । योग एवं समाधि भी समानार्थक है तथा ध्यान को भी समाधि का पर्याय स्वीकार किया गया है । इसके अतिरिक्त कुछ ऐसे शब्द हैं जो समाधि के भाव को व्यक्त करने में समर्थ हैं । इस प्रकार यह स्पष्ट है कि उक्त अर्थ योग शब्द को अपनी परिधि में बाँधने में समर्थ नहीं हैं ।

शील, समाधि एवं प्रज्ञा को बौद्ध साधना पथ के तीन आनुक्रमिक चरण स्वीकार किया गया है । इस साधना पथ पर अग्रसारित प्राणी को ही निर्वाण की प्राप्ति होती है । समाधि का तात्पर्य यद्यपि पूर्णरूपेण धारण करना है तथापि पालि ग्रन्थों में इसे 'योग' शब्द का पर्यायवाची स्वीकार नहीं किया है । वहाँ समाधि शब्द के पर्याय के रूप में ध्यान या ध्यानी शब्दों का प्रयोग हुआ है । सिद्धार्थ गौतम को कुछ विचारकों ने 'योगिनां चक्रवर्ती' कहा है । वे प्रथम योगी स्वीकार किये जाते हैं । 'मज्झिमनिकाय' में उल्लेख है कि तथागत

¹ हि.ऑ.इ.फि.: भा.--1, पृ. 226-227

अपने समय में ही ध्यानों एवं ध्यान पथ के उपदेष्टा के रूप में ख्याति प्राप्त कर चुके थे-

"झायी चेव सो भवं गोतम अहोसि ज्ञान सीली च ।

सम्बंचपन सो भवं गोतमो ज्ञानं वण्णसि ।।"¹

इसी भाव को व्यक्त करते हुये तथागत ने धम्मपद में कहा है कि ध्यान भावना से युक्त चित्त को राग उसी प्रकार नहीं वेध पाता जिस प्रकार कि भली प्रकार आच्छादित घर में वृष्टि का जल-

" यथा अगारं सुच्छनं बुट्ठी न समतिविज्झति ।

एवं सुभावितं चित्तं रागो न समतिविज्झति ।।"²

स्वयं भगवान् तथागत का प्रथम ध्यान जामुन के वृक्ष के नीचे हुआ था । आलोच्य ग्रंथ में इसी भाव को व्यक्त करते हुये ग्रंथ प्रणेता ने कहा है कि तथागत ध्यान कर रहे थे तथा स्वर्गलोक से देवर्षि वर्षा भी कर रहे थे-

" स्थिरं शयनमध्यास्य बुद्धपर्यकमादरात् ।

ध्यायन्तं दिवि देवर्षिं प्रणतिप्रतिपूजितम् ।।"³

भगवान् बुद्ध ध्यान से कभी भी रिक्त नहीं रहते थे , उठते - बैठते, सोते-जागते सदैव ही तथागत ध्यानमग्न रहते थे । अपने शिष्यों की योग्यताओं एवं आवश्यकताओं के अनुकूल बुद्ध उन्हें ध्यान विषय प्रदान करते थे, जिन्हें पालि साहित्य में कम्मट्ठान (कर्मस्थान) के नाम से जाना जाता है । इनकी संख्या चालीस है जिनका सात भागों में वर्गीकरण किया गया है यथा-

(1) दस कात्स्न्य (कसिण) :

पृथ्वी कात्स्न्य, अपकात्स्न्य, तेज कात्स्न्य, वायु कात्स्न्य, नील कात्स्न्य, पीत कात्स्न्य, लोहित कात्स्न्य, अवदात कात्स्न्य, आकाश कात्स्न्य तथा आलोक कात्स्न्य ।

(2) दस अशुभ :

उद्ध्मातक, विनीलक, विपूयक, विच्छिद्रक, विश्वादितक, विक्षिप्तक, हस्तविक्षिप्तक, लोहितक,

¹ म.नि. : भा.-2, ना.सं., पृ. 95

² ध.प.गा. : 372

³ बु.वि.का : 16/44

पुलक तथा अस्थिक ।

(3) दस अनुस्मृतियाँ :

बुद्धानुस्मृति, धर्मानुस्मृति, संधानुस्मृति, शीलानुस्मृति, त्यागानुस्मृति, देवतानुस्मृति, उपशमानुस्मृति, मरणानुस्मृति, कायगतानुस्मृति एवं प्राणापानस्मृति ।

(4) चार अप्रमाण :

मैत्री, करुणा, मुदिता एवं उपेक्षा । इन्हें ब्रह्मविहार भी कहा गया है ।

(5) आहार में प्रतिकूल संज्ञा ।

(6) चतुर्धातुव्यवस्थान ।

(7) चार आरूप्य :

आकाशानन्त्यायतन, विज्ञानानन्त्यायतन, आकिञ्चन्त्यायतन तथा नैवसंज्ञानासंज्ञायतन ।

इनमें से किसी एक को ध्यान का आलम्बन बनाकर जब भावना आरम्भ की जाती है उस समय वह आलम्बन परिकर्म निमित्त कहलाता है और भावना करने वाला चित्त परिकर्म भावना कहलाता है । नेत्रों के बन्द कर लेने पर जब वह आलम्बन उन्मीलित नेत्रों से देखने के समान चित्त द्वारा गृहीत होने लगता है, उस समय वह आलम्बन उद्ग्रहनिमित्त कहलाता है । इस उद्ग्रहनिमित्त को आलम्बन बनाकर जब और भावना की जाती है तो श्रद्धा आदि इन्द्रियों के अधिक विकसित हो जाने के कारण कुशल चित्तों को बाधा पहुँचाने वाले कामच्छन्द आदि नीवरण धर्म विगलित होने लगते हैं और भावना करने वाली चित्त सन्तति में वितर्क आदि ध्यानांग प्रार्दुभूत होने लगते हैं । यद्यपि इस समय भावना करने वाली सन्तति अर्पणा प्राप्त नहीं होती तथापि ध्यान के समीप पहुँच जाने से वह उपचार भावना या उपचार समाधि है । इस समय इसका आलम्बन भी उद्ग्रहनिमित्त की सीमा का अतिक्रमण करके प्रतिभाग निमित्त के रूप में अवभासित होता है । प्रतिभाग निमित्त के होने के अनन्तर पुनः भावना की जाती है । तो योगी को कुछ ही समय में अर्पणा समाधि नामक प्रथम ध्यान की प्राप्ति होती है ।

ध्यान आठ हैं जिन्हें रूपावचर एवं अरूपावचर के रूप में विभक्त किया गया है । इन्हें 'अष्ट समापत्ति' भी कहा गया है ।

प्रथम ध्यान में वितर्क, विचार, प्रीति, सुख और एकाग्रता ये पाँच अंग हैं। ध्येय में चित्त का दृढ़ प्रवेश ही वितर्क है। आलोच्य ग्रन्थ में भी ग्रन्थ-प्रणेता ने इन ध्यानाङ्गों का वर्णन किया है। ग्रन्थकार ध्येय में चित्त के दृढ़ीकरण को वितर्क की संज्ञा देते हुए कहते हैं कि गौतम ने इसे कण्टक मानते हुए इसका समूल उच्छेदन कर दिया -

" वितर्ककण्टकहीनं चकार निजमानसम् ।

बोधेस्तत्र प्रचाराय प्रतिपक्षबलेन सः ।।"¹

विचार मन को ध्येय से बाहर न जाने देनेवाली मनोवृत्ति है। प्रीति का अर्थ है- मानसिक आनन्द। काम, व्यापाद, स्त्यानमृद्धौद्धत्य, विचिकित्सा, इन पाँच नीवरणों को अपने में नष्ट हुए देख प्रमोद उत्पन्न होता है और प्रमोद से प्रीति उत्पन्न होती है। तथागत द्वारा तप करते हुए काम-व्यापाद आदि को समाप्त कर प्रीति का अनुभव किया गया। ग्रन्थ प्रणेता की मान्यता है कि यह प्रीति विषयोत्पन्न सुख से सर्वथा भिन्न थी-

" स्फुरन्तीमन्तराले च प्रीतिं समनुभूतवान् ।

सुखं चाध्यागमद् भिन्नं सुखाद् विषयसंभवात् ।।"²

प्रीति सुख के अनुभव हो जाने पर सिद्धार्थ का व्यापाद क्षण भर के लिये भी अस्तित्व में नहीं रह पाया इसी भाव को आलोच्य ग्रंथ में अति मनोरम विधि से प्रस्तुत किया गया है-

" कामहीने मनस्याप व्यापादो न स्थितिं क्षणम् ।

अभस्तस्य संजातो मैत्रीभावेन धीमतः ।।"³

तदनन्तर सुख का तात्पर्य है- कायिक सौख्य, प्रीति से शरीर शान्त हो जाता है और सुख उत्पन्न होता है। आलोच्य ग्रंथ में कहा गया है कि तथागत द्वारा व्यापाद, कामभाव एवं हिंसा की परिसमाप्ति के कारण

¹ बु. वि. का. : 33/21

² वही, 27/6

³ वही, 33/4

उन्हें सकल विश्व एकनीड़ के समान प्रतीत होने लगा -

"कामव्यापादहिंसानाम् भावादेकनीड़म् ।

जातं विश्वमिदं तस्य हीनं स्वपरभावतः ॥"¹

सुख के अनन्तर एकाग्रता का तात्पर्य है- समाधि । ग्रन्थ-प्रणेता ने प्रस्तुत आलोच्य-ग्रन्थ में समाधिस्थ के मलहीन चित्त को सभी बन्धनों से हीन ही माना है :

"समाहितस्य चित्ते ये भवन्ति क्षोभकारकाः ।

वितर्काश्च विचाराश्च प्रीतियां च सुखं यत् ॥

क्रमेण प्रश्नं तेषु प्रयातेषु विनिर्मलम् ।

विरागोपेक्षक चित्तं जायते पीतबन्धनतम् ॥"²

इस प्रकार काम राहित्य, अकुशल धर्मों से विरहितता, सवितर्क, सविचार और वितर्क से उत्पन्न प्रीति सुख से प्रथम ध्यान होता है ।

द्वितीय ध्यान में वितर्क और विचार इन दो अंगों का अभाव होता है । इनके अभाव से अन्तः प्रासाद एवं चित्त की एकाग्रता प्राप्त होती है । द्वितीय ध्यान में श्रद्धा की प्रबलता तथा प्रीति, सुख और एकाग्रता की प्रधानता बनी रहती है । तथागत ने निर्वाण प्राप्ति के लिये ध्यान करते हुए सर्वप्रथम वितर्क एवं विचार का त्याग कर प्रीति एवं सुख का अनुभव किया -

"वितर्कान् स्थूलविघ्नान् स पूर्व पर्यत्यजन्मुनिः ।

विचारान् सूक्ष्मविघ्नांश्च व्यजहात तदनन्तरम् ॥

विलीनेषु वितर्केषु विचारेषु च सर्वतः ।

एकाग्रतामुपेतः स रेमे प्रीत्या सुखेन च ॥"³

¹ बु. वि. का. : 33/6

² वही, 51/45, 46

³ वही, 27/11, 12

तृतीय ध्यान में वितर्क एवं विचार के साथ-साथ प्रीति का भी अभाव होता है । इसमें सुख तथा एकाग्रता की प्रधानता रहती है । सुख की भावना साधक के चित्त में कुछ वैशिष्ट्य प्रदान नहीं करती । प्रस्तुत आलोच्य ग्रन्थ में तथागत के तप के प्रकर्ष को वर्णित करते हुए आचार्य प्रवर शान्तिभिक्षुशास्त्री ने लिखा है कि तथागत जब प्रथम एवं द्वितीय ध्यान में निपुणता को प्राप्त हो गये, तब प्रीति से विरक्त हो वे तृतीय ध्यान में निपुणता को प्राप्त करने लगे -

" विरक्तः संस्तया प्रीत्या विजहार महामनाः ।

अथैकाग्रतया ध्यानसुखानुभवतत्परः ।

ध्याने तृतीयेकृतवान् स्थितिव्युत्थितिपाटवम् ।।"¹

चतुर्थ ध्यान में वितर्क, विचार, प्रीति एवं सुख इन चारों का अभाव होता है । इसमें उपेक्षा एवं एकाग्रता से युक्त चतुर्थ ध्यान को साधक प्राप्त कर लेता है । इसी चतुर्थ ध्यान में चाहे तो साधक अभिज्ञाओं में सिद्धि प्राप्त कर सकता है । तथागत द्वारा भी चतुर्थ ध्यान में निपुणता प्राप्त कर ली गयी । इसी भाव को आचार्य प्रवर शान्तिभिक्षु शास्त्री ने इस प्रकार श्लोकबद्ध किया है-

"उपैक्षैकाग्रताप्राप्तो ध्याने स्थित्वा समुत्थितः ।

व्युत्थाय स्थितवान् भूयो लब्धं ध्यानस्थ पाटवम् ।।"²

इनके अतिरिक्त चार अरूपावचर ध्यानों का आलोच्यग्रन्थ में वर्णन प्राप्त होता है । समस्त रूपी आलम्बनों के प्रति घृणा करने वाला योगी चतुर्थ ध्यान में दोष देखकर आरूप्य विज्ञान को प्राप्त करने के लिये यत्नवान् रहता है । योगी को दस कात्स्न्यों में से आकाश कात्स्न्य को छोड़कर नौ कात्स्न्यों में से किसी एक मण्डल को विस्तारपूर्वक रखना चाहिये ।

तदनन्तर चित्त में प्रतिभावना निमित्त अवभासित होगा । अवभासित आकाश प्रज्ञप्ति का आलम्बन करके परिकर्म भावना द्वारा "आकासो अनन्तो आकासो अनन्तो" ऐसी पुनः भावना करते हुए जब पूर्ण प्राप्त चतुर्थ ध्यान

¹ बु.वि.का. : 27/14,15

² वही, 27/18

के प्रति तृष्णा से विमुक्ति होने लगती है तब 'उपचार भावना' की स्थिति आ जाती है । तदनन्तर और ध्यान करने पर आकाशानन्त्यायतन नामक प्रथम आरूप्य ध्यान अर्पणा की उत्पत्ति होती है । इस ध्यान के उपेक्षा एवं एकाग्रता दो ही अंग होते हैं । तथागत ने उपेक्षा एवं एकाग्रता से युक्त होकर आनन्त्य की प्राप्ति का संकल्प लिया -

" अत्रैव वीक्ष्य ध्यानान्तमुपेक्षैकाग्रतायुतः ।

आनन्त्योपलम्भाय मतिं चक्रे महामुनिः ॥"¹

इस ध्यान के अभ्यासानन्तर द्वितीय अरूपावचर ध्यान का अभिलाषी साधक इसमें भी दोष देखकर, आकाश प्रज्ञप्ति को आलम्बन न बनाकर, प्रथम आरूप्यविज्ञान को ही आलम्बन बनाकर 'अनन्तं विज्ञानं, अनन्तं विज्ञानं', इस प्रकार पुनः भावना करता है । ऐसी भावना करते हुए जब प्रथम आरूप्य विज्ञान के प्रति होने वाली तृष्णा से मुक्त हो जाता है, तब उपचार भावना की प्राप्ति होती है । तदनन्तर पुनः भावना करने पर, द्वितीय आरूप्य विज्ञान नामक विज्ञानानन्त्यायतन ध्यान-अर्पणा की प्राप्ति होती है । ग्रन्थकार विज्ञानानन्त्यायतन ध्यान का वर्णन करते हुये कहते हैं कि तथागत ने बुद्धि का आश्रय लेकर इस द्वितीय अरूपावचर ध्यान को किया परन्तु उन्हें इससे कुछ भी लाभ न हुआ ।

"कथा कान्तवतो लोके व्याप्यानन्तं हि तिष्ठति ।

अन्तानन्ताकृती बुद्धे र्भिद्येते न विकारतः ॥

इत्यानन्त्यमवाप्तां तां बुद्धिमात्मन् सर्वतः ।

विज्ञानानन्त्यभावेऽपि न किञ्चिदुपलब्धवान् ॥"²

इस प्रकार तृतीय आकिञ्चन्यायतन नामक अरूपावचर ध्यान का अभीप्सु द्वितीय अरूपावचर ध्यान में दोष देखने लगता है तथा तृतीय अरूपावचर ध्यान में ही गुण देखता है । प्रथम आरूप्यविज्ञान के उत्पन्न होकर नष्ट

¹ बु. वि. का. : 27/21

² वही, 27/23, 24

हो जाने तथा उसका अंशमात्र भी अवशिष्ट न रहने के कारण 'नत्थि किञ्चि', नत्थि किञ्चि' इस प्रकार नास्तिभाव प्रज्ञप्ति की भावना करता है । ऐसा करते हुए जब द्वितीय आरूप्य ध्यान के प्रति तृष्णा से मुक्ति होने लगती है, तब उपचार भावना प्राप्त होती है । तदनन्तर पुनः भावना करने पर तृतीय अरूपावचर आकिञ्चन्यायतन नामक ध्यान 'अर्पणा' की प्राप्ति होती है । ग्रन्थकार के अनुसार तथागत के आकिञ्चन्यायतन नामक ध्यान में बुद्धि का भी सम्पर्क था । इसी भाव को व्यक्त करते हुए उनका अभिकथन है कि—

"आकिञ्चन्येऽपि किन्त्वेष धियः सम्पर्कमीक्षते ।"¹

तदनन्तर चतुर्थ ध्यान का अभिलाषी साधक तृतीय ध्यान में भी दोष देखकर संज्ञा गण्ड है, संज्ञा स्फोट, संज्ञा शल्य है, न संज्ञा न असंज्ञा ही उत्तम है, इस प्रकार की भावना करता है । इस प्रकार तृतीय ध्यान में भी दोष तथा चतुर्थ अरूपावचर ध्यान में गुण देखकर, नास्तिभाव प्रज्ञप्ति का आलम्बन किये बिना ही तृतीय अरूपावचर को ही 'यह ज्ञान्त है, यह प्रणीत है' ऐसा सोचता है । इस प्रकार आलम्बन करते हुए तृतीय ध्यान के प्रति भी साधक तृष्णा से मुक्त हो जाता है, तो उसे उपचार भावना की प्राप्ति होती है । तदनन्तर पुनः भावनाकरने पर 'नैवसंज्ञानासंज्ञायतन' नामक चतुर्थ ध्यान अर्पणा की उत्पत्ति होती है । आलोच्य ग्रंथ में इस ध्यान का वर्णन करते हुये ग्रन्थकार ने कहा है—

'न किञ्चदिति या संज्ञा धियः परिणतिर्हि सा ।

संज्ञिनो मम सत्येतद् बुद्धेरेवास्ति कौतुकम् ॥

नैव संज्ञाथ ना संज्ञेत्येषा या केवला स्थितिः ।

तस्यां स्थितः पुमानेष कैवल्यान्तोऽभिधीयते ॥"²

इस प्रकार आठवीं अवस्था का अतिक्रमण कर संज्ञावेदित निरोध की अवस्था है, जिसमें संज्ञा एवं वेदना का निरोध हो जाता है । ये चार रूपावचर तथा चार अरूपावचर ध्यान ही अष्टसमापत्ति के नाम से जाने जाते

¹ बु. वि. का. : 27/41

² वही, 27/42, 43

हैं । इन आठों ध्यानों को प्राप्त कर लेने वाले साधक की मनःस्थिति का वर्णन करते हुये ग्रन्थकार कहते हैं कि क्रमशः प्रत्येक ध्यान को प्राप्त कर साधक में प्रीति, सुख एवं वैराग्य उत्पन्न हो जाता है तथा वह निर्वाण को प्राप्त कर लेता है—

"क्रमात् कामौर्विविक्तं स सर्वितर्कं विचारवत् ।
 ध्यानं प्रीतिसुखं प्राप्य प्रथमं मोदते सुधीः ॥
 वितर्कश्च विचारांश्च त्यक्त्वा क्षोभकरांस्ततः ।
 द्वितीये विहरत्यत्र ध्याने प्रीत्या सुखेन च ॥
 दोषं प्रीती प्रपश्यन् स ततो ध्याने तृतीयके ।
 सुखमात्रविहारेण स्मृतिमानिह मोदते ।
 प्रहाणं चित्तवृत्तीनां वरं मत्वा चतुर्थके ॥
 ध्याने हित्वा सुखं तिष्ठत्युपेक्षमात्रके स्मृतः ॥
 रूपारूप्यसमालम्बे रतो ध्यानचतुष्टये ।
 ध्यायंस्तत्रापि यो रागस्तं जहाति प्रयत्नतः ॥
 विरागिणोऽस्य कामेभ्यो भवशकां न भुव्यभूत् ।
 साम्प्रतं सर्वरागाणां निरोधात् स्वर्भयं नहि ॥"¹

निर्वाण प्राप्ति की ओर ले जाने वाले मार्ग की साधना के तीन आनुक्रमिक चरण शील, समाधि एवं प्रज्ञा में शील का प्रथम स्थान है अर्थात् शील या नैतिक आचार ही निर्वाणप्राप्ति की आधार भित्ति है । आठ अंगों वाले मध्यम मार्ग का अभिकथन भी शील समाधि एवं प्रज्ञा के नाम से किया जाता है । आठों अंग इन तीनों चरणों में समाहित हो जाते हैं । सम्यक् वचन, सम्यक् कर्म, सम्यक् आजीविका, शील में अन्तर्भूत हो जाते हैं । सम्यक् व्यायाम, सम्यक् स्मृति एवं सम्यक् समाधि, समाधि में अन्तर्भूत हो जाते हैं । सम्यक् दृष्टि तथा सम्यक् संकल्प, प्रज्ञा में अन्तर्भूत हो जाते हैं । इन तीनों चरणों का अनुगमन कर मानव अपनी सम्पूर्ण तृष्णा

¹ बु. वि. का. : 49/34-39

का उच्छेद कर निर्वाण लाभी हो जाता है । भगवान बुद्ध ने उचित ही कहा है—

'सीले पत्तिट्ठाय नरो सपज्जो, चित्तं पज्जं च भावयं ।

आतापी निपको भिक्खु, सो'इमं विजट्टये जटं'ति ।।¹

मानव वस्तुतः तृष्णा रूपी जटा से विजटित है । वह बाहर एवं अन्दर से मानव को अपने जाल में निबद्ध किये हुये है। जैसे-लता-गुम्ब अपनी शाखाओं की जटा से जटित होता है उसी प्रकार मानव भी अन्तः एवं बाह्य जटा से जटित है ।²

जब तक इस तृष्णा रूपी जटा का समूल विनाश नहीं हो जाता तब तक निर्वाण प्राप्ति सम्भव नहीं है । यही जीवन का समस्यामूलक प्रश्न है और इस समस्यामूलक प्रश्न का समाधान ही मानव जीवन का चरम लक्ष्य है । इसी को लक्ष्य कर किसी देवपुत्र ने भगवान बुद्ध से पूछा—

" अन्तो जटा बहि जटा जटाय जटिता पजा ।

तं तं गीतम पुच्छामि को इमं विजट्टये जटं' ति ।।"³

इसी प्रश्न के उत्तर में भगवान बुद्ध ने बौद्ध साधना पथ के तीन चरण— शील, समाधि तथा प्रज्ञा का अभिकथन किया है । ये तीनों चरण साधनाकी चरम उपलब्धि की ओर ले जाते हैं । शील, कायिक एवं वाचिक संस्कार है । वह कायिक एवं वाचिक दुष्कृत्यों को काटते हुये कर्मों को नैतिक दृष्टि से सम्यक् बनाता है । समाधि चित्त का संस्कार है । वह चित्त के दुष्कृत्यों को नष्ट करते हुए शुद्ध चैतन्य के उदय के लिये अनुकूल वातावरण बनाती है अर्थात् चित्त की परिशुद्धि ही उसका कार्य है । प्रज्ञा अन्तःप्रेरणात्मक संस्कार है, वह अज्ञान-तिमिर का वारण करती है । इसके द्वारा मनुष्य किसी भी वस्तु को अनित्य, अनात्म एवं दुःख मानते हुए सुख की अवस्था का (निर्वाण का) साक्षात्कार करता है ।

¹ संयु. नि. भा.-1, पृ. 14, वि. म. (वा. स. वि) भा. -1, पृ. 1, एवं 19 पर उद्धृत गाथा ।

² जटाति तण्हाय जालिनिया एतं अधिवचनं । साहि रूपादिसु आरम्भणेसु हेट्ठपरियवसेन पुनापुनं उपज्जनतो संसिब्बनट्ठेन वेल गुम्बादीनं साखाजाल सङ्गखाता जटावियाति जटा ।। वि. म. पृ. 5

³ संयु नि. : भा. -1, पृ. 14

शील

बौद्ध साधना का आदि चरण शील है । प्राणी हिंसा से विरत रहने वाले साधक का चेतनादि धर्म ही शील कहलाता है । शील का तात्पर्य शिला या आधार भी होता है । जिस प्रकार समस्त तृण, तरू, लतादि का आधार शील है उसी प्रकार सभी कुशल धर्मों का आधार शील है । शील का अन्य अर्थ शीतल भी है । जिस प्रकार गंगादि नदियाँ अपने शीतल जल से मनुष्य को आताप-जनित परिलाह से शमन करती है, उसी प्रकार शील द्वारा राग, द्वेष एवं मोह का शमन होता है । शील का अन्य अर्थ है— 'अबाध प्रवाह' । जिस प्रकार चन्दन आदि पुष्पों की सुगन्ध को वायु अपनी दिशा में दूर तक ले जाती है, उसी प्रकार शील शीलवान पुरुषों के सत्कर्मों के यश को दूर तक फैला देता है । व्यवहार में शील की अभिव्यक्ति कुछ आचार विषयक नियमों के रूप में होती है । 'प्राणातिपात, अदिन्नादान, काम के प्रति अत्यासक्ति'— इन तीनों अकुशल कर्मों से विरति शील द्वारा ही होती है । शीलद्वारा परिशुद्ध हो जाने से वह हिंसा, चोरी, व्यभिचार जैसे अकुशल कर्मों से दूर हो जाता है । शील की प्रज्ञप्ति अष्टशील, दसशील एवं प्रातिमोक्षसंस्कारशील आदि अनेक प्रकार से की गई है ।

शील का प्रतिपादन करते हुये आचार्य प्रवर शान्ति भिक्षु शास्त्री का आलोच्य ग्रंथ में कथन है कि शील के बिना सत्य निराश्रित है तथा असत्य महापाप है । लोक में शीलवान प्राणी ही धर्म के उद्गम के हेतु हैं । शीलवान प्राणी में ही दान, हिंसा एवं हनन भाव से रहित क्षमायुक्त पुण्यचित्त का उदय होता है । शीलवान प्राणी मनसा, वाचा, कर्मणा कोई पाप नहीं करते हैं । सभी पुण्यों में मूलभूत एवं उत्तम शील ही एकमात्र ऐसा पुण्य बल है जिससे धर्म सिद्ध होता है—

"सर्वेषामेषामेव पुण्यानां मूलभूतं तातग्रिमम् ।

शीलमेव बलं येन धर्मसिद्धिः प्रजायते ॥"¹

आगे वे कहते हैं कि इस लोक में शीलवान प्राणी ही सुख से अपने जीवन का उपभोग करता है ।

¹ बु.वि.का. : 60/14

पृथ्वी पर इस प्रकार के व्यक्ति अकाल-मृत्यु को प्राप्त नहीं होते । शीलवान व्यक्ति करणीय कार्य को ही करता है तथा अकरणीय कर्मों को कुशलता से त्याग देता है । सुशील व्यक्ति को कभी भी अपने द्वारा किये गये कार्यों पर पश्चाताप नहीं होता । शीलवान व्यक्ति सर्वदा उचित कार्यों को करने के कारण अपने हृदय में आनन्दित रहता है । इस प्रकार के प्राणियों में द्वेष का अभाव हो जाता है तथा द्वेष के नष्ट हो जाने पर प्राणी में करुणाचित्त का उत्पाद सुलभ होता है । पापकर्मों से निवृत्ति तथा पुण्यकर्मों में प्रवृत्ति ही बुद्धों का सर्वलोकसुखकारी शील है । बाह्याडम्बरों से परिपूर्ण शील के द्वारा किसी भी प्राणी का हित नहीं होता, यथा-गाय की प्रतिमा से कोई प्राणी दुग्ध की प्राप्ति नहीं करता उसी प्रकार बाह्याडम्बरों से युक्त शील से प्राणियों की शुद्धि नहीं होती-

" न धेनुप्रतिमां दुग्धवा दुग्धमत्रोपलभ्यते ।

नापि पाषंडशीलेन शुद्धिर्भवति देहिनाम् ।।"¹

इसलिये ग्रन्थकार की यह प्रेरणा है कि शील के पथ का अनुगमन कर प्राणियों को सर्वदा सत्य, प्रिय एवं कल्याणकारी वचनों का प्रयोग करना चाहिये तथा व्यर्थ के तर्क-वितर्क से पूर्ण विवादों का परित्याग कर देना चाहिये-

"सत्यं प्रियं हितं वदेच्छील स्थितो जनः ।

विवादं वर्जयेन्नत्यं व्यर्थतर्कसमन्वितम् ।।"²

समाधि :

बौद्ध साधना का द्वितीय चरण है समाधि । शील के द्वारा वाचिक एवं कायिक अकुशल कर्मों का वारण इष्ट है । यद्यपि वाचिक एवं कायिक कर्मों के द्वारा चित्त भी प्रभावित होता है तथापि शील से मानसिक कर्म की सुव्यवस्था नहीं हो पाती । इस प्रकार शील के अभ्यास के अनन्तर समाधि का अभ्यास आवश्यक है । समाधि सम+आ उपसर्ग पूर्वक धा धातु से निष्पन्न हुआ है, जिसका तात्पर्य है- " समुचित

¹ बु. वि. का. : 98/32

² वही, 98/33

रूपेण धारण करना ।" इस प्रकार किसी एक आलम्बन पर चित्त-चैतसिक धर्मों का पूर्ण एवं सम्यक् आधार ही समाधि है । यद्यपि चित्त की एकाग्रता तो कुशल और अकुशल दोनों ही अवस्थाओं में हो सकती है, इसलिए समाधि अकुशल चित्त की एकाग्रता न होकर कुशल चित्त की एकाग्रता है । समाधि की परिभाषा करते हुये कहा गया है कि—

" कुशल चित्तस्य एकगता समाधि ।" ¹

मिलिन्द प्रश्न में समाधि के स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए राजा भदन्त नागसेन से पूछते हैं कि, "समाधि का क्या लक्षण है ?" इस पर भदन्त नागसेन कहते हैं कि, ' जितने पुण्य धर्म हैं वे सभी समाधि के प्रमुख हैं ।' समाधि को उपमा के द्वारा समझाते हुए कहते हैं कि "जैसे किसी मीनार की सीढ़ियाँ ऊपर की मंजिल की ओर अभिमुख होती है, उसी ओर ले जाती है, वहीं पर उनका अवसान होता है और वे ही सबसे श्रेष्ठ होती हैं । उसी प्रकार जितने पुण्य धर्म हैं, वे सभी समाधि के प्रमुख होने से होते हैं । समाधि चित्त को निर्वाण की ओर अग्रसर करती है जो कुशल धर्म हैं, वे इसके साथ अभिमुख हो जाते हैं । इस प्रकार जब चित्त किसी विषय पर पूर्णरूपेण एकाग्र हो जाता है, तब उसकी स्पन्दनात्मकता समाप्त हो जाती है, वह शान्त हो जाता है ।"

समाधि को परिभाषित करते हुए आचार्य शान्तिभिक्षु शास्त्री आलोच्य ग्रन्थ में कहते हैं कि स्वयं को वश में करने वाला, अमासक्त एवं अविक्षिप्त चित्त वाला ही आलम्बन में तन्मय होकर शमथावस्था को प्राप्त करता है—

"असंगादात्मनाथानां चित्तं विक्षेपवर्जितम् ।

लभते शमथावस्थामालम्बनपरायणाम् ।।" ²

¹ वि. म. , पृ. 188

² बु. वि. का. , 11/2

इस प्रकार विक्षेप से रहित समाधिस्थ चित्त में वस्तु को यथार्थभाव से जानने का सामर्थ्य उत्पन्न होता है । समाधि के द्वारा ही प्राणी काम एवं अर्थ में आसक्त संसार को जानने में समर्थ होता है । तदनन्तर ग्रन्थकार का अभिकथन है कि कामभोगों से विरक्ति होने पर शीलवान सांसारिक विक्षोभों का उच्छेद कर समाधि की दिशा में अग्रसर होता है—

"शीलस्थितस्य कामेभ्यो विवेके सति जायते ।

शमथप्रवर्णं चित्तं लोकाविक्षोभ वर्जितम् ।।"¹

आगे वे कहते हैं कि समाधिस्थ प्राणी के चित्त में जो क्षोभ उत्पन्न करने वाले वितर्क एवं विचार होते हैं, जो प्रीति होती है एवं जो सुख होता है, उसके क्रमशः शान्त हो जाने पर विरागी एवं उपेक्षा भाव से युक्त निर्मल चित्त बन्धनों से रहित हो जाता है । चित्त में मरणानुस्मृति को रखकर प्राणी को समाधिस्थ रहना चाहिये । तदन्तर ग्रन्थकार की मान्यता है कि प्राणी को इस भावना का प्रतिक्षण ध्यान रखना चाहिये कि दुःख की उत्पत्ति तृष्णा से होती है । समाधि सभी प्राणियों के लिये अविलम्ब फलप्रदायिका होने के साथ-साथ चित्त शुद्धि का श्रेष्ठ साधन भी है—

"मरणानुस्मृतिर्षिचित्ते निधाय शमथे रतः ।

तृष्णोदयमिदं दुःखं भावयेद् हृद्यतद्रितः ।।

अनन्तरफलो बुद्धसमाधिर्ध्यायतामिह ।

चेतः शुद्धिकृतां श्रेष्ठः स्पस्ति सत्येन तेन वः ।।"²

प्रज्ञा :

निर्वाण प्राप्ति के लिये जिस साधना पथ का निर्देश किया है, उसमें प्रज्ञा तृतीय चरण के रूप में आख्यात है । प्रज्ञा का अर्थ है— ज्ञान । प्रज्ञा का यह अर्थ अपूर्ण है क्योंकि ज्ञान तो अनेक प्रकार का होता

¹ बु. वि. का. : 51/44

² वही, 59/48, 62/11

है । इसी तथ्य को स्पष्ट करने के लिये कहा गया है कि-कुशल चित्त से युक्त विपश्यना ज्ञान ही प्रज्ञा है अर्थात् सभी प्रकार के अज्ञान को दूर करने वाली शक्ति । शील द्वारा कायिक, वाचिक, तथा मानसिक कर्मों का विशोधन कर समाधि से मन को परिशुद्धि की दिशा में अग्रसरित होता हुआ प्राणी प्रज्ञा के साक्षात्कार के लिये प्रवृत्त होता है । प्रज्ञा शब्द पालि के 'पज्जा' का समानार्थवाची है जिसका तात्पर्य है 'प्रकृष्ट रूप से जानना' । मिलिन्द प्रश्न में प्रज्ञा का लक्षण देते हुए नागसेन कहते हैं कि- " बोध हो जाना, विवेक की पहचान और काटने की शक्ति होना प्रज्ञा की पहचान है । जिस प्रकार एक कृषक जी के खेत को काटते हुये बायें हाथ से जी के पौधों को पकड़ता है एवं बाएँ हाथ से जी के पौधों को पकड़ता है एवं दाहिने हाथ से दरांती पकड़कर काट देता है, उसी प्रकार योगावचर विवेक के द्वारा चित्त को पकड़ता है और प्रज्ञा द्वारा क्लेशों का कर्तन कर डालता है ।"¹

आलोच्य ग्रन्थ में ग्रन्थ प्रणेता का कथन है कि दान, शील, क्षमा, वीर्य एवं ध्यान से शुद्ध चित्त वाले प्राणी में ही प्रज्ञा की उत्पत्ति होती है । तदनन्तर प्रज्ञा को परिभाषित करते हुये ग्रन्थकार ने कहा है कि प्रत्यक्ष एवं अनुमान से उत्पन्न जो ज्ञान है वह परीक्षण होने पर सिद्ध एवं सत्य फल को देने वाला ही प्रज्ञा कहलाता है-

"सत्यप्रत्यक्षानुमानाभ्यां ज्ञानं यदुपजायते ।

सिद्धं परीक्षणैः सत्यफलं प्रज्ञा तदुच्यते ॥"²

प्रज्ञायुक्त प्राणी कहीं भी हेतु एवं फल के विषय में अज्ञानता नहीं करते हैं अपितु प्राप्तव्य फलों के साधनों को ही अपनाते हैं । जिस प्रकार बीज के विषय में कृषक को कभी भी भ्रम नहीं होता, उसी प्रकार प्रज्ञावान प्राणी को धर्म के विषय में भ्रम नहीं होता । यह संसार पञ्चस्कन्धात्मक है तथा तृष्णा से उत्पन्न होता है, इस प्रकार की प्रज्ञा वाला प्राणी ही यहाँ बहुश्रुत कहलाता है । ऐसी प्रज्ञा वाले को संसार में असद् दृष्टियाँ वञ्चित नहीं कर पाती तथा ऐसा प्रतिभाशाली वह अपनी प्रज्ञा से प्राणियों की रक्षा करने में समर्थ हो

¹ मि.प्र., पृ. 36

² बु.वि.का. : 12/2

जाता है-

"तमसद्दृष्टयो लोके वुचयन्ति न धी धनम् ।

रक्षितुं स जनाञ्छक्तः प्रज्ञया प्रतिभानवान् ॥"¹

तदनन्तर ग्रन्थकार आचार्य प्रवर शान्तिभिषु शास्त्री का कथन है कि प्रज्ञावान प्राणी दुःख के साक्षात्कार के कारण इहलोक एवं परलोक की अभिलाषा नहीं करता । इसी भाव को अभिव्यक्त करते हुये वे कहते हैं कि-

"दिवि भुव्युभयत्रापि प्रज्ञया दुःख दर्शनात् ।

विरक्तः कुरुतेच्छन्दं नेहनामुत्र पंडितः ॥"²

¹ बु. वि. का. : 12/7

² वही, 42/48

अष्टम अध्याय

बुद्धविजयकाव्यम पर महायान का प्रभाव

प्रथम धर्मचक्रप्रवर्तन की देशना भगवान् बुद्ध ने सारनाथ में पञ्चवर्गीय भिक्षुओं के लिए दी । इसमें श्रावकयान तथा प्रत्येक बुद्धयान का उपदेश दिया । यह देशना हीनयानी थी । द्वितीय धर्मचक्रप्रवर्तन की देशना भगवान् ने राजगृह के निकट गृध्रकूट पर्वत पर भिक्षु-भिक्षुणियों, बोधिसत्त्वों, देवपुत्रों, ब्रह्मा, नागराज, किन्नर, गन्धर्व और गरुण आदि की विशाल सभा के लिए दी । इसमें उन्होंने बोधिसत्त्वयान का उपदेश दिया । इसे ही महायानी देशना के नाम से जाना जाता है । महायान को ही एकमात्र बुद्धयान माना गया है । इस लोक में एक ही यान है, द्वितीय एवं तृतीय अन्य कोई यान नहीं है । भगवान् तथागत द्वारा जो नाना यानत्व की देशना की गयी है, वह तो उपाय मात्र है । भगवान् लोकनाथ तथागत बौद्ध ज्ञान के प्रकाशनार्थ लोक में उत्पन्न होते हैं, वे अन्य कोई कार्य नहीं करते । केवल एक यही कार्य करते हैं । भगवान् हीनयान द्वारा प्राणियों को विनीत नहीं करते । 'सद्धर्मपुण्डरीक सूत्र' में भी इसी बात को दृढ़ता के साथ वे इस प्रकार कहते हैं -

"एकं हि यानं द्वितियं न विद्यते तृतीयं हि नैवास्ति कदाचिलोके ।

अन्यत्रुपाया पुरुषोत्तमानां यदयाननानात्पुपदर्शयन्ति ।।

बौद्धस्य ज्ञानस्य प्रकाशनार्थं लोके समुत्पद्यति लोकनाथः ।

एकं हि कार्यं द्वितीयं न विद्यते न हीनयानेन नयन्ति बुद्धाः ।।"¹

हीनयान और महायान के अतिरिक्त प्रारम्भिक महायान साहित्य में 'श्रावकयान, प्रत्येकबुद्धयान और बोधिसत्त्वयान' का भी उल्लेख मिलता है । 'श्रावकयान' का तात्पर्य है कि शिष्यों का मार्ग, 'प्रत्येक बुद्धयान' का तात्पर्य ऐसे बुद्धों का मार्ग है, जो स्वयं अपने और अपने ही कल्याण के लिए बोधि प्राप्त करते हैं । 'बोधिसत्त्वयान' का तात्पर्य है बुद्धत्व प्राप्ति की इच्छा से पारमिताओं का अभ्यास करने वालों का मार्ग । 'बोधिसत्त्वयान' को ही 'महायान', 'बौद्धयान', 'एकयान' तथा 'पारमितायान' कहा जाता है । महायान बौद्ध धर्म

¹ स.पू.सू. : उ.को.परि.-गा. : 54-55, पृ. 62

हीनयान से भिन्न है तथा इसकी कुछ विशेषताएँ हैं—

- 1- बुद्धों की विपुल संख्या, उनकी लोकोत्तर सत्ता और महत्ता ।
- 2- बुद्धों के प्रति श्रद्धा, भक्ति और बुद्ध मूर्ति की उपासना ।
- 3- बोधिसत्त्व का आदर्श, प्रत्येक प्राणी के बोधिसत्त्व होने की सामर्थ्य । अतः बोधिसत्त्वों की अगणित संख्या पर अस्था ।
- 4- बोधिसत्त्वचर्या के रूप में बोधिचित्त, योग, पारमिताओं और भूमियों का मूढ़ एवं विस्तृत प्राविधान ।
- 5- 'पुद्गलशून्यता' के साथ-साथ धर्मशून्यता के सिद्धान्त की चर्चा ।
- 6- बुद्धों और बोधिसत्त्वों के साथ-साथ अनेक देवी-देवताओं की उपासना यथा प्रज्ञा पारमिता, तारा, नाग, यक्ष आदि ।
- 7- महायान सूत्रों का पारायण, धारणियों तथा मन्त्रों का प्रार्थना के रूप में प्रयोग ।
- 8- सूत्रों, शास्त्रों एवं भाष्यों की रचना संस्कृत भाषा में होना ।
- 9- दार्शनिक चिन्तन एवं दार्शनिक दृष्टियों के सूक्ष्म तार्किक विश्लेषण पर आवश्यक बल ।
- 10- बौद्धेतर और महायानेतर सिद्धान्तों एवं विचारों के खण्डन के लिए तर्कशास्त्र का आश्रय ।

महायान की इन विशेषताओं के होते हुए भी बोधिसत्त्व की अवधारणा इसकी प्रमुख विशेषता है । इस आदर्श ने प्राचीन अर्हत् धर्म के आदर्श को हटाकर संसार में एक नवीन प्रेरणात्मक धार्मिक आदर्श की स्थापना की । महाकारुणिक बोधिसत्त्व स्वार्थसाधन को महत्त्व न देकर परहित को सर्वोच्च मानता है । बोधिसत्त्व की दृष्टि अपने और पराये के प्रति समान है । उसे अपने से अधिक चिन्ता दुःखी एवं व्याकुल प्राणियों की है । इस सम्बन्ध में आचार्य ज्ञान्तिदेव का कथन दृष्टव्य है—

'यदा मम परेषां च भयं दुःखं च न प्रियम् ।

तदात्मनः को विशेषो यत्तं रक्षामि नेतरम् ।।'¹

¹ बो.च. : 8/16

महायान ग्रन्थों में बुद्धत्व पद की प्राप्ति के लिए इसी बोधिस्तवचर्या का विधान है, यही महायान की विशिष्ट साधना है। इस बोधिचर्या का प्रारम्भ बोधिचित्ति ग्रहण से होता है। सर्वप्रथम यह जानना आवश्यक है कि 'बोधिचित्त किसे कहते हैं?' 'बोधि' का तात्पर्य है 'ज्ञान' एवं 'चित्त' का तात्पर्य है 'मन'। इसलिए बोधिचित्त ग्रहण का तात्पर्य है- परहित के लिए, बुद्धत्व पद की प्राप्ति के लिए, ज्ञान में चित्त का स्थित होना। यही बोधिचित्त ग्रहण है। ज्ञान में चित्त को स्थित करना ही महायान का प्रथम सोपान है। आचार्य शान्तिभिक्षु शास्त्री ने प्रस्तुत आलोच्य ग्रंथ में बोधिचित्त का विस्तार के साथ वर्णन किया है। उन्होंने बोधिचित्त विहीन प्राणी को पुच्छविहीन वानर के समान माना है। मनसा, वाचा, कर्मणा, लोक कल्याण में प्रवृत्ति भी इसी बोधिचित्त के द्वारा ही होती है। दान-प्रवृत्ति को उत्पन्न करने वाला भी यही बोधिचित्त ही है।¹ बोधिचित्त चित्तों में उत्तम, शुभ, प्राणिमात्र के दुःख को दूर करने वाला होता है-

"अनुमोदामहे बोधिचित्तं चित्तोत्तमं शुभम् ।

प्राणिनां सर्वदुःखानि हर्तुमंगीकृतोद्यमम् ॥"²

चित्तों में श्रेष्ठ हिंसा रूपी दावाग्नि को शान्त करने वाले, करुणा रूपी जल की वर्षा करने वाले बोधिचित्त की वे वन्दना करते हुए कहते हैं कि-

"चित्तानां प्रवरं वन्दे बोधिचित्तं जिनाङ्कुरम् ।

हिंसादावाग्निशमनं कृपांभोवर्षिवारिदम् ॥"³

तदनन्तर स्वसुख के लिए प्रयासरत व्यक्तियों के चित्त से अत्यन्त विलक्षण बोधिचित्त की आचार्य प्रवर वन्दना करते हैं। उनकी यह कामना है कि स्वार्थ में लिप्त इस आनन्दविहीन संसार में परहित के प्रति उद्यत तथा स्नेहयुक्त बोधिचित्त मानव समुदाय में उत्पन्न होता रहे क्योंकि इसके अतिरिक्त जीवन की

¹बु. वि. का. : 3 / 1-3

²वही, 3/4

³ वही, 3/5

परिशुद्धि करने वाला अन्य कोई व्रत नहीं है-

"बोधिचित्तं विना नान्यज्जन्मनोऽस्य विशोधकम् ।

ममेतदस्तु किं तुच्छैरन्यैर्जप्यतपोव्रतैः ॥"¹

तदनन्तर उनकी मान्यता है कि बोधिचित्त रूपी सागर की बूंद से ही संसार सुखी होता है । फल की प्राप्ति के अनन्तर नष्ट हो जाने वालों अन्य पुण्यों को भी वे कोई महत्त्व नहीं देते हैं । संसार में जो कुछ पापमय है, दुःखदायी है वह सभी बोधिचित्त से विनष्ट हो जाता है । इसलिए उसकी बोधिचित्त में प्रीति की अभिलाषा है ।² बोधिचित्त युक्त प्राणी को वे श्रेष्ठ बुद्धपुत्र मानते हैं, जो ब्रह्मा के द्वारा भी पूजनीय हैं, महात्मा हैं, ऐसे व्यक्तियों के प्रति भी उनकी अक्षय प्रीति हो-

"दरो बुद्धात्मजो यस्मिन् बोधिचित्तं प्रजायते ।

ब्रह्मणामपि सोऽभ्यर्च्यस्तस्मात् तस्मिन् स्पृहा मम् ॥

बोधिचित्तोदयो यस्मिन् स महात्मा न संशयः ।

इति संजायतां प्रीतिस्तस्मिन् मे नित्यमक्षया ॥"³

तदनन्तर बोधिचित्त के प्रति अपनी अभिरुचि का कारण बताते हुए वे कहते हैं कि बोधिचित्त के द्वारा अपकारियों को क्षमा कर, उपकार वृत्ति उत्पन्न होती है, इससे बुद्धत्व की प्राप्ति होती है, इससे ही सत्त्व (साधारण प्राणी) महासत्त्व के नाम से जाना जाता है ।⁴ ऐसे बोधिचित्त को ग्रन्थकार नमन करते हुए कहते हैं कि-

"जातेन येन सन्त्वोऽयं महासत्त्वः प्रजायते ।

बोधिसत्त्वाभिधानस्तद् बोधिचित्तं नमाम्यहम् ।"⁵

¹ बु. वि. का. 3/9

² वही, 3/10-12

³ वही, 3/13-14

⁴ वही, 3/15-16

⁵ वही, 3/17

इस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति को बोधिसत्त्व बनने के लिए बोधिचित्त की प्राप्ति करनी चाहिए । इस बोधिचित्त का व्रत प्रत्येक बोधिसत्त्व को ग्रहण करना पड़ता है । इस बोधिचित्त के उत्पाद के लिए सप्तविध अनुत्तर पूजा का विधान है । यथा-वन्दन, पूजन, पापदेशना, पुण्यानुमोदना, बुद्धाध्येषणा, बुद्धयाचना तथा बुद्ध परिषामना । इनका विस्तार से वर्णन यहाँ इष्ट है-

(1) वन्दन :

सर्वप्रथम साधक को भगवान् बुद्ध की शरण में जाना चाहिए और अनेक प्रकार की मानसिक वृत्तियों से बुद्ध एवं बोधिसत्त्वों की वन्दना या स्तुति करनी चाहिए । आचार्य शान्तिदेव ने अपने ग्रन्थ में इस सप्तविध पूजा का विस्तार के साथ वर्णन किया है । तथागत की वन्दना करते हुये वे कहते हैं कि-

"तच्चित्तरत्नग्रहणाय सम्यक् पूजां करोम्येष तथागतानां ।

सद्धर्मरत्नस्य च निर्मलस्य बुद्धात्मजानां च गुणोदधीनां ॥"¹

आलोच्य ग्रन्थ में ग्रन्थ प्रणेता ने भी बोधिचर्या में संलग्न प्राणी को तथागत की वन्दना करने का उपदेश दिया है । यही नहीं, स्वयं ग्रन्थ-प्रणेता ने अपने ग्रन्थ के प्रारम्भ में बुद्ध एवं बोधिसत्त्वों की वन्दना विस्तार के साथ की है । तथागत की वन्दना करते हुये वे कहते हैं कि सम्यक् ज्ञान को प्रदत्त करने वाले, उपायों के साथ त्याज्य एवं ग्राह्य के शास्त्र, लोकविद् उन अर्हत् भगवान् बुद्ध को नमस्कार है । मैं शुद्ध ज्ञान से युक्त भगवान् बुद्ध की शरण में जाता हूँ, अहिंसा एवं करुणा के निधान धर्म की शरण में जाता हूँ ।² इस संसार में अर्थ की मूर्तिवत् महाप्रज्ञा एवं महारूपा के निधान, अहिंसा धर्म के सृष्टा भगवान् बुद्ध की विजय श्री सर्वाधिक है-

"श्री धनो भगवान् बुद्धो महाप्रज्ञाकृपानिधिः ।

अहिंसा धर्मधातास्मिंल्लोके विजयतेतराम् ॥"³

¹ बो.च. : 2/1

² बु.वि.का, 13/10-11

³ वही, 1/1

तदनन्तर ग्रंथकार भूत, भविष्य एवं वर्तमान के सभी चौबीस बुद्धों की वन्दना करते हैं।¹ पुनः तथागत की वन्दना करते हुये वे कहते हैं कि भगवान् बुद्ध के चरणों में मैं शत-शत नमन करता हूँ। हिंसा से उन्मत्त दुर्जनों को अहिंसा का उपदेश देने वाले गौतम को प्रणाम करता हूँ। करुणा निधान, राज्य का त्याग करने वाले, महाराजाओं से पूजित, सत्य का सन्देश देने वाले, लोकरक्षा के निमित्त भूतल पर चारिका करने वाले, साधु स्वभाव वाले, सब लोक के मित्र शाक्यनन्दन को मैं प्रणाम करता हूँ। यश के सागर, सूर्यवत् तेजस्वी, करुणानिधान भारत के एकमात्र रत्न बुद्ध की मैं कामना करता हूँ।² सर्वदा बैरियों के प्रति अद्वैती, क्रूरों के प्रति कृपालु, लोकानन्द प्रवर्धक तथागत को मैं प्रणाम करता हूँ। गुणों में जिन की कोई समता नहीं है परहित में रत ऐसे तथागत को मैं प्रणाम करता हूँ—

वैरिष्ववैरिणं नित्यं क्रूरेष्वपि कृपापरम् ।

भगवन्तं नमस्यामि लोकानन्द प्रवर्धनम् ॥

उपमा यस्य नास्तीह शीलश्रुतकृपागुणे ।

परार्थं यस्य सर्वस्वं तं नमामि तथागतम् ॥"³

तदनन्तर आलोच्य ग्रंथ में बुद्ध और बोधिसत्त्वों की वन्दना का वर्णन है। वे स्वयं बोधिसत्त्वों की वन्दना करते हुये कहते हैं कि भगवान् बुद्ध हृदय रूपी मन्दिर में निवास करते हुए जिन्हें चैत्यवत् पवित्र बना रहे हैं, उन बौद्धों को मैं नमस्कार करता हूँ। जो बुद्ध शरण ग्रहण कर ज्ञान-शरण प्राप्त किए हुए हैं उनको मैं अंजलि बाँधकर प्रणाम करता हूँ। लोक की गतिवधियों के ज्ञाता, त्याज्य एवं अत्याज्य के ज्ञाता, सत्-असत् के विवेक में निपुण विद्वानों को मैं प्रणाम करता हूँ। ब्राह्म्य के ग्रहण करने का उपाय जानने वाले, साधु चिन्तन वाले, सत्य एवं असत्य को जानने में तत्पर, यत्नपूर्वक सभी कुछ सीखने वाले, सभी विद्याओं एवं कलाओं के ज्ञाता, पाखण्ड रहित, सुगत के प्रिय, अपने साथ-साथ अन्यो को भी बुद्ध मार्ग पर

¹ बु.वि.का. : 1/2-12

² वही, 1/25-33

³ वही, 1/48-49

ले जाने वाले, ¹ सभी मार्गों के ज्ञाता, बुद्ध-मार्ग परायण, राग-द्वेष रहित, ज्ञान के निमित्त प्रयत्न करने वालों की मैं अर्चना करता हूँ—

'सर्वमार्गविदोऽप्यत्र बुद्धमार्गपरायणा ।

प्रीतये सन्तु विद्वांसो रागद्वेषपराङ्मुखाः ॥

नृणां हिताहितं बोद्धुं विना ज्ञानं न शक्यते ।

इति ज्ञानाय सततं सयत्नानर्चयाम्यहम् ॥"²

आगे बोधिस्तवों के लिए विशेषणों का प्रयोग करते हुये ग्रन्थकार की वन्दना इस प्रकार है— ज्ञान के निमित्त परिश्रम करने वाले, बहुश्रुत, बहुप्रज्ञावान, बहु-शिल्प निपुण, तथागत के अनुसरण में प्रयत्नशील, 'ज्ञान समूह ही साक्षात् तथागत है ' ऐसा मानकर बुद्ध सदैव मेरा आश्रय हों यह कामना वाले, अहिंसक, कृपालु, अपने समान ही अन्य प्राणियों को समझने वाले, अपरिग्रही, चौर्य कर्म से विरहित, अनुचित कामुकता से विरहित सुगत-पुत्रों की मैं वन्दना करता हूँ³ -

"हिंसास्तेयान्यथाकामसक्तानां सत्यधीर्नहि ।

सत्ये प्रणिहितप्रज्ञान् वन्देऽहं सुगतात्मजान् ॥"⁴

2. पूजन :

वन्दन के पश्चात् साधक को तथागत की शरण में जाकर, मानसिक वृत्तियों के द्वारा एवं मांगलिक सामग्री के द्वारा बुद्ध एवं बोधिस्तवों की पूजा का विधान करना चाहिये । पुष्प नैवेद्य आदि मांगलिक सामग्री

¹ बु. वि. का. : 2/1-10

² वही, 2/11-12

³ वही : 2/13-21

⁴ वही, 2/32

से तथागत एवं बोधिस्तत्त्वों की पूजा का वर्णन करते हुए आचार्य शान्तिदेव का कथन है कि;

"मान्दारवेन्दीवरमल्लिकाद्यैः सर्वैः सुगन्धैः कुसुमैर्भनोजैः ।

अभ्यर्चयाम्यर्च्यतमान् मुनीन्द्रान् स्रग्भिश्व संस्थानमनोरमाभिः ॥

स्फीतस्फुरद्गन्धमनोरमैश्च तान्धूपमेघैरूपधूपयामि ।

भोज्यैश्च खार्द्यैर्विविधैश्च पेयैस्तेभ्यो निवेद्यं च निवेदयामि ॥"¹

प्रस्तुत आलोच्य ग्रन्थ में प्रणेता स्वयं पूजन करते हुए कहते हैं कि वन्दन के अनन्तर द्वितीय पूजा विधि में साधक तथागत की शरण में जाता है । वह अपनी मानसिक वृत्तियों एवं मांगलिक सामग्री द्वारा बुद्ध एवं बोधिस्तत्त्वों की पूजा करता है । इस पूजन विधि में वह अपने सभी पुण्यों सहित शरीर को समर्पित करता हुआ सभी बुद्धों की बार-बार वन्दना करता है । सभी प्राणियों के हित के लिए आचरणरत 'उसके शरीर के समर्पण को भगवान् बुद्ध ग्रहण करें, ' ऐसी उसकी कामना होती है । 'उसकी यह भी कामना होती है कि इससे मेरे पुण्य की वृद्धि हो, सुख हो, मेरे सभी पाप समाप्त हो जाएँ एवं दुःख की परिसमाप्ति हो जाए—

"पुण्यवृद्धिर्ममेतेन जायतां मे सुखं भवेत् ।

पापं नश्यतु मे सर्वं दुःखं विलयमेतु च ॥"²

तदनन्तर मांगलिक सामग्रियों द्वारा पूजन करते हुए उनका अभिकथन है कि मैं तुम्हारा दास हूँ, तुम्हीं मेरी एकमात्र शरण हो । मेरे द्वारा समर्पित गंगा, सरस्वती आदि नदियों का जल, तुम्हारे स्नान को सम्पन्न करे । पुत्रों सहित तुम्हें अर्पित किए गए लोक में विश्रुत, पवित्र काशी नगरी में निर्मित वस्त्रों के जोड़े को ग्रहण करो । पुत्रों सहित तुम्हें अर्पित केसर से सुशोभित, मलयचन्दन के सुखदायी लेपन में तुम्हारी अभिरुचि हो । पुत्रों के साथ इस धरणी पर विकीर्ण विविध पुष्पों की मालाओं द्वारा मैं भगवान् को अलंकृत करता हूँ । हे भगवान्, धुएँ रूपी मेघ वाले, आकाश में चंदवा बनाने वाले, नासिका को प्रसन्न करने

¹बो.च. : 2/15-16

²बु.वि.का. : 13/13-15

³वही, 13/16

वाले, धूपादि द्रव्यों से पुत्रों सहित तुम्हारी पूजा करता हूँ ।¹ जगतदीप होने के लिए, संसार के अद्वितीय दीपक पुत्रों सहित भगवान की दीप से पूजा करता हूँ—

" भवितुं जगतो दीपं दीपेनार्चिकरोम्यहम् ।

लोकेऽद्वितीयदीपस्य ससुतस्य जिनस्य ते ।।"²

आगे ग्रंथकार साधक के रूप में भगवान् के प्रति श्रद्धानत होते हुए कहता है कि निरामिष भोजी, पुत्रों सहित भगवान् तुम्हें दाल, भात, शाक, पूड़ी एवं पायस अर्पित है । पुत्रों सहित तुम्हें इलायची, खैर, कपूर, चूने एवं सुष्की के फल वाला ताम्बूल समर्पित है ।³ तदनन्तर प्रतिमाओं, चैत्यों एवं ग्रंथों के प्रति भक्ति भाव को प्रदर्शित कर वन्दना करते हुए ग्रंथकार कहते हैं—

" प्रतिमाग्रन्थचैत्यानि वन्देऽहं ससुतस्य ते ।

द्वीपद्वीपान्तरस्थानि पृथिव्या भक्ति भावतः ।।"⁴

तदनन्तर ग्रंथकार सभी दिशाओं एवं विदिशाओं में विराजमान बोधिसत्त्वों को प्रणाम करते हुए कहते हैं कि—

"सर्वलोकस्य संपूज्यान् सजीवांश्चैत्यकानहम् ।

बोधिसत्त्वान् नमस्यामि दिग्विदिक्षु विराजितान् ।।"⁵

ग्रंथकार सभी दिशाओं के बोधिसत्त्वों को प्रणाम ही नहीं करता अपितु वह उन्हें अपने हृदय रूपी आंगन में स्थित करना चाहता है । बोधिसत्त्व के गुणों का अभिकथन करते हुए वे कहते हैं कि परोपकारी, महाकरुणा के आश्रय, जगत का दुःख हरने की कामना वाले, स्वसमर्पण की कामना वाले, लोक में निर्लिप्त

¹ बु.वि.का. : 13/17-22

² वही, 13/23

³ वही, 13/24-26

⁴ वही, 13/27

⁵ वही, 3/19

उद्यमशील, महापराक्रमी, महावीर, अवैरी, शान्त, बोधिस्तत्त्वों को मैं अपने हृदय रूपी आंगन में स्थापित करना चाहता हूँ । जो महाश्रमण बुद्ध के प्रिय, परिश्रमी, परहितार्थ सर्वत्र चारिका करने वाले, अदण्ड से लोक को जीतने वाले, अक्रोधी हैं, ऐसे बौद्धों को मैं नमस्कार करता हूँ ।¹ परहित के लिए गृहसुख को त्यागकर जो महापृथिवी की चारिका करते थे, आज भी कर रहे हैं, एवं आगे भी करते रहेंगे, उनको मैं नमस्कार करता हूँ—

"सुलभं गृहसौख्यं ये त्यक्त्वा चेरुर्महामहीम् ।

चरन्त्यथ चरिष्यन्ति लोकार्थं तान्ममाम्यहम् ।"²

तदनन्तर ग्रन्थकार अहिंसक, करुणापरायण, परोपकार जैसे विशेष गुणों के अलंकृत बोधिस्तत्त्वों की पुनः पुनः वन्दना करते हैं। वह मंजुघोष आदि बोधिस्तत्त्वों के नाम संकीर्तन के साथ-साथ भूत, वर्तमान एवं भविष्यकालिक बुद्धों की वन्दना करते हैं । वे कहते हैं कि जो बोधिस्तत्त्व मेरे दाएं हैं, बाएं हैं, ऊपर अथवा नीचे हैं, जल में विचरण करने वाले हैं, क्रूर महामूढ़ों से जगत् की रक्षा करने वाले हैं, उनकी मैं पूजा करता हूँ, प्रणाम करता हूँ एवं शरण जाता हूँ ।³ अन्त में महाकरुणामय लोक को सुख प्रदान करने वाले बोधिस्तत्त्वों की बार-बार वन्दना करते हैं—

"सदैवं चित्तं जनसौख्यदायकं,

महाकृपा विभ्रति येऽत्र साधवः ।

त एव नाथा जगतो न संशयो,

नमामि तान् बुद्धसुतान् पुनः पुनः ।।"⁴

¹ बु. वि. का. : 3/20-28

² वही, 3/29

³ वही 3/30-50

⁴ वही, 3/51

3. पापदेशना :

वन्दन एवं पूजन के अनन्तर साधक को पापदेशना करनी चाहिए । पापदेशना का तात्पर्य है— अपने पापों को प्रकट करना । यह पापदेशना पापों की स्वीकारोक्ति है । इसमें जाने-अनजाने, लोभ, मोह, अथवा किसी के प्रभाव में किए गए पापों की संगणना के साथ-साथ पापों का प्रकटीकरण भी है । संसार में हिंसा, झूठ आदि की व्यापकता के कारण कोई भी व्यक्ति इनसे अछूता नहीं रह पाता । पापों से परिपूर्ण लोक में स्वयं को दुष्कृत्यों से बचाना एवं पूर्व में जाने-अनजाने किए गए पापों पर प्रायश्चित्त करते हुए तथागत से क्षमा की अभियाचना भी पापदेशना के अन्तर्गत ही समाहित है । जहाँ पापदेशना से पूर्वकृत पापों से मुक्ति की प्राप्ति होती है वहीं भावी पापों के रक्षार्थ तथागत से प्रार्थना भी हो जाती है । पापदेशना के परिप्रेक्ष्य में आचार्य शान्तिदेव का कथन भी द्रष्टव्य है—

" अनादिमिति संसारे जन्मन्यत्रैव वा पुनः ।

यन्मया पशुनापापं कृतं कारितमेव च ॥

यच्चानुमोदितं किञ्चिदात्मघाताय मोहितः ।

तदत्ययं देशयामि पश्चात्तापेन तापितः ॥"¹

अनादि संसार में अथवा इसी जन्म में मुझ पशु ने जो पाप किए और कराए हैं और मोहवश जो आत्मघात का अनुमोदन किया है, उस अपराध के पश्चात्ताप से खिन्न होकर मैं देशना करता हूँ । आलोच्य ग्रंथ में ग्रंथकार पाप-देशना विधि को बताते हुए कहते हैं कि सभी प्राणियों के प्रति मैंने जो कुछ पाप किया है अथवा किसी अन्य द्वारा करवाया है, उसका मैं तथागत के समक्ष निवेदन करता हूँ—

"मया यत् कारितं किञ्चित् स्वयं वाथ मया कृतम् ।

पापकं सर्वस्त्वेषु तदहं देशयामि ते ॥"²

¹ बो.च. . 2/28-29

² बु.वि.का. : 13/29

तदनन्तर पाप-देशना करते हुये वे कहते हैं कि तुम बुद्ध के प्रति, धर्म के प्रति तथा संघ के प्रति जाने-अनजाने में मैंने जो पाप किया है उसका मैं निवेदन करता हूँ । माता-पिता के प्रति, कल्याण-मित्रों के प्रति तथा अन्य सत्पुरुषों के प्रति मैंने जो-जो पापाचरण किया है, उसका मैं तथागत के सामने निवेदन करता हूँ ।¹ अशुभ कर्मों द्वारा अथवा व्रत-भंग द्वारा मैंने जो कुछ पाप किया है उसका मैं तथागत के सामने निवेदन करता हूँ-

"कृत्वा ह्यकुशलं कर्म व्रतभंगं विधाय वा ।

यत्किञ्चन्मे कृतं नाथ पापं तद् देशयामि ते ।"²

आगे साधक को पापदेशना के लिए प्रेरित करते हुए उनका कथन है कि असत्य बोलने पर तथा पाप करने पर चित्त में पश्चात्ताप कर कल्याण मित्र के समक्ष उसे स्वीकार करना चाहिये । काय एवं वाक् द्वारा कृत सभी पाप, बुद्ध एवं बुद्धपुत्रों के समक्ष स्वीकार कर लेने पर कम हो जाता है । इसलिए विद्वान को उस पाप को गोपनीय नहीं रखना चाहिये । प्रयत्नपूर्वक हित का ही मनोवितर्क करना चाहिए । अहित चित्त के उत्पन्न होने पर पश्चात्ताप करना चाहिये । हितचित्त वाले साधक का जाने-अनजाने कृत पाप, पापदेशना से शान्त हो जाता है और सद्ब्रत को दूषित नहीं करता ।³ इसी भाव की अभिव्यक्ति प्रस्तुत श्लोक में मिलती है ।

"प्रज्ञापराधतो जातं पापं सत्त्वहितैषिणः ।

पापदेशनया क्षान्तं न दूषयति सद्ब्रतम् ॥"⁴

¹ बु. वि. का. : 13/30-31

² वही, 13/32

³ वही, 62/20-22

⁴ वही, 13/3

4. पुण्यानुमोदन :

पापदेशना के अनन्तर साधक को पुण्यानुमोदन करने का विधान है । पुण्यानुमोदन का तात्पर्य है-पुण्य कार्यों की स्वीकृति । साधक को संसार के समस्त प्राणियों द्वारा कृत पुण्यकार्यों को समर्थन देना चाहिए तथा समस्त प्राणियों के दुःख अपसारण हेतु कर्म करने चाहिये, यही पुण्यानुमोदन है । ग्रंथकार पुण्यानुमोदन का उल्लेख करते हुए कहते हैं कि साधक को बुद्धों का, बोधिसत्त्वों का, विद्यावान सत्पुरुषों का, मनुष्यों के सभी पुण्य चरित्रों का हर्षित हुए अनुमोदन करना चाहिये । पुण्यानुमोदन की विधि पर प्रकाश डालते हुए ग्रंथकार का कथन है कि साधक को यहाँ विवेकी मनुष्यों के पुण्यकृत्यों का शान्ति के लिए, विद्या की अभिवृद्धि के लिए अनुमोदन करना चाहिये । लोक में जो कुछ भी शुभ एवं हितकारी है उसका मन से सन्तुष्ट होकर पुण्यानुमोदन करना चाहिये ।¹ पुण्यार्थ में प्रवृत्त प्राणियों का अनुमोदन करना चाहिये-

"पुण्यार्थेषु प्रवृत्तानां कर्तव्यमनुमोदनम् ।

यत्नः सदा विधातव्यः पापार्थाद् विनिवर्तते ।।"²

5. बुद्धाध्येषणा :

बुद्ध याचना ही इसका अभिप्राय है । यह याचना किसी प्रकार की भौतिक सामग्री को प्राप्त करने के लिए नहीं की जाती अपितु साधक समस्त सांसारिक प्राणियों के दुःख हरण के लिए यह याचना करता है । उनकी याचना है कि भगवान् बुद्ध उसे धर्म का उपदेश दें जिससे कि वह धर्म द्वारा निर्दिष्ट उपायों से स्वयं को एवं सभी प्राणियों के दुःख को दूर करने का प्रयास करे । आचार्य शान्तिदेव साधक को अञ्जलिबद्ध होकर मोहवश दुःख पतितों के लिए धर्म-द्वीप प्रज्ज्वलित करने का आह्वान करते हैं-

"सर्वासु दिक्षु संबुद्धान प्रार्थयामि कृताञ्जलिः ।

धर्मप्रदीपं कुर्वन्तु मोहाद् दुःखप्रपातिनां ।।"³

¹ बु.वि.का. : 13/33-35

² वही, 82/21

³ , बो.च. : 3/4

आलोच्य ग्रन्थ में ग्रन्थकार ने भी बुद्धाध्येषणा का उल्लेख किया है । इसमें साधक बुद्ध से याचना करते हुए कहता है कि इस लोक में सन्त महाकरूणाशील होकर मनुष्यों को शान्ति का उपदेश करें, चित्त में विरक्ति भाव लिए केवल पृथ्वी पर विचरण ही न करें—

"सन्तःशान्तिं दिशन्त्वत्र महाकरूणया नृणाम् ।

विरक्तमनसो भूत्वा विहरन्तु न भूतले ॥"¹

6. बुद्ध याचना :

बुद्धाध्येषणा के अनन्तर साधक को भगवान बुद्ध से याचना करनी चाहिये । इसमें साधक भगवान तथागत से सभी प्राणियों की नित्य स्थिति एवं स्वयं की प्राणी हित में प्रवृत्ति की याचना करता है । यह बुद्धयाचना, बुद्धाध्येषणा के समान ही है । इसी भाव को आलोच्य ग्रन्थ में ग्रन्थकार ने अभिव्यक्त करते हुए कहा है कि साधक को तथागत की भलीभाँति पूजा कर, अपना पापनिवेदन कर, पुण्यानुमोदन कर, सन्तों से प्रार्थना कर, बोधिसत्त्वों सहित तथागत के सामने आत्मसमर्पण कर, प्राणियों के हितार्थ उद्यमी, उदार चित्त को उत्पन्न करना चाहिए—

" एवं संपूज्य सम्बुद्धं पापं निर्दिश्य चात्मनः ।

पुण्यानुमोदनां कृत्वा विधायाध्येषणां सताम् ॥

बुद्धस्य ससुतस्याग्रे कृत्वा चात्मसमर्पणम् ।

जनयामि महोदारं चित्तं सत्त्वहितोद्यमम् ॥"²

7. बोधिपरिणामना :

बुद्धयाचना के अनन्तर साधक को तथागत से यह प्रार्थना करनी चाहिये कि उसने जो भी पुण्य कार्य

¹ बु.वि.का. : 13/36

² वही 13/37-38

किए हैं और उनका जो पुण्य फल है, वह अन्य प्राणियों के दुःख को दूर करने वाला बने । प्राणियों के हितार्थ साधक, रोगियों के लिए औषध, वैद्य एवं परिचारक बनने की कामना करता है । यही भाव आचार्य शान्तिदेव के अधोलिखित श्लोक में दृष्टव्य है :

'ग्लानामस्मि भैषज्यं वैद्य एव च ।

तदुपस्थायकश्चैव यावद् रोगापुनर्भवः ॥"¹

इसी भाव की अभिव्यक्ति प्रस्तुत आलोच्य ग्रंथ में भी मिलती है । साधक प्रार्थना करता है कि यहाँ मेरे पुण्य से, त्रिरत्न के प्रताप से, शीघ्र ही सम्पूर्ण पुण्य की सिद्धि हो । अपुण्य का विलय हो जाए, पुण्य वृद्धि को प्राप्त हो, सम्पूर्ण संसार सुखी हो, दुःख का शब्द मात्र भी न रहे—

"एतेन मम पुण्येन त्रिरत्नस्यानुभावतः ।

पुण्यस्य सकलस्यात्र सिद्धिरस्त्वविलम्बितम् ॥

अपुण्यं विलयं यातु तथा पुण्यं विवर्धताम् ।

सुखितः सर्वलोकोऽस्तु दुःखशब्दोऽपि नश्यतु ॥"²

ग्रन्थकार के अनुसार पुण्यानुमोदना एवं बोधिपरिणामना करते हुए साधक बुद्ध और बोधिचित्त के अनुभाव से परिशुद्ध हो जाता है—

"पुण्यानुमोदनां कुर्वन् स बोधिपरिणामनाम् ।

बुद्धस्य बोधिचित्तस्यानुभावेन विशुद्ध्यति ॥"³

इस सप्तविध रूप में की गयी पूजा के द्वारा ही बोधिचित्त की उत्पत्ति होती है । बोधिचित्त के उत्पन्न होने पर सर्वप्रथम साधक को बोधिव्रत ग्रहण करना चाहिये एवं बोधिचर्या में संलग्न रहना चाहिये । प्रस्तुत आलोच्य ग्रंथ में इसकी विस्तार से चर्चा है । ग्रन्थकार बोधिव्रत के महत्त्व को प्रतिपादित करते हुए

¹ बो.च. . : 3/7

² बु.वि.का. : 13/39-40

³ वही, 13/4

कहता है कि जिससे बोधिसत्त्वता एवं बुद्धता की प्राप्ति होती है, व्रतों में उत्तम उस बोधिव्रत का मैं संकल्प करता हूँ—

"बोधिसत्त्वत्वबुद्धत्वलाभो येन प्रजायते ।

व्रतानामुत्तमं बोधिव्रतं संकल्पयामि तत् ।।"¹

आगे उनका कथन है कि लोक में जो निन्दित जातिहीनता है, वह बोधिव्रत के संकल्प मात्र से नष्ट हो जाती है । जिनके चित्त में बोधिव्रत संकल्प का उदय होता है, वे तथागत के सुपुत्र होकर विप्रता को प्राप्त कर लेते हैं । बोधिव्रत के संकल्प से ही परहित की भावना उत्पन्न होती है ।² इस चित्तरत्न से बोधिसत्त्वता को प्राप्त हुए मनुष्य लोक पूजित बुद्धता को प्राप्त कर लेते हैं—

" एतेन चित्तरत्नेन बोधिसत्त्वत्वमागताः ।

लभन्ते मानवाः सत्यं बुद्धतां लोकपूजिताम् ।।"³

ग्रन्थकार बोधिव्रत के अनन्तर बोधिव्रती के गुणों का वर्णन करते हैं । उनके अनुसार बोधिव्रत में संलग्न व्यक्ति, बन्धन विहीन होने पर भी अन्यो के हितार्थ आबद्ध होता है । वह दुःखी प्राणियों के सुख का सम्पादन करने के लिए संसार को दान देता है । बोधिव्रत परायण स्वार्थ से पराङ्मुख होकर, परिश्रमी एवं सदाचारी होकर विहरण करता है । वह स्वभावतः साधु तथा क्षमावान् होते हुए किसी के भी मनोरथ का विघात नहीं करता । बोधिव्रती (बोधिसत्त्व) सदैव वीर्यवान् होकर पुण्यकार्य करता है तथा निरर्थक कार्यों से पराङ्मुख रहता है । वह एकान्तनिवासी तथा निर्जन प्रेमी होता है । उसे प्रज्ञा से सत्-असत् का विवेक करते हुए शुभ अर्थों में भ्रम नहीं रहता ।⁴ ग्रन्थकार दान रत, शुभ चरित्र वाले, क्षमानिधान, वीर, समाहित

¹ बु.वि.का. : 6/1

² वही, 6/2-4

³ वही, 6/5

⁴ वही, 6/44-50

ग्रन्थकार दान रत, शुभ चरित्र वाले क्षमानिधान, वीर, समाहित चित्त वाले, करुणापरायण, सुबुद्धि वाले बोधिव्रती का सदैव आदरपूर्वक भजन करते हैं :

" रतं हि दाने चरितै शुभं सदा,
क्षमानिधिं वीरकृतिं समाहितम् ।
सुबुद्धिमन्तं करुणापरायणं,
भजेत्त्र बोधिव्रतवन्तमादरात् ॥"¹

ऐसा बोधिव्रती ही बुद्धत्व पद की ओर अग्रसर होता है । प्रस्तुत आलोच्य ग्रन्थ में बोधिचित्त, बोधिव्रत एवं बोधिसत्त्वादि का वर्णन ग्रन्थ पर महायान के प्रभाव को स्पष्ट करता है । महायान ग्रन्थों में अतीत एवं भावी 24 बुद्धों का उल्लेख प्राप्त होता है, उसी परम्परा के अनुसार ग्रन्थकार ने भी 24 बुद्धों का उल्लेख ही नहीं किया अपितु उन्हें नमन भी किया है । आलोच्य ग्रन्थ के प्रणेता आचार्य शान्तिभिक्षु शास्त्री बौद्धधर्म दर्शन के तत्त्वस्पर्शी विद्वान् हैं । वे तिब्बती भाषा के विश्रुत विद्वान् हैं । उन्होंने महायान के संस्कृत ग्रन्थों के साथ-साथ तिब्बती अनुवादों का भी अध्ययन किया है । उन्हें महायान की अनेक विशेषताओं में बोधिसत्त्व के आदर्श ने अति प्रभावित किया है । इसलिए उन्होंने महायान परम्परा के अनुसार बोधिचित्त को परिभाषित करते हुए उसके उत्पाद के लिए सप्तविध पूजा विधान का अपने ग्रन्थ में विस्तार से वर्णन किया है । इसके अतिरिक्त बुद्धों एवं बोधिसत्त्वों के प्रति उन्होंने भक्तिभाव को भी प्रदर्शित किया है । स्वयं ग्रन्थकार ने अपने ग्रन्थ की पुष्पिका में इस काव्य को बोधिचित्त उत्पाद का कर्ता स्वीकार किया है -

" इदं मे बुद्धविजयं काव्यं मारावमर्दनम् ।

बोधिचित्तसमुद्भावकारकं भवतारकम् ॥ "²

¹ बु.वि.का. 6/51

² वही, पु. 5

यही नहीं पापों से निवृत्ति का उपाय भी उन्होंने बोधिचित्त को ही बताया है :

" पाप्स्यैव बलं धीरं पुण्यं प्रायेण दुर्बलम् ।

पापं विजीयते लोके बोधिचित्तेन केवलम् ॥

बोधिचित्तं समुत्पाद्य भूत्वा पुण्यपरायणाः ।

रक्षाचित्तं दयाचित्तं लोके कुर्वन्तु सज्जनाः ॥"¹

इस प्रकार आलोच्य ग्रन्थ पर महायान के प्रभाव को किसी प्रकार भी नकारा नहीं जा सकता ।

¹ बु.वि.का. : 100/ 42-43

उपसंहार

बौद्ध वाङ्मय का विशाल भण्डार है। इस साहित्य में ग्रन्थ-प्रणयन की परम्परा आज भी अनवरत रूप से चल रही है। संस्कृत के विद्वान् तथागत के जीवन एवं उपदेशों को आधार बनाकर काव्यमय रचना कर रहे हैं। इन ग्रन्थों के प्रणयन से जहाँ संस्कृत साहित्य की अभिवृद्धि हुई है वहीं दूसरी ओर बौद्ध धर्म के सिद्धान्तों एवं मन्तव्यों को विद्वत्समाज के समक्ष उजागर करना भी ग्रन्थकर्ताओं का उद्देश्य रहा है। इसके अतिरिक्त देववाणी संस्कृत में ग्रन्थों का प्रणयन ग्रन्थ-प्रणेताओं की भगवान् तथागत के प्रति अतिशय श्रद्धा को भी प्रकट करता है। बौद्ध सिद्धान्तों एवं मन्तव्यों को आधार बनाकर कुछ महाकाव्यों की रचना आज भी हो रही है। इसी परम्परा में आचार्य ज्ञान्ति भिक्षु शास्त्री प्रणीत 'बुद्धविजयकाव्य' भी एक है। यह काव्य महाकाव्य के सभी लक्षणों से उपेत है। इसमें धार्मिक, राजनैतिक, सामाजिक, नैतिक एवं दार्शनिक सभी पक्षों का पूर्णतः परिपाक हुआ है।

ग्रन्थकर्ता ने अपने जीवन काल में जैसा देखा, जैसा सुना, पढ़ा एवं अनुभव किया, उसी के आधार पर बुद्ध की कथायुक्त इस काव्य की रचना की ¹—

"मूर्तिचित्रपटग्रन्थे यथादृष्टं यथाश्रुतम् ।

ललितं शास्त्रसिंहस्य रचितं शिष्टभाषया ।।

बुद्धस्य कथया चित्तं जायते मे जगद्धितम् ।

काव्यं बुद्धकथायुक्तं तत एवं मया कृतम् ।।"

प्रस्तुत ग्रन्थ में काव्य के माध्यम से भगवान् तथागत की सकल जीवनचर्या का विशद निरूपण किया गया है। कवि ने काव्य प्रणयन कर यद्यपि बौद्ध धर्म के प्रचार एवं प्रसार का कार्य किया है तथापि उनकी अपनी मौलिकता एवं वैशिष्ट्य भी परिलक्षित होता है। प्रस्तुत ग्रन्थ में थेरवादी परम्परा का चित्रण मिलता है, जहाँ बुद्ध महापुरुष के रूप में दिखाई देते हैं किन्तु विशेष अवसरों पर ग्रन्थकर्ता महायान के अनुसार स्वेच्छा

¹ बु.वि.का. : 100/48-49

एवं अत्यन्त कौशल से बुद्ध के लोकोत्तर रूप को उजागर कर देता है । ऐसे स्थलों पर कवि कल्पना भी दिखाई देती है । जिस प्रकार काव्य के क्षेत्र में आदि कवि वाल्मीकि, जगत्प्रसिद्ध महाकवि कालिदास एवं महाकवि अश्वघोष के पद-चिह्न आज भी अवशिष्ट हैं । उसी प्रकार बौद्ध अध्ययन की प्राचीन परम्परा को काव्यबद्ध कर ग्रन्थकर्ता ने अपने को उक्त महाकवियों की कोटि में रखकर अमर बना लिया है ।

ग्रन्थकर्ता ने जहाँ बुद्ध को महापुरुष के रूप में चित्रित किया है वहीं अन्य कवियों द्वारा अपेक्षित यशोधरा के चरित्र का उदात्त वर्णन किया है । उन्होंने यशोधरा की कर्तव्यपरायणता, निश्छलता का वर्णन करते हुये अवगुण्ठन प्रथा की निन्दा भी की है । उन्होंने यशोधरा को अवगुण्ठन विहीन नारी के रूप में चित्रित किया है और कहा है कि नारी में शीलरूपी अवगुण्ठन की आवश्यकता है, वस्त्रावगुण्ठन तो निरर्थक ही है ¹—

" वस्त्रावगुण्ठापि नग्नेव यस्याः शीलं न विद्यते ।

वृथावगुण्ठनं नार्याः शीलसंवरणे सति ।। "

ग्रन्थ प्रणेता ने अहिंसा का बुद्धसम्मत उपदेशों के आधार पर वर्णन करते हुये प्राणि-हिंसा की पदे-पदे भर्त्सना की है । उनका अभिकथन है कि विशुद्ध आजीविका की प्राप्ति के लिए हिंसा एवं माया का परित्याग आवश्यक है । अहिंसा से ही नैतिक एवं आध्यात्मिक विकास सम्भव है । पञ्चशीलों में इस अहिंसा का प्रमुख स्थान है । पञ्चशीलों में प्राणातिपात-विरति ही अहिंसा का अधिवचन है । आचार्य शान्ति भिक्षु शास्त्री ने आलोच्य ग्रन्थ में बुद्ध और परवर्ती 'आर्यदेव' जैसे आचार्यों का अनुसरण करते हुये अहिंसा के लिए 'अभयप्रदा' विशेषण का प्रयोग किया है । इसके साथ ही अहिंसा को उन्होंने परम धर्म के रूप में मान्यता प्रदान की है,² जो उनके मौलिक चिन्तन का परिचायक है ।

इस प्रकार यह अहिंसा प्राणियों के हितार्थ ही है । कवि की मान्यता है कि यह अहिंसा ही धर्म का लोकसुखकारी सार है । तभी तो नेताओं को आह्वान करते हुये वे कहते हैं कि उनके द्वारा लोक का

¹ बु. वि. का. : 18/18

² वही, 8/58

मार्गदर्शन अहिंसा के द्वारा किया जाना चाहिए, हिंसा के द्वारा नहीं-¹

" अहिंसैवात्र धर्मस्य सारो लोकसुखावहः ।

तयैव लोको नेतव्यो नेतुर्भिर्न विहिंसया ॥

कवि की दृष्टि आज की ज्वलन्त समस्याओं की ओर भी गई है, जिनमें जनसंख्या की वृद्धि, आजीविका की समस्या तथा मनुष्यों का पारिवारिक सम्बन्धों के प्रति उपेक्षा भाव है । इन ज्वलन्त समस्याओं का मूल कारण धन ही है । आज लोग अधिकाधिक धन-संग्रह में लगे हुए हैं । धन का ही एकमात्र महत्त्व है, शिल्प, विद्या एवं सदाचार का आज कोई भी महत्त्व नहीं है । आज चतुर्दिक भाई-भाई में पाई-पाई के लिए झगड़ा होता है । स्त्रियाँ धनहीन पति का त्याग कर देती हैं । यही नहीं सम्बन्धी भी धनहीन के प्रति आत्मीयता नहीं रखते, कवि शान्ति भिक्षु आजके युग में धन की महत्ता को स्वीकार करते हुये यहाँ तक कह देते हैं कि यदि धन की प्राप्ति नहीं है तो बुद्धवचन के अध्ययन से क्या लाभ ? लोक में जिस किसी प्रकार धन मिले वही विद्या है, वहीं कला है-²

" नावाप्यते धनं, बुद्धवचनाध्ययनेन किम् ।

धनं यतो भवेल्लोके सा विद्या सा कला मता ॥ "

कवि शान्ति भिक्षु शास्त्री इस तथ्य से भलीभाँति सुपरिचित हैं कि आज के भौतिकवादी युग में संयुक्त परिवारों का विघटन हो रहा है । आज धन के बिना कोई कार्य साध्य नहीं है, यही कारण है कि आज पुत्र अपने वृद्ध माता-पिता की सेवा से विमुख हो गये हैं । कवि गृहस्थों के लिए धन की उपयोगिता को भलीभाँति समझते हैं । धनाभाव के कारण पीड़ित श्रेष्ठी धनपति के उद्गार आज के युग में कितने सार्थक एवं तर्कसंगत हैं । इसी भाव को श्लोकबद्ध करते हुये कवि का कथन धन के महत्त्व को दर्शाता है ³ -

" ब्राह्मणस्य धनं भैक्ष्यं केवलं न धनान्तरम् ।

इतीदं हि गृहं त्यक्त्वा श्रमणानां विधानकम् ॥ "

¹ बु. वि. का. : 100/4

² वही, 100/22

³ वही, 89/19

इसी प्रकार आज पति और पत्नी में विवाद तथा कलह के कारण उनका पारिवारिक जीवन विघटित हो रहा है । कवि की दृष्टि से यह तथ्य छिपा नहीं है । उनका कथन है कि पति-पत्नियों को परस्पर करुणा से कोमल चित्त होकर, सेवा में सन्नद्ध होते हुये, परस्पर हिताभिलाषी होना चाहिए । महाकवि अश्वघोष द्वारा काव्य के माध्यम से बौद्ध धर्म के प्रचार एवं प्रसार का कार्य किया गया है । आचार्य शान्ति भिक्षु शास्त्री द्वारा 'बुद्धविजयकाव्य' के माध्यम से इसी प्रकार का कार्य किया गया है । यद्यपि उन्होंने बौद्ध धर्म और दर्शन का निरूपण बुद्ध सम्मत धर्मोपदेश को आधार बनाकर किया है तथापि आधुनिक समाज की भूतभूत समस्याओं से वे अपरिचित नहीं है । आज के भौतिक युग में धन की महत्ता को कवि ने पदे-पदे स्वीकार किया है क्योंकि धन के बिना जीवन का संचालन सुकर नहीं है । धन या आजीविका के अभाव में उसके लिए भुखमरी जैसी आपदा से कथमपि त्राण पाना सम्भव नहीं है । यही नहीं भुखमरी जैसी आपदा से ग्रसित उसमें बुद्धि सामर्थ्य का होना भी शक्य नहीं है । ऐसी अवस्था में वह दर्शन जैसे गूढ़ विषय को ग्रहण करने में कैसे समर्थ हो सकेगा ।¹

" बुभुक्षितस्य धीरत्र न तत्त्वग्रहणे क्षमा ।

निर्बुद्धेर्वर्धयत्यन्नं मांसमेव न बोधनम् ॥ "

¹ बु. वि. का. : 98/19

सहायक ग्रन्थों की सूची

संस्कृत ग्रन्थ :

1. काव्यादर्श, दण्डी, अनुवादक- आचार्य रामचन्द्र मिश्र, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 1958
2. काव्यप्रकाश, मम्मट, टीकाकार-डॉ. रामसागर त्रिपाठी, मोतीलाल बनारसीदास, प्रथम संस्करण, 1982
3. काव्यालंकार सूत्रवृत्ति, वामन, व्याख्याकार- आचार्य विश्वेश्वर सिद्धान्त शिरोमणि, हिन्दी अनुसन्धान परिषद, दिल्ली, 1954
4. नीति और वैराग्य शतक, भर्तृहरि, मोतीलाल बनारसीदास, अनुवादक-एम.आर. काले, सप्तम संस्करण, 1971
5. बुद्धचरित, अश्वघोष, व्याख्याकार - श्री रामचन्द्रदास शास्त्री, चौखम्बा विद्या-भवन, वाराणसी, प्रथम संस्करण, 1983
6. बोधिचर्यावतार, श्री सत्यव्रत शास्त्री, मेहरचन्द लक्ष्मणदास, दरियागंज, दिल्ली, द्वितीय संस्करण, 1973
7. बोधिचर्यावतार पञ्जिका, लुई द वाले पूसें, बिब्लओथिका इण्डिका, कलकत्ता से प्रकाशित
8. बोधिसत्त्वचरितम्, श्रीसत्यव्रत शास्त्री, मेहरचन्द लक्ष्मणदास, दरियागंज, दिल्ली, द्वितीय संस्करण, 1973
9. महाभारत, गीता प्रेस, गोरखपुर, सम्वत् 2016
10. यज्ञोघरा महाकाव्यम्, प्रं. आगेटि परीक्षित शर्मा, शारदा गौरव ग्रन्थमाला, पुण्यपत्तनम्, 1976
11. रघुवंश, कालिदास, अनुवादक- डॉ. श्रीकृष्ण मणि त्रिपाठी, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, चतु. सं., 1990
12. रामचरितमानस, गीताप्रेस गोरखपुर, पैंतीसवा संस्करण, सम्वत् 2038
13. ललितविस्तर, सम्पादक- पी.एल. वैद्य, मिथिला विश्वविद्यालय, दरभंगा, 1958
14. सद्धर्मपुण्डरीक सूत्रम्, सम्पादक-पी.एल. वैद्य, मिथिला विद्यापीठ, दरभंगा, 1960
15. सौन्दरनन्द, अश्वघोष, अनुवादक-ई.एच. जॉहन्सटन, मोतीलाल बनारसी दास, दिल्ली, पुनर्मुद्रित, 1975
16. सरस्वती कण्ठाभरण, भोजदेव, अनुवादक- डॉ. कामेश्वर नाथ मिश्र, चौखम्बा ओरियन्टल, बनारस, 1976
17. श्रीमद्भगवद्गीता, गीता प्रेस, गोरखपुर, सत्रहवाँ संस्करण, संवत्, 2048

पालि ग्रन्थ :

1. अंगुत्तर निकाय, सम्पादक-भिक्षु जगदीश काश्यप, नालन्दा संस्करण, 1960
2. इतिवुत्तक, सम्पादक- एन.के. भगवत्, बम्बई विश्वविद्यालय संस्करण, 1962
3. उदान, सम्पादक- भिक्षु जगदीश काश्यप, नालन्दा संस्करण, 1959
4. खुद्दक पाठ, सम्पादक-भिक्षु जगदीश काश्यप, नालन्दा संस्करण, 1959
5. चुल्लवग्ग, सम्पादक- भिक्षु जगदीश काश्यप, नालन्दा संस्करण, 1956
6. जातक माला, आर्यशूर, अनुवादक- सूर्यनारायण चौधरी, मोतीलाल बनारसीदास, द्वितीय संस्करण, 1971
7. थेरगाथा, सम्पादक- भिक्षु जगदीश काश्यप, नालन्दा संस्करण, 1959
8. थेरीगाथा, सम्पादक-भिक्षु जगदीश काश्यप, नालन्दा संस्करण, 1959
9. दीघनिकाय, सम्पादक-भिक्षु जगदीश काश्यप, नालन्दा संस्करण, 1958
10. धम्मपद, अनुवादक- भिक्षु धर्मरक्षित, मोतीलाल बनारसीदास, द्वितीय संस्करण, 1977
11. पालि महाव्याकरण, सम्पादक- भिक्षु जगदीश काश्यप, मोतीलाल बनारसीदास, द्वितीय संस्करण, 1963
12. मज्झिमनिकाय, सम्पादक-भिक्षु जगदीश काश्यप, नालन्दा संस्करण, 1958
13. मिलिन्द प्रश्न, संस्कृत छाया सहित, जगन्नाथ पाठक, मोतीलाल बनारसीदास
14. महावग्ग, सम्पादक- भिक्षु जगदीश काश्यप, नालन्दा संस्करण, 1956
15. विसुद्धिमग्ग, वाराणसी संस्कृत विश्वविद्यालय, प्रथम संस्करण, 1969
16. लंकावतार सूत्रम्, सम्पादक- पी.एल. वैद्य, मिथिला विश्वविद्यालय, दरभंगा, 1958
17. सुत्तनिपात, अनुवादक-भिक्षु धर्मरक्षित, मोतीलाल बनारसीदास, प्रथम संस्करण, 1977

हिन्दी ग्रन्थ :

1. आचार्य बुद्धघोष और उनकी अट्ठकथाएँ, शिवचरणलाल जैन, अल्पना प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1969
2. कबीर साखी संग्रह, कबीरदास, विश्वविद्यालय, प्रकाशन, वाराणसी
3. तीर्थंकर बुद्ध और अवतार, रमेशचन्द्र गुप्त, वाराणसी, 1988
4. पालि साहित्य का इतिहास, भिक्षु धर्मरक्षित, ज्ञान मण्डल लिमिटेड, वाराणसी, प्रथम संस्करण, 1971

5. पालि साहित्य का इतिहास, राहुल सांकृत्यायन, उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, तृतीय संस्करण, 1992
6. पालि साहित्य का इतिहास, भरतसिंह उपाध्याय, सस्ता साहित्य मण्डल प्रकाशन, नई दिल्ली, द्वितीय संस्करण, 1986
7. बुद्ध और बौद्ध शासक, भरतसिंह उपाध्याय, सस्ता साहित्य मण्डल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1950
8. बुद्धकथा, रघुनाथ सिंह, हिन्दी प्रचारक संस्थान, वाराणसी, प्रथम संस्करण, 1969
9. बुद्धचरित (काव्य), रामचन्द्र शुक्ल, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, द्वितीय संस्करण, सम्वत्, 2014
10. बौद्ध दर्शन, राहुल सांकृत्यायन, किताब महल, इलाहाबाद, 1980
11. बौद्ध दर्शन, बलदेव उपाध्याय, शारदा मन्दिर, वाराणसी, 1946
12. बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास, गोविन्द चन्द्र पाण्डेय, हिन्दी समिति सूचना विभाग, लखनऊ, द्वितीय संस्करण, 1976
13. बौद्ध धर्म दर्शन, आचार्य नरेन्द्रदेव, बिहार राष्ट्र भाषा परिषद, पटना, 1956
14. बौद्ध धर्म दर्शन तथा साहित्य, भिक्षु धर्मरक्षित, वाराणसी, 1968
15. बौद्ध न्याय, टी.एच. शेरबात्स्की, अनुवादक- डॉ. रामकुमार राय, चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी, प्रथम संस्करण, भाग-1, 1969
16. बौद्ध संस्कृति, भागचन्द्र जैन, आलोक प्रकाशन, नागपुर
17. बोधिवृक्ष की छाया में, भरत सिंह उपाध्याय, सस्ता साहित्य मण्डल प्रकाशन, नई दिल्ली, द्वितीय संस्करण, 1986
18. भारतीय दर्शन की रूपरेखा, एम. हिरियन्ना, हिन्दी अनुवादक- डॉ. गोवर्धन भट्ट, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1965
19. मध्यकालीन हिन्दी साहित्य पर बौद्ध धर्म का प्रभाव, श्रीमती सरलादेवी त्रिगुणायत, साहित्य निकेतन, कानपुर, प्रथम संस्करण, 1963
20. महायान, भदन्त शान्ति भिक्षु शास्त्री, शान्ति निकेतन, बंगाल, 1952
21. यशोधरा, मैथिलीशरण गुप्त, साहित्य सदन चिरगाँव, झाँसी, उ.प्र.,

अंग्रेजी ग्रन्थ :

1. A History of Indian Philosophy, Surender Nath Das Gupta, Volume-1, Cambridge, 1922.
2. A Study of Mahavastu, B.C. Law, Bharatiya Publishing House, Delhi, 1978.
3. Buddhist Studies in India, Ramchandra Pandeya, Motilal Banarasidas, First Edition, 1975.
4. The Light of Asia, Sir Edwin Arnold, the Theosophical Publishing House, Adyar, Madras, IInd Edition, 1974.
5. The Message of the Buddha, K.N. Jayatille Ke, New York, 1975

कोश ग्रन्थ एवं शोध पत्र-पत्रिकाएँ आदि :

1. ऑल इण्डिया ओरियन्टल कान्फ्रेंस बडौदरा, अक्टूबर, 1998
2. इबोल्यूशन ऑफ बुद्धिस्ट थॉट्स टूवार्ड इन्टीग्रेशन, इन्टरनेशनल बुद्धिस्ट कान्फ्रेंस, बोध, गया, 1992
3. धर्मदूत, भारतीय महाबोधि सभा, सारनाथ, 1996
4. डिक्शनरी ऑफ पालि प्रॉपर नेम्स, जी.पी. मलालशेखर, पब्लिशड फॉर दि पालि, टेक्स्ट सोसाइटी फ्रॉम लन्दन, 1986
5. बौद्ध एवं अन्य भारतीय योग साधना (परिसंवाद), प्रोफेसर रामशंकर त्रिपाठी, संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, 1981
6. पं. सुरतिनारायण मणि त्रिपाठी, अभिनन्दन ग्रन्थ, 1965
7. बौद्ध साधना का विकास (निबन्ध) वाराणसी संस्कृत विश्वविद्यालय, 1971
8. बौद्ध समाज दर्शन (निबन्ध) केन्द्रीय तिब्बती उच्च शिक्षा संस्थान, वाराणसी, 1972
9. स्टडीज इन इन्डोलॉजी, वाल्यूम-प्रथम, डॉ. उमेश मिश्र मेमोरियल वाल्यूम समिति, इलाहाबाद, 1965
10. संस्कृत स्मारिका, भाषा, कला एवं संस्कृति विभाग, हिमाचल प्रदेश, शिमला, मार्च, 1979
11. संस्कृत-हिन्दी-कोश, वामन शिवराम आप्टे, नाग प्रकाशक, दिल्ली, 1988